दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह

महात्मा गांधी

अनुवादक
श्री [illegible]

सर्वोदय-साहित्य-माला १८वां ग्रंथ

सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

शाखायें—दिल्ली : लखनऊ : इन्दौर : नागपुर : कलकत्ता

सितंबर १९२५ ३०००
जुलाई १९२९ २०००
अगस्त १९४१ १०००

मूल्य
डेढ़ रुपया

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

मुद्रक
श्री सेवाराम चावला
चंद्र प्रिंटिंग प्रेस
दिल्ली

विषय-सूची

—पूर्वार्द्ध—

—उत्तरार्द्ध—

दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह

[पूर्वार्ध]

प्रास्ताविक

दक्षिण अफ्रीका में हिन्दुस्तानियों का सत्याग्रह-संग्राम आठ साल तक चला। उसी संग्राम में 'सत्याग्रह' शब्द का आविष्कार हुआ और प्रयोग किया गया। बहुत समय से मैं यह बात सोच रहा था कि इस संग्राम का इतिहास लिखूँ। उसका कितना ही अंश केवल मैं ही लिख सकता हूँ। कौन-सी बात किस हेतु से की गयी, यह तो युद्ध का संचालक ही जान सकता है। राजनैतिक क्षेत्र में बड़े पैमाने पर पहली ही बार यह प्रयोग किया गया था। इसलिए उस सत्याग्रह के सिद्धान्त के विकास का ज्ञान लोगों को होना हर हालत में आवश्यक है।

परन्तु इस बार तो हिन्दुस्तान सत्याग्रह का विशाल क्षेत्र बना है। विरमगाम† वाली चुंगी की एक छोटी-सी लड़ाई के द्वारा उसका अनिवार्य क्रम शुरू हुआ है।

विरमगामवाले चुंगी के संग्राम का निमित्त कारण वढ़वाण† का परोपकारी दरजी मोतीलाल था। मैं विलायत से लौट कर १९१५ में काठियावाड़ जा रहा था। तीसरे दरजे में बैठा था।

---

† विरमगाम अहमदाबाद से ४० मील पश्चिम और वढवाण विरमगाम से चालीस मील पश्चिम है।

वढवाण स्टेशन पर यह दरजी एक छोटी-सी जमात लेकर आया था। उसने विरमगाम की कुछ बातें सुनाकर मुझसे कहा कि इस मुसीबत का कुछ इलाज कीजिए। काठियावाड़ में आपने जन्म लिया है, उसे सफल कीजिए। उसकी आँखों में दृढ़ता और करुणा दोनों थीं। मैंने पूछा—'आप जेल जाने को तैयार हैं?' तुरन्त उत्तर मिला—'हम तो फाँसी चढ़ने तक को तैयार हैं।' मैंने कहा—'मुझे जेल ही काफी है। पर देखना, विश्वासघात न हो।' मोतीलाल ने कहा—'यह तो अनुभव से मालूम हो जायगा।' मैं राजकोट पहुँचा। अधिक ब्यौरा जाना। सरकार के साथ लिखा-पढ़ी शुरू की बगसरा† आदि के व्याख्यानों में कहा कि यदि चुंगी के लिए जरूरत पड़े, तो सत्याग्रह करने के लिए तैयार रहना। यह व्याख्यान सरकार की खुफिया पुलिस ने सरकार के दफ्तर में पहुँचाया। पहुँचानेवाले ने सरकार की सेवा के साथ ही साथ, अनजान में, देश की भी सेवा की। अन्त में लॉर्ड चेम्सफर्ड के साथ उसके विषय में बातचीत हुई और उन्होंने अपने वचन का पालन किया। हाँ, मैं जानता हूँ कि औरों को भी इसके लिए प्रयास करना पड़ा है। परन्तु मेरा यह निश्चित मत है कि सत्याग्रह होने की संभावना ही चुंगी के रद्द होने का कारण थी।

इसके बाद गिरमिटिया कानून की बारी आयी। इस कानून को रद्द कराने के लिए बहुत प्रयत्न किये गये थे। उसके लिए आम तौर पर आन्दोलन भी खूब किया गया था। बंबई में सभा हुई और उसमें गिरमिट बन्द करने की तारीख ३१ जुलाई १९१७ तय की गयी थी। वह तारीख क्यों मुकर्रर हुई, इसका इतिहास यहाँ नहीं दिया जा सकता। उस आन्दोलन के सिलसिले में वाइसराय के पास पहले बहनों का एक शिष्ट-मंडल गया। उसमें

† काठियावाड़ का एक मुकाम

प्रयत्न किसका था, इसका उल्लेख किये बिना नहीं रहा जा सकता। चिरस्मरणीय बहन जायजी पेटिट की यह कोशिश थी। इस लड़ाई में भी केवल सत्याग्रह की तैयारी से विजय प्राप्त हुई। परन्तु यह फर्क याद रखने लायक है कि उसके सम्बन्ध में लोगों की ओर से हलचल करने की जरूरत थी। गिरमिट-प्रथा की बन्दी विरमगाम की चुंगी से अधिक महत्त्वपूर्ण है। रौलट एक्ट के बाद लॉर्ड चेम्सफर्ड ने भूलें करने में कसर नहीं की। तो भी मेरा अभी तक यह ख़याल है कि वे एक समझदार वाइसराय थे। सिविल सर्विस के स्थायी हाकिमों के पंजे से अन्त तक कौन वायसराय बच सकता है ?

तीसरी लड़ाई थी चम्पारन की। उसका सविस्तर इतिहास राजेन्द्रबाबू ने लिखा है। इसमें सत्याग्रह करना पड़ा था। केवल तैयारी काफी नहीं थी। परंतु प्रतिपक्षियों का स्वार्थ उसमें कितना था! चंपारन में लोगों ने जो शान्ति कायम रखी, यह बात उल्लेखनीय है। तमाम नेताओं ने तन, मन और वचन से पूर्ण शान्ति का पालन किया था। मैं खुद इसका साक्षी हूँ। इसीसे वह सदियों की बुराई छः महीने में दूर हो गयी।

चौथी लड़ाई थी अहमदाबाद के मिल-मजदूरों की। उसका इतिहास तो गुजरात को अच्छी तरह मालूम है। मजदूरों ने कैसी शान्ति रखी थी! और नेताओं की शांति के विषय में तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं। इस विजय को मैं दोषपूर्ण मानता हूँ, क्योंकि मजदूरों की टेक रखने के लिए मैंने जो उप-वास किया था उससे मिल-मालिकों पर दबाव पड़ा था। मेरे और उनके बीच जो स्नेह-भाव था, उससे उनपर मेरे उपवास का असर पड़े बिना नहीं रह सकता था। यह होते हुए भी लड़ाई का सार तो स्पष्ट है। मजदूर यदि शान्ति पर दृढ़ रहें, तो उनकी

जीत हुए बिना नहीं रह सकती और वे मालिकों का मन वश में कर सकते हैं। पर वे मालिकों का मन वश में न कर सके, क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि मजदूर लोग मन, वचन, कर्म से निर्दोष अर्थात् शान्त रहे। वे काया के द्वारा ही शान्त रहे, यह भी बहुत है।

पाँचवीं लड़ाई खेड़ा में हुई। मैं नहीं कह सकता कि इसमें तमाम नेताओं ने पूरी तरह सत्य की रक्षा की। हाँ, शान्ति की रक्षा अवश्य हुई। प्रजाजनों की शांति, मजदूरों की तरह, केवल कायिक ही थी। इससे अकेले मान की रक्षा हुई। लोगों में बड़ी जाग्रति फैली। परन्तु खेड़ा ने शांति का पूरा पाठ नहीं पढ़ा था। मजदूर शांति का शुद्ध स्वरूप नहीं समझ पाये थे। इससे रौलट एक्ट के सत्याग्रह के समय लोगों को कष्ट सहन करना पड़ा। मुझे अपनी हिमालय के बराबर भूल कुबूल करनी पड़ी और उपवास करने और कराने पड़े।

छठी लड़ाई रौलट कानूनवाली थी। उसमें वे सब बुराइयाँ जो हमारे अन्दर थीं बाहर उभड़ उठीं। पर बुनियाद पक्की थी। अपने तमाम दोष हमने स्वीकार किये और प्रायश्चित्त किया। रौलट कानून का अमल कभी न हो पाया और अन्त को वह काला कानून रद्द भी हो गया। इस संग्राम ने हमें भारी पाठ पढ़ाया।

सातवाँ है खिलाफत, पंजाब और स्वराज्यका युद्ध। वह अभी चल रहा है। उसमें यदि एक भी सत्याग्रही साबित-कदम रहे तो विजय निश्चित है। मेरा यह विश्वास ज्यों-का-त्यों अडिग है।

परन्तु वर्तमान युद्ध महाभारत है। उसकी तैयारी अनिच्छा-पूर्वक किस प्रकार हुई, इसका क्रम मैं ऊपर दे चुका हूँ। विरम-गाम की चुङ्गी के समय मुझे क्या पता था कि दूसरी लड़ाइयाँ

लड़नी पड़ेंगी ? दक्षिण अफ्रीका में भी मुझे विरमगाम की क्या खबर थी ? सत्याग्रह की यही खूबी है। वह खुद हमारे पास चला आता है। उसे हमें खोजने नहीं जाना पड़ता। यह गुण उसके सिद्धान्त में ही समाया हुआ है। जिसमें कोई बात छिपायी नहीं जाती, किसी तरह की चालाकी नहीं रहती और जिसमें असत्य की तो गुञ्जायश ही नहीं, ऐसा धर्म-युद्ध अनायास ही आता है और धर्मनिष्ठ मनुष्य उसके स्वागत के लिए हमेशा तैयार रहता है। पहले से जिसकी रचना करनी पड़े वह धर्म-युद्ध नहीं। उसकी रचना और संचालन करनेवाला तो ईश्वर है। वह युद्ध ईश्वर के ही नाम पर चल सकता है और जब सत्याग्रही की बुनियाद ढहने लगती है, वह बिलकुल निर्बल हो जाता है, चारों ओर अँधेरा छा जाता है, तभी ईश्वर उसकी सहायता करता है। मनुष्य जब अपने को एक रजकण से भी छोटा मानता है, तब ईश्वर उसकी मदद करता है। निर्बल को ही राम बल देता है।

इस सत्य का अनुभव हमें अभी होना बाकी है। इससे मेरा खयाल है कि दक्षिण अफ्रीका का इतिहास हमें सहायक हो सकता है।

इस वर्तमान संग्राम में हमको अबतक जो-जो अनुभव हुए हैं वही अनुभव, पाठक देखेंगे कि, दक्षिण अफ्रीका में हुए थे। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास हमें यह भी बतावेगा कि अबतक हमें इस युद्ध में निराश होने का एक भी कारण नहीं है। विजय के लिए हमें सिर्फ इसी बात की जरूरत है कि हम अपनी योजना पर दृढता के साथ अटल रहें।

इस प्रस्तावना को मैं जुहू में बैठा हुआ लिख रहा हूँ। इतिहास के ३० अध्याय यरवदा जेल में लिखे थे। मैं बोलता गया

और श्री इन्दुलाल याज्ञिक लिखते गये। शेष अब फिर लिखना शुरू करता हूँ। जेल में मेरे पास आधार के लिए पुस्तकें नहीं थीं। यहाँ भी मै उन्हे मँगाना नहीं चाहता। सविस्तर इतिहास लिखने की न तो मुझे फुरसत है, न उत्साह, न इच्छा। यह केवल इसी उद्देश से लिख रहा हूँ कि वर्तमान युद्ध में वह सहायक हो और यदि किसी फुरसतवाले साहित्य-विलासी के हाथों किसी दिन सविस्तर इतिहास लिखा जायें तो उनके कार्य में मेरा यह प्रयत्न पतवार-रूप हो सके। यद्यपि यह विना आधार के लिखा गया है तथापि इससे किसी को यह न समझना चाहिए कि इसकी कोई बात ठीक नहीं है अथवा किसी जगह अतिशयोक्ति हुई है।

जुहू, बुधवार
फाल्गुन वदी १३, संवत् १९८०,
२ अप्रैल, १९२४

मोहनदास करमचन्द गांधी

(१)

भूगोल

अफ्रीका दुनिया का एक बड़े से बड़ा भू-खण्ड है। हिन्दुस्तान भी एक भू-खण्ड के बराबर देश माना जाता है, पर केवल रकवे के लिहाज से अफ्रीका मे चार-पाँच हिन्दुस्तान समा सकते हैं। अफ्रीका के बिल्कुल दक्षिणी हिस्से को दक्षिण अफ्रीका कहते हैं। हिन्दुस्तान की तरह अफ्रीका भी प्राय-द्वीप है। अर्थात् दक्षिण अफ्रीका का एक बड़ा भाग समुद्र से घिरा हुआ है। अफ्रीका के सम्बन्ध में आम तौर पर ऐसा माना जाता है कि वहाँ सबसे ज्यादा गरमी पड़ती है और एक तरह से यह बात सच है भी। भूमध्यरेखा अफ्रीका के बीच से निकलती है। इस रेखा के आस-पास की गरमी का खयाल हिन्दुस्तान के रहनेवालों को नहीं हो सकता। हिन्दुस्तान के ठेठ दक्षिण में जिस गरमी का अनुभव हम करते हैं, उससे भूमध्यरेखा की गरमी का थोड़ा-बहुत अन्दाज लग सकता है। परन्तु दक्षिण अफ्रीका में वह गरमी नहीं, क्योंकि यह भाग भूमध्यरेखा से बहुत दूर है। वहाँ के कितने ही भागों की आबहवा तो इतनी बढ़िया है और ऐसी सम-शीतोष्ण है कि वहाँ योरपीय जातियाँ खुशी से घर बनाकर रह सकती हैं। हिन्दुस्तान में यह उनके

लिए प्रायः असम्भव है। फिर दक्षिण अफ्रीका में तिब्बत अथवा काश्मीर की तरह बड़े ऊँचे प्रदेश हैं। वे तिब्बत अथवा काश्मीर की तरह दस से चौदह हजार फीट ऊँचे नहीं। इससे वहाँ की हवा सूखी और बरदाश्त होने लायक ठण्डी होती है; और इसी से दक्षिण अफ्रीका का बहुत-सा हिस्सा क्षय के रोगियों के लिए अत्युत्तम माना जाता है। ऐसा एक हिस्सा है जोहान्सबर्ग दक्षिण अफ्रीका की सुवर्णपुरी। जिस जमीनके टुकड़े पर जोहान्सबर्ग बसा हुआ है, वह आज से ५० साल पहले बिलकुल वीरान था—सूखी घास खड़ी रहती थी। पर जब वहाँ सोने की खानों का आविष्कार हुआ, तब वहाँ जादू के समान देखते-देखते घर बनने लगे और आज तो वहाँ विशाल सुशोभित बँगले बने हुए हैं। वहाँ के धनी लोगों ने, अपने खर्चे से, दक्षिण अफ्रीका के उपजाऊ स्थानों से तथा यूरोप से भी एक-एक पौधे के पन्द्रह-पन्द्रह रुपये देकर मँगाये और वहाँ लगाये हैं। इस पिछले इतिहास के न जाननेवाले यात्रियों को तो आज ऐसा दिखायी देगा मानों ये पेड़ वहाँ कई जमानों से लगे हुए हैं।

दक्षिण अफ्रीका के तमाम विभागों का वर्णन मैं यहाँ नहीं करना चाहता। मैं तो सिर्फ उन्हीं विभागों का वर्णन करूँगा जो हमारे विषय से सम्बन्ध रखते हैं। दक्षिण अफ्रीका में दो हुकूमतें हैं—(१) अंग्रेजी और (२) पोर्चुगीज। पोर्चुगीज भाग को डेलागोआबे कहते हैं और हिन्दुस्तान से जाते समय दक्षिण अफ्रीका का वह पहला बन्दर है। वहाँ से नीचे आने पर पहली ब्रिटिश रियासत नेटाल आती है। उसके बन्दर को पोर्ट नेटाल कहते हैं। पर हम उसे डर्बन के नाम से पहचानते हैं। दक्षिण अफ्रीका में भी वह आम तौर पर इसी नाम से प्रसिद्ध है। नेटाल का यह सबसे बड़ा शहर है। नेटाल की राजधानी का नाम है पीटर

मारित्सवर्ग। वह डर्बन से आगे अन्दर कोई ६०मील दूर है। वह समुद्र से कोई दो हजार फीट को ऊँचाई पर बसा है। डर्बन की आव-हवा बम्बई से कुछ-कुछ मिलती है। पर बम्बई से वहाँ की हवा कुछ ठंडी जरूर है। नेटाल से आगे और अन्दर बढ़ने पर ट्रान्सवाल आता है। वहाँ की धरती आज संसार को सबसे ज्यादा सोना दे रही है। वहाँ कुछ साल पहले हीरे की भी खानें निकली थीं। उनसे पृथ्वी का सबसे बड़ा हीरा निकला था। वह कोहनूर से बड़ा समझा जाता है जो रूस के पास है। उसका नाम खान के मालिक के नाम पर रक्खा गया है और वह क्लीनन हीरा कहलाता है।

परन्तु जोहान्सवर्ग के सुवर्णपुरी होते हुए तथा हीरे की खानें भी उसके नजदीक होते हुए वह ट्रांसवाल की राजधानी नहीं है। ट्रान्सवाल की राजधानी पिटोरिया है, वह जोहान्सवर्ग से ३६ मील दूर है। वहाँ खासकर राजदरबारी आदमी तथा उनसे सम्बन्ध रखनेवाले लोग रहते हैं। इससे यहाँ के वायु-मण्डल को शान्तिपूर्ण कह सकते हैं। पर जोहान्सवर्ग का वायुमण्डल बहुत अशान्त है। जिस प्रकार हिन्दुस्तान के किसी शान्तिपूर्ण देहात से अथवा छोटे-से शहर से बम्बई पहुँचने पर वहाँ के धूम-धड़ाके और अशान्ति से हमारा जो घबड़ा उठता है, इसी प्रकार प्रिटोरिया से जानेवालों को जोहान्सवर्ग का दृश्य मालूम होता है। यदि यह कहें तो अत्युक्ति न होगी कि जोहान्सवर्ग के लोग चलते नहीं बल्कि दौड़ते हैं। किसीको किसीकी तरफ देखने भर की फुरसत नहीं रहती, और सब लोग इस फिराक मे डूबे रहते हैं कि थोड़े-से-थोड़े समय में अधिक-से-अधिक धन किस तरह कमा लें। ट्रान्सवाल को छोड़कर और भी अन्दर पश्चिम में यदि हम जायें तो आरेंज फ्री स्टेट अथवा आरेंजिया

रियासत आती है। इसकी राजधानी ब्लूमफौंटीन है। यह अत्यन्त शान्त और छोटा-सा शहर है। ऑरेंजिया में खानें-वाने कुछ नहीं है। वहाँ से कुछ घण्टे रेल-यात्रा करके हम केप कालोनी की सरहद पर पहुँच जाते हैं। केप कालोनी वहाँ सबसे बड़ा राज्य है। इसकी राजधानी और सबसे बड़े शहर का नाम केपटाउन है। यहीं केप ऑफ गुड होप नाम का अन्तरीप है। 'गुडहोप' के मानी हैं शुभ आशा। वास्को-डि-गामा जब पुर्तगाल से भारत की खोज में निकला, तब उसने यहाँ आकर आराम उठाया और यहाँसे उसे आशा बँधी कि अब अवश्य अपनी मुराद पूरी होगी। इसी से उसने इस स्थान का नाम रक्खा—शुभ आशा का अन्तरीप। इन चार अंग्रेजी रियासतों के अलावा ब्रिटिश सल्तनत की रक्षा के अधीन बहुतेरा प्रदेश है, जहाँ दक्षिण अफ्रीका में यूरोपियनों के आगमन के पहले के बाशिन्दे रहते हैं।

दक्षिण अफ्रीका का मुख्य पेशा खेती है। खेती के लिए यह देश उत्तम है। कितने ही भाग तो अत्यन्त उपजाऊ और सुहावने हैं। मकई वहाँ बहुत और आसानी से पैदा होती है। मकई दक्षिण अफ्रीका के हबशियों का प्रधान भोजन है। कितनी ही जगह गेहूँ भी पैदा होता है। फलों के विषय में तो दक्षिण अफ्रीका मशहूर है। नेटाल में बीसों किस्मों के और बड़े बढ़िया केले, पपीते और अनन्नास पकते हैं और सो भी इतनी तादाद में कि गरीब-से-गरीब आदमी उन्हें खा सकता है। नेटाल तथा दूसरी रियासतों में नारंगी, संतरे, 'पीच' और 'एप्रिकाट' (जर्दालू) की तो इतनी इफरात है कि हजारों आदमियों को वे बिना किसी विशेष कष्ट के देहात में मुफ्त मिल सकते हैं। केप कालोनी तो अंगूर और बड़े बेर की भूमि है। वहाँ-जैसा अंगूर शायद ही दूसरी जगह फलता हो। मौसम पर वे वहाँ इतने सस्ते

हो जाते हैं कि एक गरीब आदमी भी पेट भर खा सके। यह नहीं हो सकता कि जहाँ हिन्दुस्तानी रहते हों वहाँ आम के पेड़ न हों, हिन्दुस्तानियों ने आम की गुठलियाँ लगायीं। इससे वहाँ आम भी अच्छी तादाद में मिल सकते हैं। कुछ किस्म के आम तो बम्बई के 'हापुस पायरी' का जरूर मुकाबला कर सकते हैं। साग-तरकारी भी इस रसीली भूमि में पैदा होती हैं, और शौकीन हिन्दुस्तानियों ने तो हिन्दुस्तान की लगभग हर किस्म की साग-तरकारी वहाँ तैयार कर रखी हैं।

मवेशियों की तादाद भी खूब है। गाय-बैल हिन्दुस्तान के गाय-बैल से ज्यादा ऊँचे-पूरे मोटे-ताजे और बलवान् होते हैं। गोरक्षा का दावा करनेवाले हिन्दुस्तान में अनेक गायों-बैलों को हिन्दुस्तान के लोगों की तरह दुबला-पतला देखकर मुझे बड़ी शर्म मालूम होती रहती है और अनेक बार मेरा हृदय रोया है। मुझे याद नहीं पड़ता कि दक्षिण-अफ्रीका में दुबली गाय या बैल मैंने देखे हों; हालाँ कि मैं प्राय: अपनी आँखें खोलकर सारे देश में घूमा हूँ। कुदरत ने अपनी अन्य देनों के साथ इस भूमि को सृष्टि-सौन्दर्य से सजाने में कोई कसर नहीं रखी है। डरबन का दृश्य बड़ा ही सुन्दर माना जाता है, परन्तु केप अन्तरीप की वस्तु वस्ती उससे भी बढ़ जाती है। केप टाउन 'टेबुल माउंटेन' नाम के एक पहाड़ की तलहटी पर बसा हुआ है, न बहुत ऊँचा न बहुत नीचा। एक विदुषी ने जो दक्षिण अफ्रीका की भक्त हैं, इस पहाड़ पर एक कविता लिखी है। उसमें वह कहती है कि जो अलौकिकता मैंने 'टेबुल माउंटेन' में अनुभव की है वह किसी पहाड़ में नहीं। इसमें चाहे अत्युक्ति हो—मेरी राय में अत्युक्ति है, पर इसकी एक बात मुझे जँच गयी। वह कहती है कि 'टेबुल माउन्टेन' केपटाउन के निवासियों के मित्र का काम देता है। यह

बहुत ऊँचा नहीं है जिससे डरावना नहीं मालूम होता। लोगों को दूर ही से उसका पूजन करके नहीं रह जाना पड़ता। वे तो उस पहाड़ में ही अपना घर बनाकर रहते हैं। वह बिल्कुल समुद्र के किनारे है। समुद्र अपने निर्मल जल से उसको पाद पूजा करता है और उसका चरणामृत पीता है। क्या बालक, क्या बूढ़े और क्या स्त्रियाँ सब निडर होकर तमाम पहाड़ में घूम-फिर सकते हैं और हजारों शहरवासियों के कोलाहल से सारा पहाड़ रोज गूँज उठता है। विशाल वृक्ष, सुगन्धित और रंग-बिरंगे पुष्प सारे पहाड़ को इस तरह सजाते हैं कि देखकर, घूमकर लोग अघाते ही नहीं।

दक्षिण अफ्रीका में ऐसी बड़ी नदियाँ नहीं हैं जिनकी तुलना गङ्गा-यमुना के साथ की जा सके। कुछ हैं, पर वे छोटी हैं। इस देश में कितनी ही जमीन ऐसी है जहाँ नदी का पानी पहुँचना ही नहीं। ऊँचे प्रदेशों में नहरें भी कैसे कट सकती हैं? जहाँ समुद्र जैसी नदियाँ न हों, वहाँ नहरें कहाँ से हो सकती हैं? दक्षिण-अफ्रीका में कुदरत ने जहाँ-जहाँ पानी की तंगी कर रखी है वहाँ पाताल-जैसे गहरे कुएँ खोदे गये हैं और हवा-चक्की तथा भाप-यन्त्रों के द्वारा पानी खींचकर सिंचाई की जाती है। खेती के लिए वहाँकी सरकार की तरफ से बहुत मदद मिलती है। किसानों को सलाह-मशवरा देने के लिए सरकार खेती के विशेषज्ञों को भेजती है। कितनी ही जगह सरकार प्रजा के लिए खेती के अनेक प्रयोग करती है, नमूने के खेत तैयार करती है, लोगों को मवेशियों और बीज की सुविधा कर देती है—बहुत कम दाम पर पाताल-जैसे गहरे कुओं की मिट्टी वगैरा निकलवा देती है और उसका खर्च किस्तों के द्वारा लेने की सहूलियत उन्हें कर देती है। इस प्रकार खेतों के आस-पास लोहे के काँटेदार तार लगवा देती है।

दक्षिण अफ्रीका भूमध्य-रेखा से दक्षिण की ओर है, हिन्दुस्तान उत्तर की ओर। इससे वहाँका सारा वायु-मण्डल हिन्दुस्तानियों को अटपटा मालूम होता है। वहाँकी ऋतुयें भी अटपटी हैं। जब हमारे यहाँ गरमी की ऋतु होती है, तब वहाँ जाड़े की ऋतु होती है। बरसात का कोई खास नियम नहीं। जब चाहे तभी आ जाती है। आम तौर पर बरसात २० इंच से ज्यादा नहीं होती।

(२)

इतिहास

अफ्रीका के भूगोल पर दृष्टि डालते हुए जिन विभागों को हमने देखा उन्हें आदिम विभाग न समझें। ठेठ पुरातन काल में वहाँ किन लोगों की आबादी थी, यह ठीक-ठीक निश्चित नहीं हो पाया है। जब यूरोप के लोग दक्षिण-अफ्रीका में आबाद हुए तब वहाँ हबशी लोग रहते थे। यह माना जाता है कि जब अमरीका में गुलामी-प्रथा का जोर-शोर था, तब वहाँसे कितने ही हबशी भाग-भागकर दक्षिण-अफ्रीका में आ बसे थे। उनकी जुदी-जुदी जातियाँ होती हैं जैसे जुलू, स्वाजी, बसूटो, बेकवाना आदि। उनको भाषा में भी फर्क होता है। इन हबशियों को दक्षिण अफ्रीका के आदिम निवासी कह सकते हैं। परन्तु दक्षिण अफ्रीका इतना बड़ा देश है कि जितनी आबादी अभी हबशियों की वहाँ है, उसके २०-३० गुने लोग खुशी से समा सकते हैं। डर्बन से केप टाउन रेल के रास्ते कोई १,८०० मील की यात्रा करनी पड़ती है। समुद्र के रास्ते १००० मील से कम फासला नहीं है। इन चार रियासतों का क्षेत्रफल ४,७३,००० वर्गमील है।

इस विशाल प्रदेश में हबशियों की आबादी १९१४ ई० में कोई ५० लाख थी और गोरों की कोई १२ लाख। हबशियों

में जुलू सबसे ज्यादा ऊँचा-पूरा और खूबसूरत माना जा सकता है। खूबसूरत विशेषण का प्रयोग मैंने जानबूझ कर किया है। हम लोग गोरे चमड़े और तीखी नाक पर खूबसूरती का आरोप करते हैं। इस वहम को जरा देर के लिए ताक पर रख दें, तो हमें यह न प्रतीत हो कि जुलू की सृष्टि करके ब्रह्मा ने किसी बात में कमी रक्खी है। स्त्री-पुरुष दोनों ऊँचे होते है। और ऊँचाई के ही लिहाज से उनकी छाती विशाल होती है। सारे शरीर की रगें सुडौल और बहुत मजबूत होती हैं उनकी पिंडली और भुजायें मांसल और गोलाकार दिखायी देती हैं। स्त्री या पुरुष झुककर या कुब्बड़ निकालकर चलते हुए शायद ही दिखायी दें। हाँ, होंठ अलबत्ते बड़े और मोटे होते हैं। परन्तु सारे शरीर के आकार को देखते हुए मैं तो उन्हें जरा भी बे-डौल न कहूँगा। आँखें गोल और आबदार होती हैं। नाक चिपटी और मोटे मुँह को फबने लायक ही मोटी होती है। सिर के घुँघराले बाल शीशम-जसे काले और चमकीले बदन पर खिल उठते हैं। यदि हम किसी जुलू से पूछें कि दक्षिण अफ्रीका में रहनेवाली जातियों में तुम सबसे अधिक सुरूप किसे मानते हो तो वह अपनी ही जाति का नाम पेश करेगा और इससे मुझे उसका जरा भी अज्ञान नहीं दिखायी देता। यूरोप में सैंडो वगैरह जिन साधनों का प्रयोग अपने शागिर्दों के बाहु, छाती, इत्यादि अवयवों को सुदृढ़ बनाने के लिए करते हैं उनके प्रयोग के बिना ही कुदरती तौर पर इस जाति के अंग-प्रत्यंग गठीले और सुडौल दिखायी देते हैं। कुदरत का नियम है कि जो लोग भूमध्य-रेखा के नजदीक रहते हैं उनका चमड़ा काला ही होना चाहिए। और यदि हम यह मानें कि कुदरत जो-जो नमूने तैयार करती है उनमें सुन्दरता जरूर

होती है तो सौन्दर्य्य-सम्बन्धी अपने संकुचित और एकांगी विचार छोड़ दें। यही नहीं, बल्कि भारत में भी हमें अपने थोड़े से काले चमड़े पर जो अनुचित शर्म और ग्लानि मालूम होती है वह भी जाती रहे।

ये हबशी लोग घास-फूस के गोलाकार कुबों (झोपड़ों) में रहते हैं। इन कुबों के एक ही गोल दीवार होती है। और ऊपर फूस की साया। अन्दर एक खंभे पर फूस का आधार रहता है। उसमें एक ही दरवाजा होता है जिसमें झुककर जा सकते हैं। यही हवा के आने-जाने का साधन है। उसमें किवाड़ शायद ही होते हैं। हम लोगों की तरह वे भी दीवारों को और नीचे की जमीन को मिट्टी और गोबर से लीपते हैं। ऐसा माना जाता है कि ये लोग किसी चौकोन चीज को नहीं बना सकते। उन्होंने अपनी आँखों को केवल गोल चीजें ही देखने और बनाने का आदी बनाया है। कुदरत भूमिति की सीधी रेखायें, सीधी आकृतियाँ, बनाती हुई नहीं दिखायी देती। और कुदरत के इन निर्दोष बालकों का ज्ञान उनके कुदरत-सम्बन्धी अनुभव पर ही आधार रखता है।

उनके इस मिट्टी के महल में साज-सामान भी वैसा ही होता है। यूरोप के सुधारों का प्रवेश होने के पहले वे चमड़ा ओढ़ते, पहनते और बिछाते भी थे। मेज-कुर्सी सन्दूक इत्यादि रखने की जगह इन महलों में नहीं होती और बहुत-कुछ कह सकते हैं कि आज भी नहीं होती। अब वे कम्बल अधिकतर काम में लाते हैं। अंग्रेजी राज के आने के पहले स्त्री-पुरुष नंगे रहा करते थे। अब भी देहात में बहुतेरे लोग उसी तरह रहते हैं। गुप्त अङ्गों

को एक चमड़े से ढक लेते हैं कोई-कोई नहीं ढकते। पर कोई पाठक इसका यह अर्थ न करे कि वे अपनी इन्द्रियों को अपने अधीन नहीं रख सकते। जहाँ एक बड़ा समुदाय एक रूढ़ि के अनुसार चलता हो, वहाँ दूसरे समुदाय को भले ही वह रूढ़ि बेजा मालूम होती हो, पर यह बिल्कुल मुमकिन है कि पहले की दृष्टि में वह बुरी बात कतई न हो। इन हबशियों को इतनी फुरसत ही नहीं होती कि एक दूसरे की ओर ताका करें। भागवतकार कहते हैं कि शुकदेव जी जब नंगी नहाती स्त्रियों के बीच से होकर चले गये, तब उनके मन में जरा भी विकार उत्पन्न नहीं हुआ और न उन निर्दोष स्त्रियों ही के मन में क्षोभ हुआ और न कोई शर्म मालूम हुई। इसमें मुझे कोई बात अलौकिक नहीं मालूम होती। हिन्दुस्तान में आज ऐसे अवसर पर कोई भी इतनी निर्मलता अनुभव नहीं कर सकता। वह मनुष्य-जाति की पवित्रता की हद नहीं, बल्कि हमारे दुर्भाग्य का चिह्न है। हम जो इन्हें जंगली मानते हैं यह हमारे अभिमान की प्रतिध्वनि है। जैसा हम मानते हैं ऐसे जंगली वे नहीं हैं।

ये हबशी जब शहर में आते हैं, तब उनकी स्त्रियों के लिए ऐसा कानून है कि उन्हें छाती से लेकर घुटने तक शरीर ढँक लेना चाहिए। इसलिए उनको मजबूरन् एक कपड़ा लपेट लेना पड़ता है। इसके फल-स्वरूप दक्षिण-अफ्रीका में इस नाप के कपड़े की बहुत बिक्री होती है और ऐसे लाखों कंबल और चद्दरें हर साल यूरोप से आती हैं। पुरुषों के लिए कमर से घुटने तक बदन ढाँक रखना लाजिमी है। इससे इन्होंने तो यूरोप के बने हुए को पहनने की प्रथा शुरू कर दी है। जो

ऐसा नहीं करते वे नाड़ीदार चड्डियाँ पहनते हैं। तमाम कपड़े यूरोप ही से आते हैं।

इनका मुख्य आहार है मकई और जब मिल जाय तब मांस खुश-किस्मती से वे भी मसाले वगैरों से बिल्कुल अनजान हैं। इनके भोजन में यदि मसाला पड़ा हुआ हो या हलदी का रंग दिखायी दे तो नाक-भौंह सिकोड़ने लगेंगे। और जो बिल्कुल जंगली माने जाते हैं, वे तो उसे छुएँगे भी नहीं। एक सेर साबित उबाली हुई मकई को थोड़ा-थोड़ा नमक लगाकर खा जाना एक मामूली जुलू के लिए कोई बड़ी बात नहीं है। मकई के आटे को पानी में पकाकर खा लेने में सन्तोष मानते हैं। जब कभी मांस मिल जाता है तब कच्चा, या पका अथवा भूनकर नमक के साथ खा जाते हैं। किसी किस्म के भी प्राणी का माँस खाने में वे नहीं हिचकते।

उनकी भाषा का नाम भी जुलू है। लेखन-कला का प्रवेश वहाँ गोरों ने ही किया है। हबशियों की कोई वर्णमाला नहीं। हाल में रोमन लिपि में बाइबिल वगैरा हबशियों की भाषा में छापी गयी हैं। जुलू भाषा बड़ी ही मधुर है। बहुतेरे शब्द का उच्चारण आकारान्त होता है। इससे भाषा की ध्वनि कान को हलकी और मीठी लगती है। मैंने पढ़ा और सुना है कि उसके शब्दों में अर्थ और कवित्व दोनों होते हैं। जिन थोड़े शब्दों का ज्ञान मुझे अनायास हो गया है उससे मुझे भाषा-सम्बन्धी पूर्वोक्त सब ठीक मालूम होता है। शहरों आदि के जो नाम मैंने पहले दिये हैं वे युरोपियन लोगों के बनाये हुए हैं। उन सब के काव्य-मय हबशी नाम भी हैं। वे मुझे याद नहीं रहे। इससे यहाँ न दे सका।

हबशियों का धर्म ईसाई पादरियो के मत के अनुसार कुछ नहीं था और न है। पर धर्म का व्यापक अर्थ लें तो कह सकते हैं कि वे एक ऐसी अलौकिक शक्ति को जरूर मानते हैं, जिसे वे पहचान नही सकते, और उसकी पूजा करते हैं। वे उस शक्ति से डरते भी हैं। उन्हे यह भी धुँधले तौर पर जान पड़ता है कि शरीर के नाश के साथ मनुष्य सर्वथा नष्ट नहीं हो जाता। यदि नीति को हम धर्म की बुनियाद मानें तो वे नीति के कायल हैं और इसलिए हम उन्हें धर्मवान् भी कह सकते हैं। सच और झूठ का उन्हे पूरा खयाल है। अपनी स्वाभाविक अवस्था में वे जिस हद तक पालन करते हैं उस हद तक गोरे अथवा हम लोग पालन करते हैं या नहीं, इसमें सदेह है। मन्दिर आदि उनके नही होते। दूसरे लोगों की तरह उनमें भी बहुतेरे वहम पाये जाते हैं। शरीर की मजबूती में यह जाति संसार की किसी जाति से कम नहीं। फिर भी पाठकों को आश्चर्य होगा कि यह जाति ऐसी डरपोक है कि एक गोरे बच्चे को देखकर भी डर जाती है। यदि उसके सामने कोई पिस्तौल उठा लेता है तो या तो वे भाग जाते हैं या ऐसे मूढ़ बन जाते हैं कि उनके पैरों में भागने की भी ताकत नहीं रहती। इसका कारण अवश्य है। उनके दिल में यह बात पैठ गयी है कि मुट्ठी भर गोरे जो ऐसी बड़ी जंगली जाति को अपने आधीन कर पाये हैं, उसमे कोई जादू जरूर होना चाहिए। वे भाला फेंकना और तीर चलाना खूब जानते थे। पर अब वे सब छीन लिये गये हैं। बन्दूक उन्होंने न कभी देखो न चलायी। न दियासलाई दिखानी पड़ती है, न उँगली चलाने के सिवा कोई क्रिया करनी पड़ती है फिर भी एक छोटी सी नली से एकाएक जोर की आवाज होती है, ज्वाला सी दिखायी देती है और गोली लगकर

देखते ही देखते आदमी धड़ाम से गिरकर मर जाता है इसका मर्म उनकी समझ में नहीं आता। इससे वे हमेशा इसके चलने के डर से बदहवास रहते हैं। उन्होंने और उनके बाप दादों ने देखा है कि ऐसी गोलियों ने आज तक अनेक निराधार और निर्दोष हबशियों के प्राण हरण किये हैं। इसका कारण बहुतेरे हबशी आज तक नहीं जानते।

इस जाति में समाज-सुधार धीरे-धीरे घुस रहा है। एक ओर से सज्जन पादरी, अपनी समझ के अनुसार, ईसा-मसीह का सन्देश उन्हें पहुँचाते हैं, उनके लिए मदरसे खोलते हैं और उन्हें मामूली लिखना-पढ़ना सिखाते हैं। इनकी कोशिश से कुछ सुशील हबशी तैयार भी हुए हैं। परन्तु ऐसे कितने ही लोग जो अबतक अक्षर ज्ञान और समाज-सुधार से परिचय न रखते थे ढोंगी भी हो गये हैं। शायद ही कोई ऐसा हबशी शराबखोरी के दुर्व्यसन से बचा हो, जिसका वास्ता इन सुधारों से पड़ चुका हो। उन हट्टे-कट्टे मस्त लोगों के सिर जब शराब का नशा सवार होता है तब वे पूरे पागल हो जाते हैं और सब कुछ कर गुजरते हैं। सुधारों की जहाँ बढ़ती हुई कि जरूरतें बढ़ीं। यह दो और दो, चार के बराबर सत्य है। अपनी जरूरतें बढ़ाने के लिए कहिए अथवा उन्हें मेहनत की कीमत सिखाने के लिए कहिए, सबको हेड टैक्स कुवा-टैक्स देना पड़ता है। यदि ये टैक्स उन पर न लगाये जायँ तो यह खेतों में रहनेवाली कौम पृथ्वी के पेट के अन्दर सैकड़ों गज गहरी खानों में सोना और हीरा निकालने के लिए क्यों उतरें? और यदि खानों के लिए इनकी मजदूरी सुलभ न हो तो सोना और हीरे पृथ्वी के उदर में ही न रह जायें? इसी प्रकार उनपर कर बैठाये बिना यूरोपियन लोगों को नौकर मिलना भी

मुश्किल हो जाय। फल यह हुआ कि खानों के अन्दर काम करने-वाले हजारों हबशियों को दूसरे रोगों के साथ एक तरह का क्षय रोग भी हो जाता है जिसे 'माइण्ड्स थाइसिस' कहते हैं। यह रोग प्राणहारक है। उसके चंगुल में फँसे बाद शायद ही कोई बच सकता है। ऐसे हजारों लोग जब एक खान के अन्दर रहते हैं और साथ में उनके बाल-बच्चे न हों तो पाठक सहज ही कल्पना कर सकते हैं कि वे संयम का पालन कहाँतक कर सकते होंगे? उसके फल स्वरूप पैदा होनेवाले रोगों के भी शिकार वे लोग हो जाते हैं। दक्षिण-अफ्रीका के विचारशील गोरे भी इस प्रश्न का विचार न करते हों सो बात नहीं। कितने ही गोरे जरूर मानते हैं कि इन सुधारों का असर सामूहिक रूप से इन लोगों पर अच्छा ही हुआ है, यह दावा शायद ही किया जा सके। इसका बुरा असर तो किसी भी शख्स को दिखायी दे सकता है।

इस महान देश में जहाँ ऐसी भोली-भाली जाति बसती थी, कोई चार सौ साल पहले वलन्दा लोगों ने अपना पड़ाव डाला। वे गुलाम तो रखते ही थे। अपने जावा-राज्य से कितने ही वलंदा अपने मलायी गुलामों को लेकर उस प्रान्त में आये जिसे हम आज केप कालोनी के नाम से जानते हैं। ये मलायी लोग मुसलमान हैं। उनमें वलंदा लोगों का खून है और उसीके अनु-सार कितने ही गुण भी हैं। वे सारे दक्षिण अफ्रीका में इक्के-दुक्के फैले हुए नजर आते हैं। परन्तु उनका मुख्य स्थान केप-टाउन है। आज उनमें कितने ही लोग गोरों की नौकरी करते हैं और दूसरे अपना निजी पेशा करते हैं। मलायी स्त्रियाँ बहुत उद्योगी और होशियार होती हैं। उनकी रहन-सहन बहुत-कुछ साफ-सुथरी दिखायी देती है। औरतें सीना-पिरोना और कपड़े-धोना बहुत अच्छा जानती हैं। मर्द कुछ छोटा-बड़ा रोजगार करते

हैं। कितने ही लोग गाड़ियाँ हाँककर अपना गुजर कर लेते हैं। कुछ लोगों ने उच्च शिक्षा भी पायी है। उनमें एक डाक्टर अब्दुल रहमान केपटाउन में विख्यात हैं। वे केपटाउन की पुरानी धारा-सभा में भी पहुँच पाये थे। नवीन विधान के अनुसार मुख्य धारा-सभा में जाने का यह अधिकार छीन लिया गया है।

वलन्दा लोगो का वर्णन करते हुए बीच में मलायी लोगों का भी कुछ बयान आ गया। अब जरा यह देखें कि वलन्दा लोग किस तरह आगे बढ़े? यह कहने की जरूरत नहीं कि वलन्दा डच लोगों को कहते हैं। ये लोग बहादुर लड़वैये थे और हैं। साथ ही उतने ही कुशल खेतिहर थे और हैं। उन्होंने देखा कि हमारे आस-पास का मुल्क खेती के बहुत लायक है, उन्होंने देखा कि वहाँके निवासी साल में थोड़े ही समय काम करके अपनी गुजर आसानी से कर सकते हैं तो फिर उनसे मजदूरी क्यों न करायें? वलन्दा के पास अपना हुनर था, बन्दूक थी, और वे यह भी जान सकते थे कि मनुष्यों तथा दूसरे जीवधारियों पर किस प्रकार अपना काबू करें। उनका यह विश्वास था कि ऐसा करने में धर्म की कोई बाधा नहीं है। अतएव अपने कार्य के औचित्य के विषय में जरा भी शंकाशील हुए बिना उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के निवासियों की मजदूरी के बल पर खेती वगैरा करना शुरू किया। जिस प्रकार वलन्दा दुनिया में अपना फैलाव करने के लिए अच्छी जमीनें खोज रहे थे उसी तरह अंग्रेज लोग भी अच्छी जमीन की फिराक में थे। धीरे-धीरे अंग्रेजभी वहाँ आये। अंग्रेज और डच चचेरे भाई तो हई हैं। दोनों की खासियत एक, लोभ एक। जब एक ही कुम्हार के मटके एक जगह जुट जाते हैं तब किसी वक्त टकराते भी हैं, फूटते भी हैं। इसी प्रकार वे दोनों जातियाँ अपना पाँव पसारते हुए और धीरे-धीरे हबशियों पर

अपना कब्जा करते हुए आपस में लड़ पड़ीं। झगड़े हुए—लड़ाइयाँ भी हुईं। मजूबा की पहाड़ी पर अंग्रेज लोग हारे भी। यह मजूबा का दाग रह गया और पककर फोड़ा बन गया। १८६६ से १६०२ तक जो संसार-प्रसिद्ध बोअर-युद्ध हुआ उसमें वह फोड़ा फूटा और जनरल क्रोन्जे को जब लार्ड राबर्टसन ने शिकस्त दी तब उन्होने स्वर्गीया महारानी विक्टोरिया को तार दिया—'मजूबा का बदला ले लिया।' परन्तु जब पहली बोअर-युद्ध के पहले की चकमक इन दोनो के बीच हुई तब बहुतेरे बलन्दा लोग अंगरेजों की नाम मात्र की सत्ता भी कुबूल करना नहीं चाहते थे। इससे वे दक्षिण अफ्रीका के भीतरी भागों में चले गये। फलतः 'ट्रान्सवाल' और 'आरेंज फ्री-स्टेट' की सृष्टि हुई।

यही बलन्दा अथवा डचलोग दक्षिण-अफ्रीका में 'बोअर नाम से प्रसिद्ध हुए। बच्चा जिस प्रकार माता की सेवा करता है, उसी प्रकार उन्होंने अपनी भाषा की सेवा करके उसको सुरक्षित रक्खा है। उनकी नस-नस में यह बात पैठ गयी है कि आजादी का घनिष्ठ सम्बन्ध भाषा से है। कितने ही आक्रमण होने पर भी वे अपनी मातृभाषा की रक्षा कर रहे हैं। अब इस भाषा ने ऐसा नवीन रूप धारण कर लिया है जो वहाँ के लोगों को अनुकूल भी है। वे हालैंड के साथ अपना घनिष्ठ सम्बन्ध न रख सके। इससे जिस प्रकार संस्कृत से प्राकृत भाषायें निकली हैं, उसी प्रकार डच से अपभ्रष्ट डच बोअर लोग बोलने लगे। पर अब वे अपने बच्चो पर गैरजरूरी भार डालना नहीं चाहते। इसलिए उन्होंने इस प्राकृत बोली को स्थायी रूप दे दिया है और उसे 'टाल' कहते हैं। उसी भाषा मे उनकी पुस्तकें लिखी जाती हैं। बालकों को शिक्षा उसी भाषा में दी जाती है। धारा-सभा में भी बोअर सभासद टाल-भाषा में ही भाषण करते हैं। यूनियन के

बाद सारे दक्षिण अफ्रीका में दोनों भाषायें डाल अथवा डच और अंग्रेजी एकसी प्रतिष्ठित हैं, यहाँतक कि वहाँ नियम है कि सरकारी गजट दोनों भाषाओं में प्रकाशित होना चाहिए और धारासभा की कार्रवाई भी दोनों भाषाओं में छापनी चाहिए। बोअर लोग सादगी से रहनेवाले और पक्के धर्मनिष्ठ हैं वे विशाल खेतों में बसते हैं। हम वहाँके खेतों के विस्तार का अंदाज तक नहीं कर सकते। हमारे यहाँके किसानों के खेत २-३ बीघे से अधिक नहीं होते। इससे भी कम होते हैं। वहाँके खेतों का न पूछिए, सैकड़ों अथवा हजारों बीघा जमीन एक-एक शख्स के कब्जे में होती है। इन किसानों को यह भी लोभ नहीं होता कि तमाम जमीन जोत डालें। और यदि कोई कहे तो कहते हैं— "पड़ी न रहे। जिसे हम न जोत पावेंगे उसे हमारी औलाद जोतेगी।"

हरएक बोअर युद्ध-कला में पूरा-पूरा प्रवीण होता है। वे चाहे अपने आपस में भले ही लड़-झगड़ लें, पर उन्हें अपनी आजादी इतनी प्यारी होती है कि जब उनपर किसी का हमला होता है तब तमाम बोअर उसका सामना करने को तैयार हो जाते हैं और एक शरीर की तरह लड़ते हैं। उन्हें कवायद-परेड की भारी जरूरत नहीं होती, क्योंकि लड़ना तो उनकी सारी जाति का स्वभाव या गुण है। जनरल स्मट्स, जनरल डीवेट, जनरल हर्जोग तीनों बड़े वकील हैं, और बड़े कृषिकार हैं, और तीनों वैसे ही लड़वैये भी हैं। जनरल बोथा के पास ६ हजार एकड़ का एक खेत था। खेती की तमाम पेचीदगियाँ वे जानते थे। जब ये सुलह के लिए यूरोप गये, तब उनके सम्बन्ध में यह कहा गया था कि भेड़ों की परीक्षा में उनके जैसा निपुण यूरोप में भी शायद ही कोई हो। ये जनरल बोथा स्वर्गीय प्रेसीडेंट क्रूगर के

स्थानापन्न हुए थे। वे अच्छी अंग्रेजी जानते थे। पर जब वे इङ्गलैण्ड में सम्राट् से तथा मन्त्रि-मण्डल से मिले, तब उन्होंने हमेशा अपनी ही मातृभाषा में बात-चीत करना पसन्द किया। कौन कह सकता है कि यह यथार्थ नहीं था? अंग्रेजी भाषा के ज्ञान का परिचय देने के लिए भूलें कर बैठने के खतरे में क्यों पड़े? मौजूं शब्द की खोज करते हुए अपनी विचार-धारा को भंग करने का साहस किसलिए करें? मन्त्रि-मण्डल यदि केवल अनजान में कुछ अपरिचित मुहावरों का प्रयोग करे; वे उनका अर्थ न समझ पावें और कुछ-का-कुछ जवाब निकल जाये, शायद गड़बड़ा भी जायें और उससे अपनी हानि कर बैठें, तो ऐसी भारी भूल वे क्यों करें?

बोअर पुरुष जिस प्रकार बहादुर हैं और सादगी से रहते हैं, उसी प्रकार उनकी स्त्रियाँ भी वीर और सादगी-पसन्द हैं। बोअर-युद्ध के समय बोअर लोगों ने जो अपना इतना खून बहाया, वह उनकी स्त्रियों की हिम्मत और उत्साह के बल पर। स्त्रियों को न तो विधवा हो जाने का डर था, न भविष्य का डर था। मैं ऊपर कह चुका हूँ कि बोअर लोग कट्टर धर्मनिष्ठ हैं, ईसाई हैं। पर यह नहीं कह सकते कि ईसा-मसीह के 'न्यू टेस्टामेंट को मानते हैं। सच पूछिए तो यूरोप भी 'न्यू टेस्टामेंट' को कहाँ मानता है? फिर भी यूरोप में 'न्यू टेस्टामेंट' को मानने का दावा जरूर किया जाता है। हाँ, कितने ही यूरोप-वासी अलबत्ते ईसामसीह के शान्ति-धर्म को जानते और पालते हैं। पर बोअर लोग तो 'न्यू टेस्टामेंट' का नाममात्र जानते हैं। हाँ, ओल्डटेस्टामेंट को वे बड़ी भावुकता के साथ पढ़ते हैं और उनकी लड़ाइयों के वर्णनों को रटते हैं। हजरत मूसा की 'दाँत के बदले दाँत और

आँख के बदले आँख' की नीति को सोलहों आना मानते हैं। और जैसा मानते हैं, वैसा ही करते भी हैं।

हर तरह के कष्ट झेलकर भी मनुष्य को अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करनी चाहिए इसे समझ कर बोअर स्त्रियों ने भी इसे धार्मिक फरमान समझ, धीरज और आनन्द के साथ तमाम आपत्तियाँ सह लीं। औरतों को झुकाने के लिए स्वर्गीय लार्ड किचनर ने किसी उपाय मे कसर नहीं रखी। अलग-अलग हिस्सों में उन्हें बन्द कर रखा। वहाँ उनपर असह्य आपत्तियाँ आयीं। खाने-पीने की साँसत, सरदी-गरमी के मारे बेहाल। कोई शराब के नशे मे चूर अथवा कामांध सोल्जर इन बिना लावारिश स्त्रियों पर हमला भी कर बैठता। इन हातों में अनेक प्रकार के उपद्रव पैदा होते थे। ऐसा होते हुए भी ये बहादुर औरतें न झुकीं। और अन्त को खुद किंग एडवर्ड ने ही लार्ड किचनर को लिखा "यह मैं सहन नहीं कर सकता। यदि बोअर लोगों को झुकाने का यही इलाज हमारे पास हो, तो इसकी अपेक्षा मैं हर तरह की सुलह को पसंद कर लूँगा। लड़ाई को आप शीघ्र खतम कर दीजिये।"

इन तमाम कष्टों की आवाज इंगलैण्ड में पहुँची, तब अंग्रेज जनता को भी दुःख हुआ। बोअर की बहादुरी से वे लोग आश्चर्यचकित हो गये। यह बात अंग्रेज लोगों को चुभा करती थी कि इतनी-सी छोटी जाति ने दुनिया में चारों ओर फैली सल्तनत के छक्के छुड़ा दिये। पर जब इन हातों के अन्दर बन्द स्त्रियों का आर्तनाद उन औरतों के द्वारा नहीं, उनके मर्दों के द्वारा नहीं, क्योंकि वे तो समाम में ही जूझ रहे थे—बल्कि दक्षिण अफ्रीका के इक्के-दुक्के उदारचरित अंग्रेज स्त्री-पुरुष के द्वारा वहाँ पहुँचे, तब अंग्रेज जनता सोच में पड़ी। स्वर्गीय सर

हेनरी केम्पबेल बैनरमैन ने अंग्रेजी जनता के हृदय को पहचाना और लड़ाई के खिलाफ गर्जना की। स्वर्गीय श्री स्टेड ने प्रकट-रूप से ईश्वर से प्रार्थना की और दूसरों को भी प्रेरणा की कि इस लड़ाई में ईश्वर अंग्रेजों को हरावे। यह दृश्य अद्भुत था। सच्चा कष्ट यदि सचाई के साथ सहन किया जाय, तो वह पत्थर-जैसे हृदय को भी पानी-पानी कर डालता है। कष्ट-सहन की अर्थात् तपस्या की महिमा ऐसी ही है। और यही सत्याग्रह की कुञ्जी है।

नतीजा यह हुआ कि फ्रीनिखन की सुलह हुई और अन्त को दक्षिण-अफ्रीका की चारों रियासतें एक तन्त्र के अधीन हुईं। यद्यपि इस सुलह की बात को हर एक अखबार पढ़नेवाला हिन्दुस्तानी जानता है, तथापि एक दो बातें ऐसी हैं, जिनका खयाल तक होने की सम्भावना बहुतों को नहीं। फ्रीनिखन की सुलह के साथ ही चारों रियासतें संयुक्त नहीं हो गयी थीं। हर एक के लिए अपनी-अपनी धारा-सभा थी। उनका कार्यकारी-मण्डल पूरे तौर पर इन धारासभाओं के नजदीक जवाबदेह न था। ऐसे संकुचित हक से जनरल बोथा अथवा जनरल स्मट्स को सन्तोष नहीं हो सकता था। लार्ड मिलनर ने बिना दूल्हे की बरात ले जाना निश्चित किया। जनरल बोथा धारा-सभा से अलग रहे। उन्होंने असहयोग किया। सरकार से संबंध रखने में साफ इन्कार कर दिया। लार्ड मिलनर ने एक उग्र भाषण किया और कहा कि जनरल बोथा को यह मान लेने की जरूरत नहीं है कि इतना सारा भार उनके सिर पर है। राज्य-कार्य उनके बिना भी चलाया जा सकेगा।

बोअरों की बहादुरी, उनकी स्वतन्त्रता, उनकी कुरबानी का वर्णन मैंने बिना किसी संकोच के किया है; पर इसमें मैं पाठकों

का यह खयाल नहीं बनाना चाहता था कि सङ्कट के समय में भी इनमें मत-भेद नहीं हो सकता अथवा कोई कमजोरी का परिचय नहीं दे सकता। बोअरों में भी लार्ड मिलनर ऐसा दल खड़ा कर सके, जो आसानी से राजी हो गया और मान लिया कि इनकी मदद से मैं धारा-सभा को चमका सकूँगा। एक नाटककार भी मुख्य पात्र के बिना अपने नाटक को सुशोभित नहीं कर सकता। तो इस जटिल और दुर्गम संसार में कारोबार करनेवाला मनुष्य यदि मुख्य पात्र को भूलकर सफल होने की आशा रक्खे तो उसे पागल समझना चाहिए। सचमुच यही दशा लार्ड मिलनर की हुई। और यह भी कहा जाता था कि उन्होंने धमकी दे तो दी, परन्तु ट्रान्सवाल और फ्री स्टेट का कार्य-सञ्चालन जनरल बोथा के बिना करना उन्हें इतना कठिन हो गया, कि वे अपने बगीचे में चिंतातुर और बदहवास नजर आते! जनरल बोथा ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि फ्रीनिखन के सुलह-नामे का अर्थ मैं तो स्पष्ट तौर पर यही समझता हूँ कि बोअर लोगों को अपनी भीतरी व्यवस्था का पूरा-पूरा अधिकार तुरन्त मिलेगा, और उन्होंने कहा 'यदि ऐसा न होता तो मैं उसपर कभी दस्तखत न करता'। लार्ड किचनर ने इसके जवाब में यह कहा कि 'हमने जनरल बोथा को किसी तरह ऐसा विश्वास नहीं दिलाया था। बोअर लोग ज्यों-ज्यों विश्वास-पात्र साबित होते जायेंगे त्यों-त्यों धीरे धीरे उन्हें स्वतन्त्रता मिलती जायगी'। अब इन दोनों का इन्साफ कौन करे? यदि कोई पंच की बात कहता तो भी जनरल बोथा क्यों मानने लगे? उस समय बड़ी सरकार ने जो इन्साफ किया वह उसे शोभा देने लायक था। उसने मंजूर किया कि प्रतिपक्ष और उसमें भी निर्बल पक्ष समझौते का जो अर्थ समझा हो वह अर्थ सबल पक्ष को स्वीकार

करना चाहिए। न्याय और सत्य की नीति के अनुसार तो हमेशा यही अर्थ सच होता है। अपने कथन का अर्थ मैंने अपने मन में चाहे जो कर रक्खा हो, पर मुझे मानना चाहिए कि उसका जो भाव पढ़नेवाले अथवा सुननेवाले के चित्त पर अंकित हो उसी भाव में मैंने वह वचन कहा या लेख लिखा था। इस सुनहले नियम का पालन हम व्यवहार में बहुत बार नहीं करते। इन्हीसे कई झगड़े खड़े होते हैं; और सत्य के नाम पर अर्ध-सत्य अर्थात् ड्योढ़ असत्य से काम लिया जाता है।

इस प्रकार जब सत्य की अर्थात् यहाँ जनरल बोथा की, पूरी विजय हुई, तब वे काम में जुटे। फलतः तमाम राज्य एकत्र हुए और दक्षिण-अफ्रीका को पूरी-पूरी स्वतन्त्रता मिली। झण्डा यूनियन जैक है, नक्शे में इस प्रदेश का रंग लाल है, फिर भी यह मानने में जरा भी ज्यादती नहीं कि दक्षिण-अफ्रीका पूर्णरूप से स्वतन्त्र है। ब्रिटिश-साम्राज्य दक्षिण अफ्रीका के कार्यकर्त्ताओं की राय के बिना वहाँ से एक पाई नहीं ले जा सकता उतना ही नहीं बल्कि ब्रिटिश मन्त्रियों ने यह स्वीकार किया है यदि दक्षिण-अफ्रीका ब्रिटिश झण्डे को निकाल डालना चाहे और नाम से भी स्वतन्त्र होना चाहे तो उसे कोई नहीं रोक सकता। और यदि आज दक्षिण-अफ्रीका के गोरे ऐसा नहीं करते हैं तो उसका सबल कारण है। एक तो यह कि बोअर लोगों के नेता बुद्धिमान् और समझदार हैं। ब्रिटिश-साम्राज्य के साथ यदि इस प्रकार की मित्रता रक्खी जाय अथवा ऐसा सम्बन्ध रक्खा जाय, जिसमें खुद कुछ खोना न पड़े तो यह बेजा नहीं। पर इसके अतिरिक्त दूसरा व्यावहारिक कारण भी है। वह यह कि नेटाल में अंग्रेजों की संख्या अधिक है, 'केप कालोनी' में अंग्रेजों की संख्या अधिक है, पर बोअरों से अधिक नहीं

और जोहान्सबर्ग में तो अंग्रेजों का ही प्रभाव है। अतएव यदि बोअर लोग सारे दक्षिण-अफ्रीका में स्वतन्त्र प्रजासत्ता का राज्य स्थापित करना चाहें, तो यह मानो घर ही में झगड़ा खड़ा करना है और शायद आपस में लड़ाई भी चेत उठे। इससे दक्षिण-अफ्रीका ब्रिटिश राज्य कहलाता है।

यह भी जानने लायक बात है कि यूनियन का कानून किस तरह बना। चारों रियासतों की धारासभाओं ने एकमत होकर यूनियन का संगठन तैयार किया। संगठन ब्रिटिश पार्लमेन्ट को अक्षरशः कुबूल करना पड़ा। आम-सभा में एक सदस्य ने एक व्याकरण-दोष की ओर ध्यान खींचकर दूषित शब्द निकाल डालने की तजवीज पेश की। स्व० सर हेनरी केम्पबेल बैनरमेन ने उस तजवीज को नामंजूर करते हुए कहा कि राज्य-कार्य शुद्ध व्याकरण के द्वारा नहीं चल सकता। यह सङ्गठन ब्रिटिश कार्यकारी-मण्डल और दक्षिण-अफ्रीका के राजकाजियों के सलाह-मशवरे के बाद तैयार हुआ है। उसके व्याकरण दोष तक को दूर करने का अधिकार ब्रिटिश पार्लमेन्ट के लिए रक्खा गया है। अतएव यह संगठन आम और उमराव दोनों सभाओं में ज्यों का त्यों स्वीकार करना पड़ा।

इस मौके पर एक और बात भी लिखने लायक है। संगठन-पत्र में कितनी ही धारायें ऐसी हैं जो एक तटस्थ मनुष्य को फिजूल मालूम होंगी। उससे खर्च भी बहुत बढ़ गया है। यह बात संगठन की रचना करनेवालों के ध्यान के भी बाहर नहीं थी फिर भी उनका उद्देश पूर्णता को पहुँचाना नहीं था, बल्कि यह था कि कुछ घटा-बढ़ी करके एकमत हों और अपना प्रयत्न सफल करें। इसीसे आजकल यूनियन की चार राजधानियाँ मानी जाती हैं, क्योंकि उप-रियासतों में से कोई भी अपनी राज-

धानी का महत्त्व छोड़ देने के लिए तैयार नहीं था। चारों रियासतों की स्थानीय धारा-सभायें भी कायम रखी गयी हैं। चारों रियासतों को गवर्नर जैसा कोई पदाधिकारी जरूर चाहिए—इसलिए चार हाकिम मंजूर करने पड़े। सब लोग जानते हैं कि चार स्थानीय धारा सभायें, चार राजधानियाँ और चार हाकिम अजागल-स्तन की तरह फिजूल और एक आडम्बर मात्र हैं। पर इससे कहीं अफ्रीका के व्यवहार-कुशल राजकाजी लोग डरने वाले थे? आडम्बर होते हुए भी और यदि इससे अधिक खर्च हो तो भी चारों रियासतों की एकता होना वांछनीय था। अतएव उन्होंने बाहर के लोगों की टीका-टिप्पणी की चिन्ता किये बिना वही किया जो उन्हें उचित दिखायी दिया, और ब्रिटिश पार्लमेंट से मंजूर कराया।

यह दक्षिण अफ्रीका का संक्षिप्त इतिहास मैंने पाठकों की जानकारी के लिए यहाँ देने की चेष्टा की है। उसके बिना सत्याग्रह के महान संग्राम का रहस्य समझ में न आता। ऐसे प्रदेश में हिन्दुस्तानी लोग किस प्रकार आये और वहाँ सत्याग्रह-काल के पहले किस तरह अपने ऊपर आयी आपत्तियों का मुकाबला किया, यह मूल विषय पर आने के पहले जानना जरूरी है।

(३)

दक्षिण-अफ्रीका में भारतीयों का आगमन

पिछले अध्याय में हम यह देख चुके कि नेटाल में अंग्रेज आ बसे। उन्होंने जुलुओं से कितने ही हक ले लिये। अनुभव से वे यह भी देख सके कि नेटाल में गन्ना, चाय और काफी की पैदायश भी बड़ी अच्छी होती है और बड़े पैमाने पर इसकी खेती करने के लिए हजारों मजदूरों की आवश्यकता है। बिना उनकी सहायता केवल पाँच-पचीस अंग्रेज-परिवार ऐसी फसल नहीं पैदा कर सकते। उन्होंने हबशियों को यह काम करने के लिए ललचाया और डराया भी। पर अब वह गुलामी-कानून न रहा था। अत. वे सफलता पाने के लिए काफी बल-प्रयोग न कर सके। हबशी लोग अधिक मेहनत नहीं करते। छः महीने तक मामूली मेहनत करके भी वे अपनी रोजी अच्छी तरह कमा सकते हैं। फिर किसी मालिक के यहाँ वे अधिक दिन तक काम करने के लिए अपने आपको क्यों बाँध लें? और जबतक स्थायी मजदूर न मिले तबतक अंग्रेज लोग अपने उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकते थे। अतः उन लोगों ने भारत-सरकार से पत्र-व्यवहार शुरू किया, और मजदूरों की सहायता माँगी। भारत-सरकार ने नेटाल के

गोरों की बात को स्वीकार किया। और सन् १८४०-५० के लगभग पहला जहाज भारतीय मजदूरों को लेकर निकला।

मेरा खयाल है कि भारतीय सरकार ने इस माँग को स्वीकार करते समय अधिक गहराई के साथ विचार नहीं किया। यहाँ के अंग्रेज अधिकारी जाने-बेजाने अपने नेटाल-निवासी भाइयों की तरफ झुके। हाँ, जहाँतक हो सका मजदूरों की रक्षा की शर्तें उनके इकरारनामे में दर्ज करके उनके खान-पान की व्यवस्था की चिन्ता भी प्रकट की। पर इस बात का किसी को भी पूरा खयाल न रहा कि इस प्रकार इतनी दूर जानेवाले अनपढ़ मजदूरों पर यदि कोई मुसीबत आ पड़े तो वे किस तरह अपने को मुक्त कर सकते हैं। उनके धर्म का क्या हाल होगा? वे अपनी नीति की रक्षा कैसे करेंगे? इसका तो किसी ने विचार भी नहीं किया। अधिकारियों ने यह भी नहीं सोचा कि यद्यपि कानून में गुलामी की प्रथा उठ चुकी थी किन्तु वहाँ के मालिकों के हृदय से दूसरों को गुलाम बनाने का लोभ मिट न पाया था। अधिकारियों को यह समझना चाहिए था कि बेचारे मजदूर इतनी दूर जाकर एक बड़े समय के लिए गुलाम बनेंगे। पर यह बात भी उनके ध्यान में नहीं आयी। सर विलियम विल्सन हंटर ने, जिन्होंने इस स्थिति का गहरा अध्ययन किया था, इसकी तुलना करते हुए दो शब्दों अथवा शब्द-समूह का उपयोग किया था। नेटाल के ही भारतीय मजदूरों के विषय में लिखते समय उन्होंने एक समय लिखा था कि यह तो 'आधी गुलामी' है। दूसरे वक्त अपने पत्र में लिखते समय उन्होंने इस स्थिति को लगभग गुलाम की ही स्थिति बताकर उसका वर्णन किया था। यही बात वहाँ के एक बड़े-से-बड़े गोरे निवासी, स्वर्गीय श्रीयुत एस्कंब ने नेटाल के एक शिष्ट-मण्डल के सामने गवाही देते हुए कुबूल की थी। यों तो इस

बात का सुबूत नेटाल के कई अग्रगण्य अंग्रेजों के मुँह में ही दिया जा सकता है और उनमें अधिकांश तो इस विषय में भारतीय-सरकार को दी गयी दरख्वास्तों में भी शरीक थे। ख़ैर, जो होना था सो हो चुका। पर जो जहाज इन मजदूरों को ले गया। वही सत्याग्रह के महान् वृक्ष के बीज भी साथ ही ले गया। मजदूरों को नेटाल-स्थित यहाँके भारतीय दलालों ने किस तरह धोखा दिया, बेचारे ये लोग किस तरह उनके जाल में आये, नेटाल पहुँचने पर उनकी आँखें किस तरह खुलीं, आँखें खुलकर भी वे नेटाल में क्यों रहे, किस तरह और भी मजदूर उनके पीछे-पीछे वहाँ गये। वहाँ जाकर उन सबने किस प्रकार धर्म और नीति के बन्धनों को तोड डाला या वे ही टूट गये, किस प्रकार विवाहित स्त्री और वेश्या के बीच का भेद भी न रहा, इसकी रामकहानी तो इस छोटी-सी पुस्तक में कैसे लिखी जा सकती है?

वे मजदूर जो नेटाल जाते, एग्रीमेंट में आये हुए मजदूर के नाम से जाने जाते हैं। अतः वे अपने को गिरमिटिया कहते हैं। इसलिए अब हम भी एग्रीमेंट को गिरमिट और उसमें बँधे हुए मजदूर को गिरमिटिया कहेंगे।

जब यह खबर मॉरिशस में पहुँची कि नेटाल में गिरमिटिया लोग गये हैं, तब वहाँ के मजदूरों के साथ सम्बन्ध रखनेवाले कितने ही भारतीय व्यापारियों का दिल नेटाल जाने के लिए ललचाया। मॉरिशस नेटाल और भारत के बीच में है। मॉरिशस टापू में हजारों भारतीय-मजदूर और व्यापारी रहते हैं। उनमें से एक व्यापारी स्वर्गीय अबूबकर आमद ने नेटाल में एक दूकान खोलने तक का निश्चय भी किया। इस समय नेटाल के अंग्रेजों तक को न तो यह सुध ही थी, न परवाह ही थी कि भारतीय व्यापारी क्या-क्या कर सकते हैं। वे गिरमिटियों की सहायता से

गन्ना, चाय, काफ़ी आदि की खेती करके बहुत फ़ायदा उठा रहे थे। गन्ने से शक्कर बनाकर ये इतने थोड़े समय में ही यहाँ की आवश्यकताओं को पूरा करने लग गये कि दक्षिण-अफ्रीका में सबको अचंभा हुआ। अपने मुनाफे की रकम से उन्होंने बड़े-बड़े महल बनाये और 'जंगल में मंगल' कर दिया। ऐसे समय यदि सेठ अबूबकर जैसा चतुर व्यापारी उनके बीच में आ बसे तो उन्हें वह क्यों न खटके? फिर इनको तो एक अंग्रेज भी आ मिला। अबूबकर सेठ ने अपना व्यापार फैलाया, जमीन खरीदी। उनकी जन्मभूमि पोरबन्दर और उसके आस-आस के गाँवों तक यह बात फैल गयी कि सेठ साहब आज-कल खूब मुनाफा कमा रहे हैं। शीघ्र ही दूसरे मेमन नेटाल पहुँचे। उनके पीछे-पीछे सूरत के बहोरे भी चले। बहोरो के साथ-साथ महेता (मुनीम) लोग तो अवश्य होने चाहिएँ। अतः गुजरात-काठियावाड़ के हिन्दू महेता भी गये!

इस तरह नेटाल मे अब दो श्रेणी के भारतीय हो गये—(१) स्वतन्त्र व्यापारी और उनका स्वतन्त्र अनुचर-समुदाय और (२) गिरमिटिया। धीरे-धीरे गिरमिटियो के बाल-बच्चे हुए। यद्यपि कानून के अनुसार उनकी संतान मजदूरी करने के लिए बँधी हुई न थी, तथापि इसपर कानून की कठोर धाराओं का अंकुश तो अवश्य था। गुलाम की संतान गुलामी के लांछन से कैसे बची रह सकती है? गिरमिटिये यहाँसे पाँच साल के इकरार पर जाते थे। पाँच साल के बाद के मजदूरी करने पर बाध्य न थे। स्वतन्त्र रूप से मजदूरी अथवा व्यापार करके नेटाल के स्थायी निवासी होने का उन्हें हक था। कितनों ही ने इस हक का उपयोग किया और अन्य कितने ही फिर भारत को लौट आये। जो नेटाल में ही रहे वे "फ्री इण्डियन्स"

कहे जाने लगे । उन्हें हम 'गिरमिट-मुक्त' अथवा संक्षेप में 'मुक्त भारतीय' कहेंगे। यह भेद समझ लेना जरूरी है, क्योंकि जो हक ऊपर बताये स्वतन्त्र भारतीयों को थे, वे इन्हें (मुक्त भारतीयों को) न थे। जैसे यदि उन्हें एक गाँव से दूसरे गाँव जाना हो तो उसके लिए उन्हें लाइसेन्स (परवाना) लेना जरूरी था। यदि वे विवाह करना चाहें और यह इच्छा हो कि वह कानून के द्वारा मंजूर किया जाय तो ऐसा कराने के लिए उन्हें गिरिमिटियों की रक्षा के लिए नियत अधिकारी के दफ्तर में उसे दर्ज करा देना चाहिए, आदि। इसके अतिरिक्त और भी कितनी ही कठोर धाराओं का अंकुश उनपर था। ट्रान्सवाल और फ्री स्टेट में १८८०-६० में बोअर लोगों के प्रजातन्त्र राज्य थे। प्रजातन्त्र राज्य का अर्थ भी यहाँ स्पष्ट कर देना जरूरी है। प्रजातन्त्र यानी गोरासत्ताक। उसमें हबशी लोगों के लिए कहीं स्थान न था। भारतीय व्यापारियों ने देखा कि हम केवल गिरिमिटियों और मुक्त भारतीयों के साथ ही नहीं बल्कि हबशियों के साथ भी व्यापार कर सकते हैं। हबशियों के लिए भारतीय व्यापारी तो बड़े काम की चीज साबित हुए। गोरे व्यापारियों से वे बहुत डरते थे। गोरे व्यापारी उनके साथ व्यापार करना चाहते तो जरूर थे, पर हबशी ग्राहक कभी यह आशा नहीं रख सकता था कि गोरा उन्हें मीठी जबान से पुकारेगा। अगर गोरा व्यापारी उसे पैसे का पूरा माल देता, तो वह अपना अहोभाग्य समझता कभी-कभी तो यहाँ तक कडुआ अनुभव हुआ है कि यदि उसे चार शिलिंग की कोई चीज खरीदनी हो और वह दुकानदार के सामने एक पाउण्ड रख दे तो उसे १६ शिलिंग के बदले चार शिलिंग वापिस मिलता, अथवा कुछ भी न

मिलता। यदि बेचारा अधिक माँगता, उसके हिसाब की गलती दिखाता, तो इसके बदले में उसे सीधी-सीधी गालियाँ सुननी पड़ती। इतने पर ही छूट जाय तो भी गनीमत, नहीं तो गालियों के साथ घूँसा-लात भी खानी पड़ती। इससे मेरा यह अभिप्राय नहीं कि सभी अंग्रेज व्यापारी ऐसे होते हैं। पर यह तो जरूर कहा जा सकता है कि ऐसे उदाहरण काफी तादाद में मिल सकते हैं। इसके विपरीत भारतीय व्यापारी अपने हवशी ग्राहकों को मीठी जबान से पुकारते हैं, हँसकर बात करते हैं। हवशी भोले-भाले होते हैं। वे दूकान के अन्दर आकर चीजों को हाथ लगाते हैं या उनमें हाथ डालकर देखते हैं तो वे यह सब सह लेते हैं। माना कि यह सब वह परमार्थ की दृष्टि से नहीं करता, उसमें उसका स्वार्थ तो रहता ही है, और मौका पाते ही उन्हें वह ठग भी लेता है। पर हवशी लोग भारतीय व्यापारियों को जो पसंद करते हैं, इसका कारण है उनकी मीठी वाणी। फिर भारतीय व्यापारियों से हवशी डरेगा तो कभी नहीं। इसके विपरीत ऐसे उदाहरण मौजूद हैं जहाँ यदि किसी भारतीय ने किसी हवशी को ठगने का प्रयत्न किया हो और वह उसके ध्यान में आ गया हो, तो वह व्यापारी उसके हाथों पीटा भी गया है। गालियाँ वह कई बार खाता है। अर्थात् भारतीय और हवशियों के बीच डरनेवाले भारतीय ही होते हैं। खैर, आखिर नतीजा यह निकला कि भारतीय व्यापारियों को हवशी ग्राहकों से बड़ा लाभ हुआ। हवशी तो दक्षिणी अफ्रीका भर में फैले हुए थे। भारतीयों ने सुना कि ट्रान्सवाल और फ्री स्टेट में बोअर लोगों में भी उनका व्यापार फैल सकता है। बोअर लोग सीधे-सादे, भोले-भाले और आडम्बर-हीन होते हैं। वे भारतीयों

के ग्राहक बनने में शरमायेंगे नहीं। अतः कितने ही व्यापारियों ने ट्रान्सवाल और फ्री स्टेट में कूच किया। वहाँ दुकानें खोलीं। उस समय वहाँ रेल नहीं थी। इससे वे खूब नफा कमाते थे। व्यापारियों का खयाल ठीक साबित हुआ। उन्हें बोअर तथा हबशी ग्राहक खूब मिलने लगे। अब रहा केप कालोनी। वहाँ भी कितने ही भारतीय व्यापारी जा पहुँचे और खूब धन कमाने लगे। इस प्रकार धीरे-धीरे चारों राज्यों में भारतीय जनता फैल गयी। इस समय स्वतन्त्र भारतीयों की संख्या चालीस पचास हजार और मुक्त और भारतीयों की संख्या लगभग एक लाख की आँकी जाती है। यह लिखते समय इस संख्या में कुछ घटी ही हुई होगी, बढ़ती नहीं।

(४)

पिछली मुसीबतों पर एक नजर

[नेटाल]

नेटाल के गोरे मालिकों को निरे गुलामों की ही जरूरत थी। ऐसे मजदूरों को वे नहीं चाहते थे, जो नौकरी के बाद स्वतन्त्र होकर कुछ अंशों में उनके साथ प्रतिस्पर्धा करने को तैयार हो जायँ। भारत से भी ऐसे ही लोग गिरमिटिया बनकर अफ्रीका गये थे, जो सफल किसान न थे। किन्तु वे ऐसे अनजान भी तो न थे कि उन्हें खेती का कुछ ज्ञान ही न हो या जमीन और खेती की कीमत ही न समझते हों। उन्होंने देखा कि यदि हम नेटाल में साग-तरकारी की भी खेती करें तो भी बड़ी आसानी से अपना पेट भर सकते हैं। और अगर हमें जमीन का छोटा-सा टुकड़ा भी मिल जाय, तो हम और भी अधिक धन कमा सकेंगे। अतः जब बहुत से गिरमिटिया मुक्त हुए, तब उन्होंने एक-न-एक छोटा-सा धंधा शुरू कर दिया। कुल मिलाकर देखा जाय तो इससे नेटाल जैसे देश में जनता को फायदा ही हुआ। ऐसी अनेक प्रकार की तरकारियाँ वहाँ पैदा होने लग गयीं जो अच्छे किसानों के अभाव के कारण अबतक

वहाँ पैदा न होती थीं। जहाँ कहीं ये थोड़े कतिपय प्रसंगवश मिलती भी थीं, वहाँ अब काफी तादाद में और अच्छी मिलने लग गयीं। इससे साग-तरकारी के भाव एकदम गिर गये। पर धनिक गोरों को यह बात अच्छी न मालूम हुई। उन्होंने सोचा कि आज तक जिस बात का ठीका हमारे पास था अब उसमें नये हिस्सेदार पैदा हो रहे हैं। अतः इन बेचारे गिरमिटियों के खिलाफ वहाँ एक हलचल खड़ी हो गयी। पाठकों को आश्चर्य होगा कि एक ओर तो वे अधिकाधिक मजदूर माँगते जा रहे थे—भारत से जितने मजदूर आते, वे एक दम बँट जाते। और जो गिरमिट से मुक्त होते जाते थे उनपर अनेक प्रकार के अंकुश रखने के लिए आन्दोलन हो रहे थे। यह था बेचारे गिरमिटियों की होशियारी और कड़ी मेहनत का बदला!

आन्दोलन ने कई रूप धारण किये। एक पक्ष का यह कहना था कि गिरमिट-मुक्त भारतीयों को भारत लौटा दिया जाय और नये मजदूर-गिरमिटिये बुलाये जायें और उनसे यह इकरार करा लिया जाय कि गिरमिट की मीयाद खतम होने पर वे या तो फिर भारत लौट जायें या वहीं पर अपनेको फिर गिरमिट में बाँध लें। दूसरा पक्ष कहता कि यदि वे गिरमिट मुक्त होने के बाद फिर से अपनेको गिरमिट में न बाँध लें तो उनसे भारी वार्षिक मनुष्य-कर लिया जाय। पर इन दोनों पक्षों का उद्देश्य तो यही था कि किसी भी सूरत से गिरमिटिये नेटाल में कभी स्वतन्त्रतापूर्वक न रह सकें। आखिर यहाँतक कोलाहल मचा कि नेटाल की सरकार को एक कमीशन नियुक्त करना पड़ा। दोनों पक्षों की माँगें अन्याय-मूलक थीं और गिरमिटियों की स्वाधीनता आर्थिक दृष्टि से वहाँकी सारी जनता के लिए लाभदायक ही थी। अतः कमीशन के पास जो सबूत इकट्ठा हुआ

वह इन दोनों पक्षों के खिलाफ था। फलतः तात्कालिक परिणाम तो विरुद्ध पक्ष की दृष्टि से कुछ भी न निकला। पर अग्नि प्रशान्त होने पर भी अपनी कुछ न कुछ निशानी तो छोड़ ही जाती है। उसी प्रकार उस आन्दोलन ने भी नेटाल सरकार पर कुछ न कुछ असर जरूर डाला; और यह स्वाभाविक भी था। नेटाल की सरकार धनिक-वर्ग की हिमायत थी। भारत-सरकार के साथ पत्र-व्यवहार शुरू हुआ, और दोनों पक्षों की सूचनायें वहाँ पहुँचीं। पर भारत-सरकार भी सहसा ऐसी सूचनाओं को कैसे कबूल कर सकती थी, जिनके कारण गिरमिटियों को आजन्म गुलामी में रहना पड़े? भारतीयों को गिरमिट में बाँधकर इतनी दूर भेजने का एक कारण या बहाना यह था कि वे गिरमिट की मीयाद खतम होने पर स्वतन्त्र होकर अपनी शक्तियों को बढ़ा कर अपनी आर्थिक दशा सुधार लें। इस समय नेटाल "क्राउन कालोनी' था। अतः कालोनियल आफिस 'क्राउन कालोनी' के कार्यों के लिए जिम्मेवर माना जाता था, जिससे नेटाल को अपनी अन्यायपूर्ण इच्छा पूरी करने में उससे कोई सहायता नहीं मिल सकती थी। इस तथा ऐसे ही अन्य कारणों को लेकर अब नेटाल में उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन-व्यवस्था की स्थापना के लिए आन्दोलन खड़ा हुआ। और उसे यह सत्ता १८६३-६४ में प्राप्त भी होगयी। अब उसे जोर आया। फिर कालोनियल आफिस को भी नेटाल की मनमानी माँगें स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं मालूम होती थी। नेटाल की इस नवीन सरकार, इस उत्तर-दायित्वपूर्ण शासन-द्वारा भारत-सरकार के पास उस विषय पर बातचीत करने के लिए राजदूत भेजे गये। उन्होंने यह चाहा कि प्रत्येक मुक्त भारतीय पर २५ पौण्ड अर्थात् ३७५) वार्षिक कर रखा जाये। इसका तो यही मतलब था कि न कोई भारतीय

मजदूर इतना भारी कर दे सके और न वह कभी नेटाल में स्वतन्त्र हो पावे। उस समय लार्ड हार्डिञ्ज भारत के बड़े लाट थे। उन्हे यह कर बहुत भारी मालूम हुआ। आखिर उन्होंने यह कुबूल किया कि मुक्त भारतीय ३ पौंड वार्षिक मनुष्य-कर देंगे। यह मनुष्य-कर न केवल मजदूर को ही बल्कि उसकी स्त्री और बारह साल की उम्रवाली लड़की और सोलह वर्ष से अधिक उम्रवाले लड़के को भी देना पड़ता था। शायद ही कोई ऐसा मजदूर होगा जिसके एक स्त्री और दो लड़के न हो। अतः आम तौर पर मजदूर पर प्रति वर्ष १२ पौंड केवल वार्षिक कर देने का भार पड़ता था। इस बात का पूरा-पूरा वर्णन नहीं हो सकता कि यह कर कितना कष्टदायी साबित हुआ। केवल अनुभवी जन ही इस दुःख को जानते हैं, अथवा कुछ-कुछ वह भी समझ सकता है जिसने इन पीड़ितों को स्वयं देखा हो। नेटाल सरकार के इस कार्य के खिलाफ भारतीय जनता ने खूब आन्दोलन मचाया था। बड़ी (ब्रिटिश) सरकार और भारत सरकार को अर्जियाँ भेजी गयीं। पर इसका परिणाम पचीस के तीन पौंड होने के अतिरिक्त कुछ भी न निकला। स्वयं गिरमिटिये तो इस विषय में कर ही क्या सकते थे? वे जानते भी क्या थे? आंदोलन तो केवल व्यापारीवर्ग ने देशभक्ति की दृष्टि से कहिए अथवा परमार्थ की दृष्टि से कहिए, चलाया था।

जो हाल गिरमिटियों का हुआ वही स्वतन्त्र भारतीयों का भी। नेटाल के गोरे व्यापारियों ने उनके खिलाफ भी खास कर इन्हीं कारणों को लेकर एक आन्दोलन शुरू किया। भारतीय व्यापारी अच्छे जम गये थे। उन्होंने अच्छी-अच्छी जगहों पर जमीनें खरीद ली थीं। ज्यों-ज्यों मुक्त भारतीयों की बस्ती बढ़ती गयी, त्यों-त्यों उनकी आवश्यक वस्तुओं की बिक्री भी बढ़ने लगी।

भारत से चावल के हजारो बोरे आने लगे और उनमें खूब नफा मिलने लगा। यह व्यापार खास कर स्वाभाविकरूप से भारतीय व्यापारियो के ही हाथों मे था। हबशियों में भी उनका व्यापार चल निकला। यह बात छोटे गोरे व्यापारियो से नही देखी गयी। फिर इन भारतीय व्यापारियों को किसी अंग्रेज ने यह भी कह दिया कि उन्हें भी कानून के अनुसार नेटाल की धारासभा के सदस्य होने का तथा अपनी ओर से सदस्य चुनने का अधिकार है। कितने ही नाम मतदाताओं में लिखे गये। नेटाल के राजनैतिक गोरे इस बात को नहीं सह सके, क्योकि गोरो को यह एक भारी चिन्ता हो गयी कि यदि इस तरह नेटाल में भारतीयो के पैर जम गये, उनकी प्रतिष्ठा बढ़ गयी तो उनकी प्रतिस्पर्धा मे हम कैसे टिक सकेंगे? अतः उस उत्तरदायी सरकार के लिए सबसे आवश्यक बात यह हो गयी कि वह एक ऐसा कानून बनावे जिससे अब आगे एक भी नवीन भारतीय मतदाता न बढ़ने पावे। १८६४ ई० में इस विषय का पहिला बिल नेटाल की धारासभा में उपस्थित किया गया। इस बिल का यह आशय था कि भारतीयो को महज इसलिए अपना मत देने से रोके जाये कि वे भारतीय हैं। नेटाल में रंगभेद के आधार पर भारतीयो के विषय में बनाया गया यह पहला ही कानून था। भारतीय जनता चौंकी। उसने इसका विरोध किया। एक रात के अन्दर एक दरख्वास्त बनायी गयी और चार सौ भारतीयों के हस्ताक्षर उसपर हुए। यह दरख्वास्त पहुँचते ही धारसभा के कान खड़े हुए। पर कानून पास हो ही गया। उस समय लार्ड रिपन इन राज्यों के प्रधान सचिव थे। उनसे दरख्वास्त की गयी। उसपर दस हजार भारतीयों—लगभग नेटाल की सारी स्वतन्त्र भारतीय जनता—के हस्ताक्षर थे। लार्ड रिपन ने बिल नामजूर किया

और कहा कि ब्रिटिश सल्तनत कानून में रंगभेद को स्थान नहीं दे सकती। पाठकों को आगे चलकर यह अपने आप मालूम हो जायेगा कि यह जीत कितने महत्त्व की थी। नेटाल की सरकार ने इसके उत्तर में एक नया बिल उपस्थित किया। इसमें रंगभेद न था, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से हमला था भारतीयों पर ही। भारतीयों ने इसका विरोध भी जोरों से किया, पर अब की बार वे निष्फल हुए। इस कानून के दो मानी होते थे। उसका स्पष्ट अर्थ कराने के लिए यदि भारतीय चाहते तो आखिरी अदालत अर्थात् ठेठ प्रिवी कौन्सिल तक लड़ सकते थे। पर लड़ना उचित न समझा और अबतक भी मुझे तो यही मालूम होता है कि न झगड़ना ही उचित था। असली बात कुबूल कर ली गयी, यही बड़ा अनुग्रह हुआ। पर नेटाल के गोरों को अथवा वहाँ की सरकार को इतने पर भी संतोष न हुआ। भारतीयों की बढ़ती हुई राजनैतिक सत्ता को तो वे रोकना चाहते ही थे, पर वास्तव में देखा जाय तो उनकी दृष्टि भारतीयों के व्यापार पर और स्वतन्त्र भारतीयों के आगमन पर थी। वे इस खयाल से बेचैन हो रहे थे, कि यदि तीस करोड़ जन-संख्यावाला भारतवर्ष नेटाल की तरफ उलटा तो वहाँ के गोरों का क्या हाल होगा? बेचारे वे तो समुद्र में ही बह जायँगे। नेटाल में चार लाख हबशी और चालीस हजार गोरे, ६० हजार गिरमिटिये (उस समय), १० हजार मुक्त भारतीय तथा १० हजार स्वतन्त्र भारतीय थे। यों तो गोरों को डरने का कोई विशेष महत्त्वपूर्ण कारण न था। पर डरे हुए आदमी को दलीलों और मिसालों से कौन समझा सकता है? भारत की दीन-हीन अवस्था का तथा यहाँ की रीति-नीतियों का उन्हें जरा भी ज्ञान न था। अतः उनके दिल में यह एक ख्याल घुस बैठा था कि जैसा साहसी और शक्तिमान् खुद है, वैसे ही भारतीय भी

होंगे। अतः उन्होंने त्रैराशिक के हिसाब से भारतीयो की शक्ति का अनुमान कर लिया। पर इसमें उनका क्या दोष है ? जो हो, आखिर नतीजा यह निकला कि नेटाल की धारासभा ने दो कानून और बना लिये। उसमें भी मतविषयक लड़ाई में जीत मिलने के कारण, रंगभेद को दूर ही रखना पड़ा और गर्भित भाषा से काम चलाना पड़ा और उसीके बदौलत स्थिति में अन्तर न पड़ा। भारतीय जनता इस बारभी खूब जूझी; पर कानून तो यथाविधि स्वीकृत हो ही गया। एक के द्वारा भारतीयों के व्यापार पर और दूसरे के द्वारा भारतीयों के आगमन पर कठोर अंकुश रख दिया गया। पहले कानून का आशय था कि कानून के द्वारा नियुक्त अधिकारी की आज्ञा के बिना किसी को व्यापार का लाइसेंस न दिया जाय। व्यवहार में गोरा चाहे किसी भी प्रकार व्यापार का लाइसेंस आसानी से ला सकता था। पर यदि कोई भारतीय लाइसेंस के लिए प्रार्थना करता तो उसे बड़ी मुसीबतों के बाद कहीं वह मिलता। बेचारे को वकीलों का खर्च भी देना पड़ता। दूसरे कानून का आशय यह था कि वही भारतीय नेटाल में प्रवेश कर सकता है, जो यूरोप के किसी भी एक भाषाभाषियो में शामिल हो सकता है। फलतः करोड़ों भारतीयों के लिए तो नेटाल के दरवाजे बिलकुल बन्द हो गये। शायद मुझसे जान या अनजान में नेटाल के साथ अन्याय न होने पावे, इसलिए यहाँपर यह कह देना जरूरी है कि यह कानून बनने के पहले यहाँका एक नागरिक बना हुआ भारतीय यदि भारत अथवा अन्य किसी देश में जाकर फिर लौटकर आवे तो वह अपनी विवाहित स्त्री और नाबालिग बालकों सहित यूरोप की भाषा बिना ही जाने नेटाल में प्रवेश पा सकता था। इसके अतिरिक्त नेटाल मे गिरमिटिया और स्वतन्त्र भारतीयों

पर कानून की कितनी ही अन्य रुकावटें थीं और अबतक हैं। पर मैं पाठकों को इन तफसीली बातों में नहीं ले जाना चाहता इस पुस्तक का विषय समझने के लिए जिन बातों के समझ लेने की आवश्यकता है उन्हींको लिखने का निश्चय है। पाठक यह जान सकते हैं कि दक्षिण अफ्रीका के प्रत्येक राज्य में रहने-वाले भारतीयों का इतिहास बहुत विस्तृत हो सकता है पर वह इस पुस्तक के उद्देश के बाहर की बात है।

(५)

पिछली मुसीबतों पर एक नज़र

[ट्रान्सवाल और दूसरे राज्य]

नेटाल की तरह कम-अधिक परिमाण में दक्षिण अफ्रिका के अन्य राज्यों में भी भारतीयों के प्रति सन १८८० से ही द्वेषभाव फैल रहे थे। केप कालोनी को छोड़कर दूसरे सब राज्य यही समझते थे कि भारतीय मजदूर की हैसियत से तो बड़े काम के आदमी हैं। दूसरे गोरों के दिल में यह बात सूत्ररूप में जम गयी थी कि उनके स्वतन्त्र नागरिक होने से तो गोरों को सिवा नुक़सान के और कुछ नहीं है। ट्रान्सवाल तो प्रजासत्तात्मक राज्य था। वहाँ के प्रेसिडेन्ट (अध्यक्ष) के सामने भारतीयों का यह कहना कि हम ब्रिटिश प्रजा हैं मानों अपनी हँसी करा लेना था। भारतीयों को जो कुछ शिकायत करनी हो, वे केवल अंग्रेज राजदूत से कर सकते हैं। पर आश्चर्य की बात तो यह थी कि जब ट्रान्सवाल स्वतन्त्र था तब अंग्रेजी राजदूत भारतीयों की जो सहायता कर सकता था वही (सहायता) ट्रान्सवाल अंग्रेजी साम्राज्य के अंतर्गत होने पर उससे न हो सकती थी। जब लार्ड मोर्ले भारत मन्त्री थे, तब ट्रान्सवाल के भारतीयों की ओर से उनके पास एक शिष्ट-मण्डल गया था।

उन्होंने साफ़-साफ कहा था कि 'उत्तरदायी शासन-संस्थाओं पर बड़ी (साम्राज्य) सरकार बहुत कम अंकुश रखती है। स्वतंत्र राज्यों को हम लड़ाई का डर भी दिखा सकते हैं पर साम्राज्य के उत्तरदायी शासन-व्यवस्था रखने वाले राज्यों से तो हम केवल सिफारिश भर कर सकते हैं। वे और हम कच्चे सूत से बँधे हुए हैं। जरा अधिक तानने लगे कि टूटा। बल से तो काम लिया ही नहीं जा सकता। विश्वास रखिए कि, जहाँ तक युक्ति से काम लिया जा सकता है, वहाँ तक मैं अपनी शक्तिभर प्रयत्न करूँगा"। लार्ड लैन्सडाउन और लार्ड सेलबर्न आदि अंग्रेजी अधिकारियों ने कहा था कि ट्रान्सवाल के साथ जो युद्ध घोषित करना पड़ा उसके अनेक कारणों में एक वहाँ के भारतीयों की दुःखद अवस्था भी थी।

आइए, अब हम इन दुःखों की जाँच करें। ट्रान्सवाल में पहले-पहल भारतीय १८८१ में दाखिल हुए। स्वर्गीय सेठ अबूबकर ने ट्रान्सवाल की प्रधान नगरी प्रिटोरिया में अपनी दूकान खोली और उसके एक मुख्य मुहल्ले में जमीन भी खरीद ली। अन्य व्यापारी भी एक के बाद एक वहाँ पहुँचे। उनका व्यापार वहाँ खूब चल निकला। स्वभावतः गोरे व्यापारियों के दिल में इनके प्रति ईर्ष्या पैदा हुई। समाचारपत्रों में भारतीयों के खिलाफ लेख लिखे जाने लगे। भारतीयों को निकाल देने और उनका व्यापार बंद करने के लिए धारासभाओं में दरख्वास्तें आने लगीं। नये प्रदेश में गोरों की धन-तृष्णा बेहद बढ़ गयी थी। नीति-अनीति का ख्याल उन्हें न रहा। धारासभाओं में उन्होंने जो दरख्वास्तें भेजी थी, उनमें ऐसे वाक्य हैं:-, 'ये लोग (भारतीय व्यापारी) यही नहीं जानते कि मानवी सभ्यता क्या चीज है। व्यभिचार से पैदा हो जाने वाले रोगों से वह सड़ रहे हैं। औरत

को अपना शिकार, और उन्हे आत्मांहीन मानते हैं।" इन चार वाक्यो में चार भारी-भारी झूठ बातें हैं। यों तो और भी उनकी झूठ के कितने ही नमूने पेश किये जा सकते हैं। जैसी जनता वैसे ही उसके प्रतिनिधि। हमारे व्यापारियो को इस बात का कैसे ख्याल हो सकता है कि उनके खिलाफ ऐसे-ऐसे बेहूदे तथा अन्याय-भरे आन्दोलन किये जा रहे हैं? वे तो समाचार-पत्र भी नही पढ़ते थे। समाचार-पत्रो तथा दरख्वास्तों के द्वारा चलायी गयी इस हलचल का प्रभाव धारासभा पर भी अवश्य ही पड़ा और उसमें एक बिल पेश किया गया। ये खबर भारतीय नेताओ के पास पहुँची और वे चौंके। वे प्रेसीडेन्ट क्रूगर के पास गये। स्वर्गीय प्रेसीडेन्ट साहब ने तो उन्हे अपने घर में भी पैर नही रखने दिया। घर के बाहर ही उन्हे खड़े करके उनको बाते कुछ सुनी-अनसुनी करके कहा:—आप तो इस्माइल की औलाद हैं। अतः आप ईसा की औलाद की गुलामी करने ही के लिए पैदा हुए हैं। हम ईसा की औलाद हैं। हमारी बराबरी में आपको कैसे हक मिल सकते हैं? हम जो कुछ दें उसी मे आपको संतोष मानकर रहना चाहिए।" हम नहीं कह सकते कि इसमें जरा भी द्वेष या रोष था। प्रेसीडेन्ट साहब को शिक्षा ही ऐसी मिली थी। बचपन ही से बाईबिल के पुराने इकरार में बतायी बातें उन्हे पढ़ायी गयी थीं। और उनमें उनका विश्वास हो गया था। और यदि कोई मनुष्य जिस बात को वह मानता हो उसे वैसा ही शुद्ध हृदय से स्पष्ट शब्दो में कहे तो इसमें उसका कौन दोष है? पर फिर भी इस निर्दोष अज्ञान का भी खराब असर तो होता ही है। नतीजा यह हुआ कि १८८२ ईसवी में एक बड़ा ही सख्त कानून जल्दी-जल्दी में मंजूर कर लिया गया। मानो हजारों भारतीय ट्रान्सवाल को लूटने ही के लिए तैयार

बैठे हों। ब्रिटिश राजदूत को भारतीय नेताओं की प्रेरणा से इस कानून के खिलाफ खड़ा होना पड़ा। मामला राज्यों के प्रधान-मन्त्री तक पहुँचा। कानून का आशय था कि प्रत्येक आगन्तुक भारतीय से २५ पौंड प्रवेश कर लिया जाय। उसे एक इञ्च भर जमीन भी ट्रान्सवाल में न दी जाय, न वह धारासभा का मत-दाता हो सकता है। यह कानून इतना अनुचित था कि ट्रान्स-वाल सरकार को उसके समर्थन के लिए कोई दलीलें सोचे नहीं सूझती थीं। ट्रान्सवाल सरकार और बड़ी सरकार के बीच एक सुलहनामा था, जिसका नाम था "लन्दन कन्वेन्शन" उसमें अंग्रेजी प्रजा के स्वत्वों की रक्षात्मक एक धारा भी थी। इस धारा के अनुसार बड़ी सरकार ने उस अन्याय-पूर्ण-विधान का विरोध किया। ट्रान्सवाल सरकार ने कहा कि उस विधान की रचना में स्वय बड़ी सरकार की ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सम्मति मिल चुकी थी।

इस प्रकार दोनों में मतभेद होने के कारण मामला पचों के पास गया। पर पचों का फैसला भी पगु रहा। उसने दोनों पक्षों को प्रसन्न करने की कोशिश की। परिणाम यह हुआ कि इस बार भी भारतीयों की हानि हुई। ज्यादा नहीं, कम हानि हुई। पचों के फैसले के अनुसार १८८७ में कानून में संशोधन हुआ। रियाअत इतनी मिली कि २५ पौण्ड के बदले आगन्तुक भार-तीयों पर प्रवेश-कर ३ पौंड रक्खा जाय। 'इञ्चभर जमीन भी न दी जाय' इसके बदले यह तय हुआ कि ट्रान्सवाल की सरकार जहाँ बतावे वहाँ उन्हें जमीनें भी मिल सकती हैं। इस धारा को व्यवहार में लाने से भी ट्रान्सवाल सरकार ने जी चुराया। उसने ऐसे जरखरीद जमीन लेने के हक तो दिये ही नहीं। उन्होंने उन शहरों में जहाँ भारतीयों की बस्ती थी, उन्हें शहर

से बहुत दूर ऐसी जगह जमीनें दीं जो गंदी से गंदी थीं। पानी और प्रकाश का प्रबन्ध भी बिल्कुल खराब, टट्टियाँ साफ करने का इन्तज़ाम भी वैसा ही खराब था। अर्थात् हम ट्रान्सवाल की "पंचम" जाति बन गये। इसी से यह कहा जा सकता है कि भारत के अंत्यजों के मुहल्ले और ट्रान्सवाल के भारतीय-निवासों में कोई अन्तर नहीं है। वहाँ की स्थिति यहाँ तक बढ़ गयी है कि जैसे यहाँ पर उच्च हिन्दू अस्पृश्य जाति के मनुष्य के स्पर्श से अपने को अपवित्र समझते हैं ठीक उसी प्रकार वहाँ के गोरे भी भारतीयों के स्पर्श को मानते हैं। फिर ट्रान्सवाल की सरकार ने इस १८८७ के कानून का यह अर्थ किया ? भारतीय व्यापारी व्यापार भी अपने इन्हीं मुहल्लों में कर सकते हैं। ट्रान्सवाल सरकार का ऊपर बताया अर्थ ठीक है या नहीं, इस बात पर फैसला देने का अधिकार पंचों ने वहीं के अदालत के अधीन रक्खा। इससे भारतीय व्यापारियों की हालत और भी नाजुक हो गयी। इतने पर भी उन्होंने सलाह मशवरा किया। कहीं-कहीं मुकदमे भी चलाये। सिफारिश आदि के द्वारा भी भारतीय व्यापारियों ने अपनी परिस्थिति की रक्षा की। बोअर-युद्ध के आरम्भ तक ट्रान्सवाल-निवासी भारतीयों की ऐसी दुःखद और अनिश्चित अवस्था थी।

अब हम फ्री-स्टेट को देखें। वहाँ तो दस-पन्द्रह दुकानें भी नहीं हो पायी थीं कि वहाँ गोरों ने जमीन-आसमान एक कर दिया। वहाँ की धारासभा ने दक्षता से काम लिया और मैदान साफ ही कर डाला। एक सख्त कानून बनाया, भारतीयों की नुकसानी का न कुछ बदला दिया, और भारतीय व्यापारियों को फ्री-स्टेट से निकाल कर दिया। कानून का आशय था कि व्यापारी अथवा किसान की हैसियत से भी भारतीय वहाँ का स्थायी

निवासी नहीं बन सकता। मतदाता तो हो ही नहीं सकता। विशेष आज्ञा प्राप्त करने पर वह मजदूर तथा होटलों में वेटरों के तौर पर रह सकता है। पर सभी प्रार्थियों को ऐसी आज्ञा मिलती हो सो भी नहीं। हालत यहाँ तक थी कि कोई प्रतिष्ठित भारतीय फ्री-स्टेट में दो चार दिन रहना चाहे, तो उसमें भी उसे बड़ी कठिनाइयाँ सहनी पड़तीं। बोअर-युद्ध के समय वहाँ चालीस भारतीय गरीब वेटरों के सिवा और कोई नहीं था।

केप कालोनी मे यद्यपि भारतीयों के खिलाफ थोड़ी-बहुत हलचल हुआ करती, पाठशालाओं में भारतीय बालक नहीं लिये जा सकते थे, भारतीय मुसाफिर होटलों में मुश्किल से उतर सकते,- भारतीयों की इस प्रकार अवगणनायें तो वहाँ भी बहुत हुआ करती थीं तो भी व्यापार-वाणिज्य अथवा जमीन की मालिकी के विषय में कोई प्रतिरोध वहाँ अधिक समय तक न था।

इसका कारण बता देना जरूरी है। हम देख चुके हैं कि एक तो प्रधानत. केप टाउन मे और सामान्यतः केप कालोनी में मलायी लोगों की बस्ती ठीक तादाद में थी। मलायी लोग मुसलमान थे। अतः भारतीय मुसलमानों से उनका सम्बन्ध फौरन हो गया और उनके साथ-साथ कुछ-कुछ हिन्दुओं का भी हो ही गया। फिर कितने ही भारतीय मुसलमानों ने वहाँ की मलायी स्त्रियों के साथ विवाह-सम्बन्ध भी कर लिया। केप कालोनी की सरकार मलायियों के खिलाफ किसी कानून को रचना कैसे कर सकती थी? केप कालोनी तो उनकी जन्म भूमि ठहरी। उनकी भाषा भी डच थी। डच लोगों के साथ वे पहले से रहे हुए थे। अर्थात् उनकी रहन-सहन भी डच लोगों की-सी हो गयी थी। इन कारणों से केप कालोनी में रगद्वेष कम से कम रहा है। फिर केप कालोनी दक्षिण अफ्रीका का सब से पुराना राज्य

और शिक्षा का केन्द्र हैं, इसलिए वहाँ प्रौढ़, विनयी और उदार-चेता गोरे भी पैदा हुए। मेरा तो ख्याल है कि संसार में ऐसा एक भी स्थान और जाति नहीं कि जिससे यथा समय और संस्कृति मिलने पर बढ़िया से बढ़िया मनुष्य-पुष्प न पैदा होते हों। दक्षिण-अफ्रीका में सभी स्थानो पर मै इसके उदाहरण सौभाग्यवश देख चुका हूँ। पर केप कालोनी में मुझे इसके उदाहरण अधिक सख्या में मिले। उनमें सबसे अधिक विद्वान और विख्यात है श्री मेरीमैन। इन्हें लोग दक्षिण अफ्रीका के ग्लैडस्टन कहते। केप कालोनी मे आप अध्यक्ष भी रह चुके हैं। यदि श्री. मेरीमैन के जैसे श्रेष्ठ नही तो उनसे दूसरे नम्बर में वहाँ के श्राइनर और मोल्टोनों के परिवार हैं। कानून के विख्यात हिमायती श्री. डब्ल्यू. पी, श्राईनर इसी श्राईनर-परिवार मे हो गये हैं। केप कालोनी के प्रधान मण्डल मे भी वे रह चुके हैं। उनकी बहन ओलिव श्राईनर दक्षिण अफ्रीका में बडी लोकप्रिय महिला है। जहाँ-जहाँ तक अंग्रेजी भाषा बोली जाती है वहाँ-वहाँ तक उनका नाम विख्यात है। मनुष्य मात्र पर उनका असीम प्रेम था। जब देखिए तब यही मालूम होता कि उनकी आँखों से अविरल प्रेम की धारा वह रही है। इसी देवी ने वह "ड्रीम्स" नामक पुस्तक लिखी है। ड्रीम्स की लेखिका के नाम से उनकी कीर्ति चारों ओर तभी से फैली है। उनका स्वभाव इतना सरस और सीधा-सादा था कि इतने बड़े खानदान में पैदा होकर और इतनी बड़ी विदुषी होने पर भी घर पर वे अपने बर्तन खुद ही साफ करतीं। श्री मेरीमैन और ये दोनों परिवार हमेशा हबशियो का पक्ष लेते और जब-जब उनके हक्कों पर हमला होता तब तब उसके लिए वे झगड़ते। और यद्यपि वे सब भारतीयों और हबशी लोगो को भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखते

तथापि उनकी प्रेम-धारा भारतीयों की ओर भी अवश्य बहती। उनकी दलील यह थी कि हबशी लोग गोरों के पहले से यहाँ रह रहे हैं और उनकी यह मातृभूमि है। इसलिए उनका स्वाभाविक अधिकार गोरो से नहीं छीना जा सकता। किन्तु प्रतिस्पर्धा के भय से बचने के लिए यदि भारतीयों के खिलाफ कुछ कानून बनाये जायें तो वह बिल्कुल अन्यायपूर्ण नहीं कहा जा सकता। पर इतने पर भी उनका हृदय तो हमेशा भारतीयों की ओर ही झुकता। स्वर्गीय गोपाल कृष्ण गोखले जब दक्षिण अफ्रीका पधारे थे तब उनके सम्मान में केपटाउन हाल में जो सभा बुलायी गयी थी उसके अध्यक्ष श्री श्राइनर ही थे। श्री मेरीमैन ने भी उनसे बड़े प्रेम और विनयपूर्वक बातचीत की और भारतीयों के प्रति अपना प्रेम-भाव दर्शाया। केपटाउन के समाचार पत्रों में भी पक्षपात की मात्रा इधर-उधर समाचार-पत्रों की अपेक्षा सदा कम रहती।

श्री मैरीमैन के विषय में मैं जो कुछ लिख गया वह दूसरे गोरों के विषय में भी कहा जा सकता है। यहाँ तो बतौर उदाहरण के उपर्युक्त सर्वमान्य नामों का उल्लेख किया है। ऊपर बताये कारणों से केप कालोनी में रंगद्वेष हमेशा बहुत कम परिमाण में रहता। किन्तु यह कैसे हो सकता है कि जो वायु दक्षिण अफ्रीका के उन तीनों राज्यों में बहती उसका असर केप कालोनी में बिल्कुल ही न पहुँचता? इसलिए नेटाल ही की तरह वहाँ भी भारतीयों के प्रवेश और व्यापार को रोकने के लाइसेंस (परवाने) देने के क़ानून गढ़े गये। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि अबतक जो दक्षिण अफ्रीका का दरवाजा भारतीयों के लिए खुला था सो बोअर-युद्ध के समय तक क़रीब-क़रीब बिल्कुल बन्द हो गया। ट्रान्सवाल में उन तीन पौण्डों के अतिरिक्त कोई रुकावट

न थी। किन्तु ट्रान्सवाल केप कालोनी और नेटाल के बीच में है। इसलिए जब नेटाल और केप के बन्दरगाह बन्द हो, तब भारतीय प्रवासी कहाँ उतर सकते थे ? एक रास्ता जरूर रहा। और वह था पोर्चुगीजी बन्दरगाह डेल गोआबे। पर वहाँ भी न्यूनाधिक परिमाण में अंग्रेजी राज्यों का अनुकरण होने लगा। तथापि यह कह देना आवश्यक है कि इतने पर भी अनेक रहे-सहे भूले-भटके भारतीय असीम कठिनाइयों का सामना करते हुए तथा रिशवतें दे-देकर ट्रान्सवाल में अपना प्रवेश कर लिया करते।

भारतीयों ने क्या किया ?

भारतीय जनता की स्थिति का विचार करते हुए हम पिछले अध्यायों में कुछ हद तक यह देख चुके हैं कि भारतीयों ने अपने पर किये गये आक्रमणों को किस तरह झेला। किन्तु सत्याग्रह की पूरी-पूरी कल्पना होने के लिए पाठकों को एक-आध अध्याय द्वारा यह बता देना जरूरी है कि उनकी सुरक्षितता के लिए और कौन-कौन से प्रयत्न किये गये। १८९३ ई० तक दक्षिण अफ्रीका में ऐसे सुशिक्षित और स्वतन्त्र भारतीय बहुत कम थे जो अपने देश-भाइयों के लिए झगड़ सकें। अंग्रेजी पढ़े-लिखों के नाम से अंग्रेजी जाननेवाले भारतीयों में केवल "महेता" अर्थात् गुमाश्ता-वर्ग था। वे तो अपने काम के लायक ही थे। अंग्रेजी में दरख्वास्तें वगैरा वे नहीं लिख सकते फिर उनका यह भी कर्त्तव्य था कि अपना सारा समय अपने मालिकों को ही दें। इसके अतिरिक्त एक और भी वर्ग था, दक्षिण अफ्रीका में ही पैदा हुए भारतीय जो अंग्रेजी जानता था। अधिकांश में तो वे गिरमिटियों की प्रजा थे। उनमें भी अगर किसी ने कुछ योग्यता प्राप्त की हो तो वह अदालतों में दुभाषिये का काम करके। ऐसे आदमी जबानी हमदर्दी दिखाने

के अलावा अधिक क्या सेवा कर सकते हैं ? फिर गिरमिटिया और मुक्त भारतीय प्रधानतः युक्तप्रान्त और मद्रास से आये हुए लोग थे। स्वतन्त्र भारतीय थे मुसलमान और उनमें भी अधिकांश व्यापारी और जो हिन्दू थे, वे गुमाश्ता लोग थे—यह हम पिछले अध्यायों में देख ही चुके हैं। इसके अतिरिक्त कुछ पारसी व्यापारी और गुमाश्ते भी थे। पर सारे दक्षिण अफ्रीका भर में पारसियों की बस्ती ३०-४० से अधिक न होगी। स्वतन्त्र व्यापारियों में एक चौथा विभाग भी था। इनमें सिंध से आये हुए व्यापारी थे। भारत के बाहर वे जहाँ-जहाँ गये हैं वहाँ-वहाँ वे एक ही प्रकार का व्यापार करते हैं। वहाँ वे "फेन्सी गुड्स" के व्यापारी के नाम से जाने जाते हैं। 'फेन्सी गुड्स" से मतलब है रेशम-जरी आदि का सामान, बम्बई के शीशम, चन्दन, हाथी-दाँत आदि का बना नक्काशीदार सन्दूक तथा अनेक प्रकार की शोभा की चीजें। उनके ग्राहक अक्सर गोरे ही होते हैं।

गिरमिटियों को गोरे अक्सर कुली ही कहते हैं। कुली यानी मजदूर। यह नाम वहाँपर इतना चल निकला कि स्वयं गिरमिटिये अपने को कुली कहते हुए नहीं शरमाते थे। बाद में यह नाम तमाम भारतीयों तक को वे लगाने लग गये। अर्थात् भारतीय व्यापारी और भारतीय वकील को गोरे क्रमशः 'कुली व्यापारी' और 'कुली वकील' ही कहते। कितने ही गोरों को यह ख्याल तक नहीं होता कि इस तरह पुकारने में कोई बुराई है। बल्कि कितने ही तो तिरस्कार प्रदर्शित करने के लिए इन शब्दों का प्रयोग करते। फल यह होता है कि स्वतन्त्र भारतीय अपने को गिरमिटियों से भिन्न जताने का यत्न करते। इस कारण से तथा जिन कारणों को हम स्वयं भारत ही से ले जाते हैं उनसे स्वतंत्र भारतीय और गिरमिटिया तथा गिरमिट-मुक्त भारतीयों के

बीच दिन ब दिन भेद बढ रहा था।

दु:ख के इस महासागर को बढते हुए रोकने का काम पहले पहल स्वतन्त्र भारतीयों ने और खास कर मुसलमान व्यापारियों ने शुरू किया। गिरमिटिया और गिरमिट-मुक्त भारतीय इसमें शामिल नहीं किये गये। न उन्हें इसका ख्याल ही रहा होगा और अगर सूझा भी होता तो उनको शामिल कर लेने से काम सुधरने की अपेक्षा बिगड़ने का ही अधिक डर था। दूसरे, लोगों ने सोचा कि मुख्य आपत्ति तो स्वतन्त्र व्यापारी वर्ग पर ही है। इसीलिये रक्षात्मक आन्दोलन ने इतना संकुचित रूप धारण किया था। इतनी कठिनाइयों के होते हुए, अंग्रेजी भाषा के ज्ञान का अभाव होते हुए और सार्वजनिक आन्दोलनों का भारत में अनुभव न होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि स्वतन्त्र वर्ग अपनी मुसीबतों से खूब झगड़ा। उन्होंने गोरे वकीलों की सहायता ली, दरख्वास्तें पेश कीं, समय-समय पर शिष्ट-मण्डल भी भेजे, और जहाँ-जहाँ हो सका बलप्रयोग भी किया। १८९३ ई० तक यह हालत थी।

इस पुस्तक का आशय ठीक-ठीक समझने के लिये पाठकों को कुछ-कुछ तारीखें याद रखनी होंगी। पुस्तक के अन्त में मुख्य घटनाओं का तारीखवार परिशिष्ट दिया गया है। अगर पाठक उसे बार-बार देख लिया करेंगे तो उन्हें आन्दोलन का रहस्य और रूप समझने में सहायता होगी। १८९३ ई० तक वहाँ की परिस्थिति इस प्रकार थी। फ्री-स्टेट से हमारे बोरिये बिस्तर बँध चुके थे। ट्रान्सवाल में १८८५ का कानून शुरू था। नेटाल में यह विचार चल रहा था कि किस प्रकार केवल गिरमिटियों को रखकर दूसरे भारतीयों को नेटाल से बाहर निकाला जाय। और इसी लिए उत्तरदायित्वपूर्ण शासन व्यवस्था भी उसने ले रक्खी थी।

अप्रैल १८९३ ई० में मैं भारत से दक्षिण अफ्रीका जाने के

लिए रवाना हुआ। मुझे वहाँ के इतिहास का जरा भी ज्ञान न था। मैं तो केवल स्वार्थ-भाव से गया था। पोरबंदर के मेमनों की दादा अबदुल्ला के नाम की एक प्रख्यात दूकान डर्बन में थी। उतनी ही प्रख्यात एक दूसरी दूकान उनके प्रतिस्पर्धी और पोरबंदर के मेमन तैयब हाजी खान महम्मद की प्रिटोरिया में थी। दुर्भाग्यवश इन दो प्रतिस्पर्धियों के बीच एक मामला चल रहा था। इस समय दादा अब्दुल्ला के एक साझी ने, जो पोरबंदर में थे, सोचा कि मेरे जैसा यदि एक नौसिखिया ही सही किंतु बैरिस्टर वहाँ जाय तो उसे बहुत फायदा हो। उन्हें यह भय न था कि एक अनजान और मूढ़ वकील की तरह मैं उनके मामले को बिगाड़ डालूँगा। क्योंकि मुझे अदालत में जाकर काम नहीं करना था। मुझे तो उनके नियुक्त किये बड़े बड़े वकील बैरिस्टरों को समझाने का अर्थात् दुभाषिये का काम करने के लिए रक्खा था। मुझे नवीन अनुभवों का बड़ा शौक था। सफर का भी शौक था। बैरिस्टर होने पर भी कमीशन देना तो वहाँ मुझे विष के समान लगता था। काठियावाड़ की बन्दिशों से मेरा चित्त दुखी रहता था। मुझे एक ही साल के लिए जाना। मैंने सोचा उसमें मेरी जरा भी असुविधा नहीं। हानि तो तिलभर भी न थी। क्योंकि मेरे जाने आने का और वहाँ रहने का खर्च तो दादा अबदुल्ला देने वाले थे और इसके अतिरिक्त १०५ पौंड भी। मेरे स्वर्गीय भ्राता के द्वारा सब बातें हुई थीं। मेरे लिये तो वे पिता के स्थान पर ही थे। उनकी अनुकूलता मेरी अनुकूलता थी। दक्षिण अफ्रीका जाने की बात उन्हें बहुत पसन्द हुई, और मैं १८९३ के मई में डर्बन जा पहुँचा।

मैं तो बैरिस्टर ठहरा। फिर क्या पूछना था? जैसा कि मैंने सोच रक्खा फ्राक कोट आदि बढ़िया कपड़े डाटकर बड़े

रोब के साथ मैं जहाज से उतरा । पर उतरते ही मेरी आँखें खुल गईं । दादा अबदुल्ला के जिन साझेदार के साथ मेरी बात-चीत हुई थी, उन्होंने यहाँ का जो वर्णन सुनाया था, वह तो मुझे सब उलटा ही उलटा दिखाई दिया पर यह उनका दोष न था। उनका भोलापन सरलता और परिस्थिति का अज्ञान था। उन्हें उन सब मुसीबतों का खयाल न था, जो नेटाल में भारतीयों पर पड़ती हैं। साथ ही भारी अपमान भरी बातें उनके दिल को अप-मानजनक न मालूम हुईं। मैंने तो पहिले ही दिन देख लिया कि वहाँ पर गोरे लोग हमारे साथ बड़ी बुरी तरह पेश आते हैं।

नेटाल में उतरने पर पंद्रह दिन तक मुझ पर जो जो मुसी-बतें पड़ीं--अदालतों में जो कड़ुआ अनुभव हुआ, रेलों में जो तकलीफें उठाईं, रास्तों पर जो पिटाई हुई, होटलों में जो असुवि-धायें सहीं, लगभग निकाला गया, इन सब का वर्णन मैं नहीं कर सकता। पर इतना जरूर कहूँगा कि ये तमाम अनुभव मेरे रगो-रेशे मे पैठ गये। मैं केवल एक ही मामले के लिए गया था। और सो भी स्वार्थ और कुतूहल की दृष्टि से। अर्थात् इस वर्ष तो मैं इन दुःखों का केवल साक्षी और अनुभवी मात्र रह सका। पर मेरे धर्म ने उसी समय से मेरी आँखें खोल दीं । मैंने देखा कि स्वार्थ की दृष्टि से दक्षिण अफ्रीका मेरे लिए एक बेकार देश है। जहाँ अपमान हो रहा हो, वहाँ धन कमाने अथवा सफर करने का भी लोभ मुझे तिल-मात्र न था। इतना ही नहीं, बल्कि वहाँ ठहरना भी मुझे तो असह्य मालूम हो रहा था। मेरे सामने एक धर्म संकट आकर उपस्थित हुआ। एक तरफ दिल यह कहता कि जिस स्थिति का मुझे ख्याल तक न था, वह यहाँ खड़ी है, यह कहकर दादा अबदुल्ला के इकरार से मुक्ति प्राप्त कर स्वदेश को भाग जाऊँ और, दूसरी ओर वह यह कह रहा था कि तमाम

मुसीबतों का सामना करके अंगीकृत कार्य को पूरा करूं। भीषण जाड़ा पड़ रहा था। मैरित्सबर्ग के स्टेशन पर पुलिस के धक्के खाकर आगे जाना मुल्तवी करके मै वेटिंग रूम मे बैठा था। यह खबर भी न थी कि असबाब कहाँ पड़ा है, न किसी से पूछने की कुछ हिम्मत होती थी। डर यह था कि कहीं ऐसा ही अपमान और न हो जाय—पिटना न पड़े। इस हालत में मैं मारे जाड़े के कांप रहा था। नींद कहाँ से नसीब हो सकती है ? आखिर चित्त जरा स्थिर हुआ। बड़ी रात को मैं इस निश्चय पर पहुँचा कि अंगीकृत कार्य को अवश्य पूरा करना चाहिए। व्यक्तिगत अपमान सहन करके यदि पिटना पड़े तो पिट कर भी प्रिटोरिया जरूर पहुँचना चाहिए। प्रिटोरिया मेरे लिए केन्द्रस्थान था। मामला वहीं चलता था। अपना काम करते हुए अगर कुछ हो सके तो जरूर करना चाहिए। यह निश्चय करने पर मुझे कुछ कुछ शांति प्राप्त हुई। हृदय में कुछ उत्साह भी आया। पर नींद तो जरा भी न आई।

दिन निकलते ही फौरन् मैंने एक तार तो दादा अब्दुल्ला की दूकान को और दूसरा रेल्वे के जनरल मैनेजर को दिया। दोनों स्थानो से जवाब भी आ गये। दादा अब्दुल्ला और वहाँ उस समय रहनेवाले उनके साझी सेठ अब्दुल्ला हाजी झवेरी ने फौरन् सब उचित प्रबन्ध कर दिया। स्थान-स्थान पर रहनेवाले अपने आढ़तियों को मेरी सहायता करने के लिए तार कर दिये। तदनुसार मैरित्सबर्ग के भारतीय व्यापारी लोग मुझे आकर मिले। उन्होंने मेरी खूब दिलजमई करते हुए कहा कि मेरे-जैसे कई कड़ुए अनुभव उन सबको भी हुए थे, पर वे उनके आदी हो गये थे, इसलिए उसमें उनको कोई विशेष अपमानजनक बात न मालूम होती थी। व्यापार भी करना और

मानापमान का भी विचार करना ये दोनों बातें साथ-साथ नहीं हो सकतीं। अर्थात् धन के साथ-साथ अपमान भी हो, तो वह उनके लिए एक संग्रहणीय वस्तु थी। उन्होंने मुझे यह भी कहा कि इसी स्टेशन पर भारतीयों के मुख्य दरवाजे से आने की मुमानियत है और उन्हें टिकट वगैरा लेते समय भी खूब तकलीफ होती है। उसी रोज रात को गाड़ी से मैं रवाना हुआ। मैं अपने निश्चय का पक्का हूँ या कच्चा इस बात की परमात्मा ने भी पूरी परीक्षा की। प्रिटोरिया पहुँचने तक मुझे और भी कई बार अपमान सहना पड़ा और पिटना भी पड़ा। पर उन सबका मेरे दिल पर ऐसा ही असर हुआ जिससे मेरा निश्चय और भी दृढ़ होता गया।

इस प्रकार सन् १८६३ में दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों की स्थिति का पूरा-पूरा अनुभव मुझे अनायास ही हो गया। समय पाकर मैं प्रिटोरिया के भारतीयों से उस विषय में बात-चीत करता, उन्हें समझाता। पर इससे ज्यादा मैंने कुछ नहीं किया। मैंने देखा कि दादा अब्दुल्ला के मामले को चलाना और साथ ही भारतीयों के दु:खों के निवारण की चिंता करना ये दो-दो बातें एक साथ नहीं हो सकतीं, क्योंकि दोनों को करने जाऊँगा तो दो में से एक काम भी अच्छा न होगा। इस तरह विचार करते-करते १८६४ साल लगा। मामला भी खतम हो गया। मैं डर्बन वापिस लौटा। भारत लौटने के लिए तैयारियाँ कीं। दादा अब्दुल्ला ने मेरी रुखसत के उपलक्ष में एक सभा निमन्त्रित की। वहाँ किसी ने डर्बन का 'मर्क्युरी' नामक अखबार मेरे हाथों में लाकर रख दिया। उसमें धारा-सभा की कार्रवाई की रिपोर्ट में 'भारतीयों को मताधिकार (इण्डियन फ्रेंचाइज)' आदि शीर्षकों के नीचे मैंने कुछ सतरें पढ़ीं।

उसमें मैंने देखा कि भारतीयों के तमाम अधिकार छीनने की यह शुरूआत है। वहाँके भाषणों ही से उनका यह उद्देश स्पष्ट मालूम होता था। सभा में आये हुए सेठ-साहूकारों जो वह दिखाया और जहाँतक मुझसे हो सका उन्हें समझाया। क्योंकि मैं पूरी-पूरी कथा तो जानता ही न था। मैंने उनसे कहा कि भारतीयों को चाहिए कि इस आक्रमण का यथोचित उत्तर दें। उन्होंने मेरी बात को मंजूर किया। पर साथ ही यह भी कहा कि ऐसे आंदोलन हमसे चलना मुश्किल है। और मुझे रह जाने के लिए आग्रह करने लगे। मैंने भी उस लड़ाई को लड़ लेने तक अर्थात् एक आध महीना ठहरना मंजूर कर लिया। उसी रात को धारा-सभा में भेजने के लिए एक दरख्वास्त तैयार की। फौरन् एक कमिटी बना ली गयी। कमिटी के अध्यक्ष थे सेठ अबदुल्ला हाजी आदम। उनके नाम से एक तार किया। बिल को दो रोज तक रोक रक्खा, और दक्षिण अफ्रीका की धारा-सभाओं में से नेटाल की धारा-सभा में भारतीयों की पहली दरख्वास्त पहुँची। इसका अच्छा असर पड़ा, लेकिन बिल पास हुआ। इसका जो नतीजा निकला उसे मैं चौथे अध्याय में लिख चुका हूँ। इस प्रकार वहाँ पर झगड़ने का यह पहला ही मौका था। इसलिए भारतीयों में खूब उत्साह दिखायी दिया। वार बार सभायें होतीं। बड़ी बड़ी तादाद में वहाँ मनुष्य आते। आवश्यकता से अधिक धन इस काम के लिए इकट्ठा हो गया। नकल करने, दस्तखत लेने आदि कामों में सहायता करने के लिए बहुत से स्वयंसेवक आ जुटे और वे सब बिना ही तनख्वाह अपनी गाँठ का खाकर काम करते। मुक्त भारतीयों के लड़के भी इस काम में उत्साहपूर्वक आ मिले। ये सब अंग्रेजी जाननेवाले और खुशखत लिखने वाले नौजवान थे। उन्होंने रात-दिन एक करके बड़े उत्साह के

साथ नकलें कर डालीं। एक महीने के अन्दर १०,००० आदमियों के दस्तखत की दरख्वास्त लार्ड रिपन के पास रवाना की गयी और मेरा उस वक्त का काम पूरा हुआ।

मैंने रुखसत माँगी। पर जनता में अब इतना उत्साह बढ़ गया था कि वह मुझे जाने के लिए इजाजत ही नहीं देती थी। उसने कहा—आप ही तो यह समझाते हैं कि हमें जड़मूल से उखाड़ फेंकने की यह शुरूआत ही है। कौन कह सकता है कि विलायत से हमारी इस दरख्वास्त का क्या उत्तर आवेगा? हमारा उत्साह आप देख चुके हैं। हम लोग काम करने के लिए तैयार हैं—इच्छा भी खूब है। हमारे पास धन की कोई कमी नहीं। पर यदि अगुआ न हो तो यह किया-कराया सब चौपट हो जायेगा। इसलिए हमारा तो ख्याल है कि और भी कुछ रोज आप यहाँ ठहरें; अब आपका यही धर्म है। मुझे भी मालूम हुआ कि यहाँ पर कोई स्थायी संस्था की स्थापना हो जाय तो बड़ा अच्छा हो। पर मैं रहूँ कहाँ और किस तरह? उन्होंने मुझे तनख्वाह लेने के लिए कहा, पर मैंने इस बात से साफ इन्कार कर दिया था सार्वजनिक काम बड़ी-बड़ी तनख्वाहें लेकर नहीं हो सकते। फिर मैं तो केवल नींव डालनेवाला था। मेरे तत्कालीन विचारों के अनुसार मुझे इस तरह रहना चाहिए था। जो मेरी बैरिस्टरी और जाति दोनों को शोभा दे। अर्थात् रहन-सहन भी खर्चीली ही थी। जनता पर दबाव डालकर धन इकट्ठा करके आन्दोलन को बढाना और तिसपर मेरी जीविका का भार भी उस पर लद जाये यह दो परस्पर-विरोधी काम कैसे हो सकते थे? फिर इससे मेरी कार्य-शक्ति भी तो कम हो जाती। और भी अनेक कारणों से मैंने सार्वजनिक सेवा के लिए तनख्वाह लेने से साफ इन्कार कर दिया। पर मैंने सुझाया यदि आपमें से खास-खास

व्यापारी मुझे अपना वकील बना लें और उसके लिए मुझे पहले ही से रेटिनर दे दिया करें, तो मैं रहने के लिए तैयार हूँ। एक साल का रेटिनर पहले देना होगा। ऐसा करके देख लें। साल के आखिर में अपने काम का हिसाब कर लेंगे। अगर उचित मालूम हुआ तो काम आगे चलावेंगे। सबने इस बात को पसन्द किया। मैंने वकालत की सनद के लिए दरख्वास्त दी। पर वहाँकी लॉ सोसायटी—वकील मण्डल ने मेरी प्रार्थना का विरोध किया। उनकी दलील एक ही थी। नेटाल के कानून की मंन्शा के अनुसार काले या गेहुँए रंग के लोगों को यहाँ पर वकालत करने की इजाजत कभी नहीं दी जा सकती। पर वहाँके विख्यात वकील स्व० श्री ऐस्कंब ने तो मेरी उस दरख्वास्त की पुष्टि की थी। वे दादा अबदुल्ला के बड़े वकील भी थे। बड़ी अदालत ने वकील मण्डल की दलील को रद करके मेरी दरख्वास्त को मजूर किया। इस प्रकार इच्छा न होते हुए भी वकील-मंडल का विरोध मेरी ख्याति का एक दूसरा कारण हुआ। दक्षिण अफ्रीका के समाचार-पत्रों में से कितनों ही ने वकील-मंडल की हँसी उड़ायी और कितनों ही ने मुझे धन्यवाद दिये।

पहले जो अस्थायी कमेटी बनायी गयी थी वही अब स्थायी बना दी गयी। मैंने महासभा का एक भी अधिवेशन नहीं देखा था, किन्तु उसके विषय में कुछ पढ़ा जरूर था। भारत के पितामह के दर्शन भी कर चुका था। उनकी मैं पूजा करता था। सो मैं महासभा का भक्त क्यों न होता? यह भी इच्छा थी कि महासभा को लोकप्रिय बनाया जाय। सो एक नौजवान, नवीन नाम-रूप ढूँढने के झगड़े में क्यों पड़ता? इसका भी बड़ा डर था कि इसमें कहीं भूल हो जाये तो? इसलिए मैंने तो यही सलाह दी कि कमिटी का नाम "नेटाल इण्डियन कांग्रेस" हो।

कांग्रेस के सम्बन्ध में मैं जो कुछ थोड़ा-बहुत जानता था वह मैंने लोगों को समझा दिया। पर १८९४ के मई या जून में कांग्रेस की स्थापना हुई। भारत की संस्था में और इसमें बड़ा फर्क था कि नेटाल की कांग्रेस हमेशा सम्मिलित हुआ करती और वही उसके सभासद हो सकते थे जो साल में कम से कम तीन पौण्ड चन्दा दे सकते थे। अगर कोई उससे अधिक देता तो वह भी ले लिया जाता। ज्यादा लेने के लिए कोशिश भी खूब की गयी। पाँच-सात सदस्य तो सालाना २४ पौण्ड भी देते थे। सालाना १२ पौण्ड देनेवाले तो कितने ही थे। एक महीने के अन्दर तीन सौ से अधिक सभासदों के नाम दर्ज हो गये। उसमें हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि जितने धर्म और प्रान्त के लोग थे सभी थे। पहले साल भर काम बड़े जोरों से चलता रहा। बड़े-बड़े सेठ-साहूकार अपनी सवारियों पर दूर बैठकर देहात में नवीन सभासद बनाने और चन्दा इकट्ठा करने के लिए जाते। लोग माँगते ही चंदा दे देते। समझाने भर की देर थी। इससे जनता को एक प्रकार से राजनैतिक शिक्षा मिलती और वह परिस्थिति से भी परिचित होती रहती। फिर हर महीने कम-से-कम एक बार तो कांग्रेस की बैठक जरूर होती। इसमें महीने का पाई-पाई का हिसाब बताया जाता और वह मंजूर किया जाता था। उस महीने के अन्दर जो घटनायें होतीं, वे सुनायी-समझायी जातीं और कार्रवाई लिख ली जाती। सभासद भिन्न-भिन्न सवाल पूछते, नये कार्यों पर विचार होता; यह सब करते समय सभा-समाजों में जो कभी बोलते न थे, वे खड़े होकर निर्भयतापूर्वक बोलने लग गये थे। भाषण भी बड़ी सावधानी से दिये जाते। ये सब बातें हमारे लिए नयी थीं। पर जनता इसमें बड़ी दिलचस्पी लेती थी।

इसी बीच यह खबर आ धमकी कि लार्ड रिपन ने नेटाल के बिल को नामंजूर कर दिया। जनता को बड़ा हर्ष हुआ और उसका आत्मविश्वास भी बढ़ गया।

जिस प्रकार बाहर काम हो रहा था, उसी प्रकार लोगों के अंदर काम करने की हलचल भी शुरू थी। हमारी रहन-सहन के विरुद्ध दक्षिण अफ्रीका के तमाम गोरे बड़ा आन्दोलन कर रहे थे। वे कहते "हिंदुस्तानी लोग बड़े गंदे और कंजूस हैं। उनके मकान और दूकान एकही होते है। मकान मानों बिल। अपने सुख के लिए भी कभी पैसा खर्च न करें—ऐसे गंदे और कंजूस लोगों के साथ, साफ-सुथरे गोरे जिनकी जरूरतें बहुत बढ़ी हुई हैं, और जो उदार हैं, व्यापार मे कैसे प्रतिस्पर्धा कर सकते हैं? यही थी उनकी हमेशा की दलील। इसलिए महासभा की बैठकों में इस बात पर भी भाषण सूचनायें और वाद-विवाद होते कि भारतीय अपने मकानों को अधिक स्वच्छ रक्खे और मकान अलग-अलग कर लें और बड़े-बड़े व्यापारी अपनी राय के अनुसार रहन-सहन भी उन्नत बनावें। कांग्रेस की तमाम कार्यवाही मातृभाषा में ही होती थी।

पाठक स्वयं सोच सकते हैं कि इसके द्वारा जनता को अनायास कितनी व्यावहारिक शिक्षा और राजनैतिक आन्दोलनों का अनुभव प्राप्त हो जाता था। कांग्रेस ने अपने ही खर्च से गिरमिट-मुक्त भारतीयो की संतान अर्थात् नेटाल में पैदा हुए अंग्रेजी भाषाभाषी भारतीय नौजवानो की शिक्षा के लिए एक शिक्षा-मंडल भी संगठित किया था। उसमें फीस नाम मात्र की रक्खी गयी थी। उद्देश यही था कि नौजवानों को एकत्र करके उनमें भारत के प्रति प्रेम उत्पन्न करे और उसका सामान्य ज्ञान भी उन्हे दिया जाये। यही नहीं कुछ और भी सोचा गया था।

उनके दिल पर यह बात अंकित करनी थी कि स्वतंत्र भारतीय व्यापारी उन्हें अपने आत्मीय समझते हैं। साथ ही उन व्यापारियों के हृदय में भी हम इनके प्रति आदर उत्पन्न करना चाहते थे। इतना करते हुए भी कांग्रेस के पास खर्च जाते एक बड़ी भारी रकम इकट्ठी हो गयी थी। इस कोष से कांग्रेस के लिए जमीन खरीदी गयी, जिसकी आमदनी आजतक आ रही है।

मैंने जानबूझकर इतनी तफसील से बातें लिखी हैं। ऊपर लिखी बातें बिना पढ़े पाठक यह नहीं समझ सकते कि किस तरह सत्याग्रह बिलकुल स्वाभाविक रीति से उत्पन्न हुआ। कांग्रेस पर आपत्तियाँ भी उमड़ीं। सरकारी अधिकारियों ने आक्रमण भी किये, पर इन सब आपत्तियों को कांग्रेस ने किस बहादुरी के साथ पार किया, ये सब जानने योग्य बातें मुझे लाचारी के साथ छोड़नी पड़ रही हैं। पर एक बात कह देना जरूरी है। जनता अत्युक्ति से हमेशा बचती रहती। यह भी बराबर प्रयत्न किया जाता कि वह अपनी गलतियों को दोहरावे नहीं। गोरों की दलीलों में भी जो बातें सही रहतीं, वे फौरन स्वीकार कर ली जातीं और हरएक अवसर का फायदा उठा लिया जाता, जिसमें गोरों के साथ रहकर भी भारतीय अपने स्वाभिमान और स्वाधीनता की रक्षा कर सकते हों। हमारी हलचल की जो-जो बातें वहाँ के अखबार स्वीकार कर सकते थे वे छपायी जाती थीं, और आक्षेपों के उत्तर भी दिये जाते थे।

जिस प्रकार नेटाल में 'नेटाल इण्डियन कांग्रेस' थी, उसी प्रकार ट्रान्सवाल में भी भारतीय कुछ उद्योग कर रहे थे। ट्रान्सवाल की संस्था नेटाल से बिलकुल स्वतन्त्र थी। उसके संगठन में भी कुछ फर्क था। पर मैं उसके सूक्ष्म भेद यहाँ देना नहीं चाहता। केप टाउन में भी ऐसी ही एक संस्था थी। उसकी

रचना नेटाल और ट्रान्सवाल की सभा से भिन्न थी। पर तीनों का उद्देश केवल वही था।

१८९४ का वर्ष खतम हुआ। कांग्रेस का साल भी १८९५ के मध्य में समाप्त हो गया। मेरा काम भी मेरे मवक्किलों को पसन्द हुआ। मेरे रहने की मियाद और बढ़ गयी। १८९६ में मैं लोगों से इजाजत लेकर छः महीने के लिए स्वदेश लौटा। पर वहाँ पूरे छः महीने भी नहीं रह सका, क्योंकि बीच ही में नेटाल से तार आया और मुझे फ़ौरन लौट जाना पड़ा।

(७)

भारतीयों ने क्या किया ?

(२)

इस प्रकार 'नेटाल इण्डियन कांग्रेस' को स्थिरता प्राप्त हुई। मैंने भी नेटाल में लगभग ढाई साल राजनैतिक क्षेत्र मे काम किया और बाद में सोचा कि यदि मुझे दक्षिण अफ्रीका में और भी रहना आवश्यक हो तो बाल-बच्चों को भी यहाँ ले आना चाहिए। कुछ समय के लिए स्वदेश का दौरा करने की भी इच्छा हुई, यह भी सोचा था कि इस अवसर में भारत के नेताओं को नेटाल और दक्षिण अफ्रीका के दूसरे प्रान्तो मे बसनेवाले भारतीयों की हालत का मुख्तसर हाल भी सुना दूँगा। कॉंग्रेस ने मुझे छः महीने की छुट्टी दी और मेरे स्थान पर नेटाल के सुविख्यात स्वर्गीय व्यापारी आदम जी मियाँ खान को सेक्रेटरी बनाया। मेरी अनुपस्थिति मे उन्होंने बड़ी होशियारी के साथ उस काम को आगे बढ़ाया। स्वर्गीय आदम जी मियाँ खान अंग्रेजी अच्छी जानते थे। अपने थोड़े से कामचलाऊ ज्ञान को अनुभव से आपने खूब बढ़ा लिया था। गुजराती का अध्ययन साधारण था। उनका व्यापार

ज्यादातर हवशियो में फैला हुआ था। अतः उनको जुलू भाषा और उस जाति के रीति-रिवाजों से अच्छा परिचय था। स्वभाव बड़ा शान्त और मिलनसार। उतना ही बोलते जितने की जरूरत रहती। यह सब मैं यह बताने के लिए लिख रहा हूँ कि भारी जबावदेही के ओहदे का काम करने के लिए अंग्रेजी भाषा की अथवा अन्य प्रकार के अक्षर-ज्ञान की जितनी जरूरत होती है, उससे कहीं अधिक जरूरत तो सचाई, शान्ति, सहनशीलता, दृढ़ता, प्रसंगावधान, हिम्मत और व्यवहार-बुद्धि की होती है। अगर ये न हो अच्छे-से-अच्छा अक्षर-ज्ञान भी सार्वजनिक काम के लिए निरर्थक सावित होता है।

सन् १८९६ मे मैं भारत लौटा। कलकत्ता होता हुआ आया, क्योंकि उस समय कलकत्ता जानेवाली नेटाल के स्टीमर आसानी से मिल सकते थे। गिरमिटिये कलकत्ता से या मद्रास से जहाज पर चढ़ाये जाते थे। कलकत्ते से बम्बई आते समय रास्ते में एक गाड़ी मेरे हाथ से छूट गयी। अतः एक दिन के लिए मुझे इलाहाबाद मे ही ठहरना पड़ा। बस, वहीं से मैंने अपना काम शुरू कर दिया। पायोनियर के मि० चेजनी से मिला। उन्होंने मेरे साथ बड़ी सभ्यता और प्रेम से बात-चीत की, और प्रामाणिकता-पूर्वक मुझसे साफ-साफ कह दिया कि उनका दिल दक्षिण अफ्रीका के उन संस्थानो (सरकारों) की ओर अधिक झुका हुआ है। लेकिन उन्होंने मुझसे यह वादा किया कि अगर मैं कुछ लिखूँ तो उसे पढ़कर उसपर एक टिप्पणी वह जरूर लिख देंगे। मैंने इसी को बहुत माना। दक्षिण अफ्रीका के भारतीयो की दशा का परिचय कराने वाला एक ट्रैक्ट मैंने लिखा और उसे अखबारों में भेज दिया। करीब-करीब सब अखबारो में उसपर टिप्पणियाँ निकलीं। मुझे उसके दो-दो संस्करण

छपाने पड़े। पाँच हजार प्रतियाँ देश में जगह-जगह भेजकर बँटवा दीं। इसी समय मैंने बम्बई में सर फिरोजशाह महेता, न्यायमूर्ति बदरुद्दीन तैयबजी, महादेव गोविन्द रानडे वगैरा, पूना में लोकमान्य तिलक और उनका मण्डल, प्रो० भाण्डारकर, गोपाल कृष्ण गोखले और उनका मण्डल, आदि भारत-नेताओं के दर्शन किये। और बम्बई से लगातार पूना और मद्रास में भाषण भी दिये। इनका वर्णन मैं यहाँपर नहीं करना चाहता।

पर पूने का एक पवित्र स्मरण यहाँ लिखे बिना मैं आगे नहीं बढ़ सकता, यद्यपि हमारे इस विषय के साथ उसका सम्बन्ध नहीं। पूना में सार्वजनिक सभा लोकमान्य के हाथों में थी। स्वर्गीय गोखले का सम्बन्ध दक्खिन सभा के साथ था। मैं पहले पहल मिला तिलक महाराज से। जब मैंने पूना में सभा करने का अपना हेतु प्रकट किया, तब उन्होंने पूछा—आप गोपालराव से मिले?

मैं उनके कहने का आशय नहीं समझा, इसलिए उन्होंने फिर पूछा कि आप मि० गोखले से मिल चुके हैं? उन्हें आप जानते हैं?

मैंने कहा—अभी उनसे नहीं मिला। केवल नाममात्र से उन्हें जानता हूँ। पर मिलना जरूर चाहता हूँ।

लोकमान्य—मालूम होता है, आप भारतीय राजनैतिक हलचलों से परिचित नहीं हैं।

मैंने कहा—इंग्लैंड से शिक्षा प्राप्त करके लौटने पर मैं भारत में बहुत कम ठहरा। और उतने समय में भी राजनैतिक बातों में मैंने जरा भी भाग नहीं लिया। मैं इसे अपनी शक्ति के बाहर की बात मानता था।

लोकमान्य—तो मुझे आपको इन बातों का कुछ परिचय

देना होगा। पूना में दो पक्ष हैं। एक सार्वजनिक सभा का और दूसरा दक्खिन सभा का।

मैंने कहा—"हाँ, इस विषय में तो मैं कुछ कुछ जानता हूँ।"

लोकमान्य—"यहाँ पर सभा करना तो एक आसान बात है। पर मैं देखता हूँ कि आप अपना सवाल सब पक्षों के सामने पेश करना चाहते हैं और सहायता भी सबकी चाहते हैं। इसे मैं बहुत पसंद करता हूँ। पर यदि आपकी सभा में हममें से कोई अध्यक्ष हो तो दक्खिन सभावाले नहीं आवेंगे। और यदि उनमें से कोई अध्यक्ष होगा तो हम कोई न जावेंगे। इसलिए आपको कोई तटस्थ अध्यक्ष ढूँढ़ना चाहिए। मैं तो इस विषय में केवल सूचना-भर कर सकता हूँ। दूसरी सहायता मुझसे न हो सकेगी। प्रो. भांडारकर को जानते हैं? अगर न जानते हों तो भी उनके पास अवश्य जाइएगा। वे तटस्थ माने जाते हैं। राजनैतिक हलचलों में कोई भाग भी नहीं लेते। पर संभव है आप उनको ललचा सकेंगे। मि० गोखले से इस बात का जिक्र कीजिए। उनकी भी सलाह लीजिए। बहुत संभव है, वे भी मेरी ही जैसी सलाह देंगे। अगर प्रोफेसर भांडारकर अध्यक्ष हों तो मुझे यकीन है कि सभा के कार्य को दोनों पक्ष उठा लेंगे। हम तो इसमें आपकी पूरी सहायता करेंगे।"

यह सलाह लेकर मैं गोखले जी के पास पहुँचा। इस पहली मुलाकात ही में उन्होंने मेरे हृदय में जिस प्रकार राज्याधिकार प्राप्त कर लिया, उसका वर्णन तो मैं किसी अन्य प्रसंग पर लिख गया हूँ। जिज्ञासुओं को चाहिए कि वे 'यंग इंडिया' या 'नवजीवन' की फाइल को देखें।† लोकमान्य की सलाह को

† देखो 'यंग इंडिया' ता. १३-७-२१ : 'नवजीवन' ता० २८-७-२१

गोखलेजी ने भी पसन्द किया। फौरन मैं डा० भांडारकर के पास पहुँचा। उन विद्वान् बुजुर्ग के दर्शन किये। नाताल का किस्सा ध्यानपूर्वक सुनकर उन्होंने कहा—"आपसे यह बात छिपी नहीं है कि मैं सार्वजनिक हलचलों में बहुत कम भाग लेता हूँ और अब तो बूढ़ा भी हो गया। फिर भी आपकी बातों ने मेरे दिल पर गहरा असर किया है। मालूम होता है आप सभी पक्षों की सहायता लेने चाहते हैं। साथ ही आप भारतीय राजनैतिक हलचलों से अपरिचित भी मालूम होते हैं। नौजवान भी हैं। इसलिए दोनों पक्षों से कहिए कि मैंने आपकी बात को मान लिया है। सभा होने पर उसमें से कोई भी मेरे पास अगर बुलाने आ जायगा तो मैं उसी वक्त चला आऊँगा। पूना में सुन्दर सभा हुई। दोनों पक्षों के नेता हाजिर थे, और दोनों पक्ष के नेताओं ने भाषण दिये।

मै मद्रास गया। वहाँ जस्टिस सुब्रह्मण्यम् आयर से मिला और आनंदचालु, "हिन्दू" के तत्कालीन सम्पादक श्री सुब्रह्मण्यम् और "मद्रास" के सम्पादक परमेश्वर पिल्लई प्रख्यात वकील भाष्यम् आयंगार, सि. नार्टन वगैरा से मिला वहाँ भो सभा हुई। वहाँसे कलकत्ता गया। वहाँ पर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, महाराजा सत्येन्द्रनाथ टैगोर, 'इंग्लिशमेन' के सम्पादक स्वर्गीय श्री साण्डर्स आदि से भी मिला। वहाँ सभा की तैयारियाँ हो रही थीं कि इतने में—अर्थात् नवम्बर मास मे नेटाल का तार मिला कि 'एक दम चले आओ।' मैं समझ गया कि भारतीयों के विरुद्ध कोई नवीन आन्दोलन फिर से खड़ा हुआ है। इसलिए कलकत्ता का काम वैसा ही छोड़कर मैं वापिस लौटा और बम्बई से जानेवाले पहले ही स्टीमर में सवार हो गया। इस स्टीमर को दादा अब्दुल्ला की दुकान ने खरीदा

था। अपने साहसों में नेटाल और पोरबन्दर के बीच स्टीमर चलाने का उनका यह पहला साहस था। स्टीमर का नाम 'कोर्लैंड' था। इस स्टीमर के बाद फौरन ही पर्शियन कंपनी का आगबोट "नादरी" भी नेटाल के लिए रवाना हुआ। मेरा टिकट 'कोर्लैंड' का था। साथ में बाल-बच्चे भी थे। दोनों स्टीमरों में सब मिलाकर दक्षिण अफ्रीका जानेवाले कोई ८०० मुसाफिर होंगे। भारत में मैंने जो आन्दोलन किया उसका असर बहुत भारी हुआ। बहुत से मुख्य-मुख्य समाचार-पत्रों में उसपर टिप्पणियाँ भी निकलीं। सो भी इतनी कि रायटर ने इसके अनेक तार भी भेजे। पर यह बात तो नेटाल पहुँचने पर मुझे मालूम हुई। इंग्लैंड भेजे गये तारों पर से वहाँके रायटर के प्रतिनिधि ने एक छोटा-सा तार दक्षिण अफ्रीका में भी भेजा। मैंने भारत में जो कुछ किया था, उसे कुछ नमक-मिर्च लगाकर वह तार दिया गया था। ऐसी अत्युक्तियाँ हम कई बार देखते हैं। और यह सब जान-बूझकर नहीं होता। बहुकाजी लोग अखबारों को ऊपर ऊपर देख लेते हैं। कुछ-कुछ उनके अपने ख्याल भी होते ही हैं। वे एक ढाँचा बनाते हैं, तहाँ इनका दिमाग कुछ और ही बना लेता है। फिर यह जहाँ-जहाँ पहुँचता है वहाँ-वहाँ इसका और ही अर्थ लगाया जाता है। और यह सब हेतुपूर्वक नहीं होता। सार्वजनिक प्रवृत्तियों में यह एक खतरा है। एक तरह से यह उसकी एक हद भी है। भारत में मैंने नेटाल के गोरों पर आक्षेप किये थे। गिरमिटियों पर लगाये गये ३ पाउंड के कर पर मैंने बहुत सख्त भाषण दिया था। सुब्रह्मण्यम् नामक एक गरीब गिरमिटिये पर उसके मालिक ने बड़ी बेरहमी के साथ हमला किया। उसको जो जखम हुआ था, उसे मैंने देखा था। उसका सारा केस मेरे पास था। इसलिए उसका ठीक-ठीक वर्णन मैं

कर सका। इन सब बातों का सार जब नेटालवासियों ने देखा तब वे मेरे खिलाफ बहुत उमड़ गये। खूबी यह थी कि जो कुछ मैंने नेटाल में लिखा और कहा था, वह मेरे भारत में लिखे लेखों और भाषणों की अपेक्षा अधिक सख्त और खुलासेवार था। भारत में मैंने एक भी ऐसी बात नहीं कही थी, जिसमें जरा भी अत्युक्ति हो। पर मैं अपने अनुभव से यह बात जरूर जानता था कि एक अपरिचित आदमी के सामने जिस किसी बात का हम वर्णन करते हैं और उसमें जो कुछ कहते हैं, उससे वह अपरिचित पाठक या श्रोता कहीं अधिक बातें देख लेता है। इससे भारत में नेटाल की हालत का वर्णन करते हुए मैंने जान-बूझकर बातों को बहुत सावधानी के साथ चित्रित किया था। पर नेटाल में मेरे लेख तो बहुत थोड़े गोरे पढ़ते थे, और उनकी पर्वा उससे भी कम लोग करते थे। अतः भारत में मैंने जो कुछ कहा था, उसका असर उलटा होना स्वाभाविक था, और हुआ भी ठीक वैसे ही। रायटर के तारों को हजारों गोरे पढ़ते थे। फिर तार में जो विषय टिप्पणी लिखने लायक माना गया उसका महत्त्व कहीं अधिक माना जाता है। नेटाल के गोरों के खयाल में मेरे भाषणों का जितना असर भारत में पड़ा उतना अगर दर-असल पड़ा होता तो शायद गिरमिट की प्रथा बन्द भी हो जाती, और नेटाल के गोरों को बड़ा नुकसान पहुँचता। फिर यह भी कहा जा सकता है कि भारत में वे बदनाम भी हो जाते।

इस प्रकार नेटाल के गोरे उभड़े हुए थे। इसी समय उन्होंने सुना कि गांधी सपरिवार 'कोर्लैंड' में वापिस लौट रहा है। उसमें और ३००-४०० भारतीय प्रवासी भी हैं। साथ ही उतने ही मुसाफिरों से भरी एक दूसरा "नादरी" स्टीमर भी है। इस खबर ने तो आग में घी काम किया। सारों की क्रोधाग्नि धधक

उठी। नेटाल के गोरों ने बड़ी-बड़ी सभायें हुईं। लगभग तमाम अग्रगण्य गोरों ने इसमें भाग लिया। खासकर मुझपर और साधारणतया तमाम भारतीयो पर सख्त टीकायें हुईं। "कोर्लेंड" और "नादरी" के आगमन को चढ़ाई का स्वरूप दिया गया। सभी के वक्ताओं ने यह अर्थ लगाया कि इन आठसौ मुसाफिरो को मैं ही लाया हूँ और नेटाल को स्वतन्त्र भारतीयो से भर देने का मेरा यह पहला प्रयत्न है, आदि सभा को समझाया। सभा में सबने एक मत से यह प्रस्ताव स्वीकृत किया कि दोनों स्टीमरों के मुसाफिरो को और मुझे किनारे पर न उतरने दिया जाय। यदि नेटाल की सरकार उन्हें न रोके अथवा न रोक सके तो अभी बनायी गयी समिति कानून को अपने हाथ में ले ले और अपने बल से भारतीयों को यहाँ उतरने से रोके। दोनों स्टीमर एक ही दिन नेटाल के बन्दरगाह डर्बन को पहुँचे।

पाठकों को याद होगा कि प्लेग ने पहले पहल सन् १८९६ में भारत को अपना स्वरूप दिखाया था। नेटाल की सरकार के पास हमें लाटाने के लिए कोई कानूनन् उपाय तो था ही नहीं। उस समय प्रवेश-प्रतिबन्धक विधान अस्तित्व में नहीं आया था। नेटाल सरकार का झुकाव तो पूर्णतया उस कमिटी की ओर ही था। एक सरकारी मन्त्री स्वर्गीय मि० ऐस्कंब कमेटी के काम में पूरा भाग लेते थे। वे ही कमिटी को उत्तेजित भी करते थे। तमाम बन्दरगाहों में यह एक नियम था, कि जिस किसी स्टीमर में छूत रोग (फैलने वाला रोग) हो गया हो अथवा जो किसी ऐसे बंदरगाह से आ रहा हो जहाँ वह रोग हो तो उस स्टीमर को एक खास समय तक कॉरंटाइन में रक्खा जाय। अर्थात् इसके मानी यह हुए कि उस स्टीमर के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध न रक्खा जाय और मुसाफिरों का माल-असबाब आदि भी न

उतारा जाये। पर इस प्रकार का प्रतिबंध केवल स्वास्थ्य के नियमों के खयाल से ही और सो भी बन्दरगाह के डाक्टर की आज्ञा के आधार पर ही किया जा सकता है। पर नेटाल की सरकार ने उसका केवल राजनैतिक उपयोग—अर्थात् सरासर दुरुपयोग किया। और यद्यपि जहाज पर उस रोग का एक भी रोगी न था तथापि दोनों जहाजों को नेटाल की सरकार ने २३ दिन तक डर्बन की खाड़ी में रोक रक्खा। इस बीच कमेटी का काम बराबर जारी रहा। दादा अब्दुल्ला 'कोर्लेंड' के मालिक थे और 'नादिरी' के एजेंट थे। उन्हें कमेटी ने खूब धमकाया-चमकाया। अगर स्टीमरों को लौटा दोगे तो आपका इस तरह फायदा किया जायेगा, आदि लालच भी दिखाये। कितनों ही ने यह डर भी दिखाया कि अगर वे जहाजों को न लौटावेंगे, तो उनके व्यापार को हानि पहुँचायी जावेगी। पर उस दूकान के भागीदार ऐसे-वैसे न थे। धमकी देनेवालों से उन्होंने कहा—"मेरा तमाम व्यापार भले ही डूब जावे। झगड़ते-झगड़ते इसके पीछे मेरा सर्वनाश भी हो जाये, पर आपसे डरकर इन निर्दोष मुसाफिरों को वापिस लौटाने का अपराध मुझसे नहीं होगा। आप याद रक्खें कि जैसे आपको अपने देश का अभिमान है, वैसा ही कुछ मुझे भी होना चाहिए। इस दूकान के जो पुराने वकील थे वे भी बड़े धैर्यशील और वीर पुरुष थे।

सौभाग्यवश इसी अवसर पर स्वर्गीय मनसुखलाल नाज़िर (सूरत के एक कायस्थ सज्जन और नानाभाई हरिदास के भानजे) अफ्रीका पहुँचे। मेरी उनकी कोई जान-पहचान नहीं थी। उनके उधर जाने की भी मुझे कोई खबर नहीं थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन 'नादरी' और 'कोर्लेंड' के मुसाफिरों को लानेवाला मैं नहीं था, न मेरा उसमें जरा भी हाथ था। उनमें

से बहुतेर ही तो दक्षिण अफ्रीका के पुराने निवासी थे। और वे खासकर ट्रान्सवाल जाने के लिए आये हुए थे। इन मुसाफिरों को भी डराने के लिए कमेटी ने नोटिस भेजे। स्टीमर के कप्तानों ने ये नोटिस मुसाफिरों को पढ़कर सुना दिये। उनमें साफ-साफ लिखा हुआ था कि नेटाल के गोरे हिन्दुस्तानियो के खिलाफ उभड़े हुए हैं, और इस हालत को जानते हुए भी यदि कोई हिन्दुस्तानी जहाज से उतरने का प्रयत्न करेंगे, तो बन्दरगाह पर कमेटी के आदमी हाजिर रहेंगे, वे मुसाफिरों को समुद्र में ढकेल देंगे। 'कोर्लैंड" के मुसाफिरो को मैंने इस नोटिस का तरजुमा करके सुना दिया। 'नादरी' के मुसाफिरों को उसी पर के किसी अंग्रेजी जाननेवाले मुसाफिर ने नोटिस का मतलब समझा दिया। दोनों स्टीमरों के मुसाफिरों ने लौटने से साफ इन्कार कर दिया। उन्होंने कहा हममें से अधिकांश को तो 'ट्रान्सवाल' जाना है। जो नेटाल मे उतरना चाहते हैं, उनमें से अधिकाँश खास नेटाल के पुराने निवासी हैं। पर यह कुछ भी हो प्रत्येक मुसाफिर को जरूर नेटाल में उतरने का पूरा कानूनन हक़ है। कमेटी उसका जी चाहे सो कर ले मुसाफिर तो अपने हक़ को सिद्ध करने के लिए जरूर उतरेंगे।

आखिर नेटाल की सरकार हार गयी। अनुचित प्रतिबध कितने दिन तक चल सकता है ? २-३ दिन बीत चुके थे। न तो अब्दुल्ला डिगे और न हिन्दुस्तानी मुसाफिर पीछे हटे। तब प्रतिबन्ध हटाना ही पड़ा और स्टीमरों को बन्दरगाह में आने की इजाजत मिली। इस अवधि में श्री० ऐस्कम्ब ने उत्तेजित कमेटी को शान्त किया। उन्होंने एक सभा निमन्त्रित करके उसमें कहा "डर्बन में गोरों ने खूब एकता और बहादुरी दिखायी। तुम लोगों से जितना हो सका उतना कर गुजरे। सरकार ने भी

तुम्हारी सहायता की। इन लोगो को २-३ दिन तक आपने अटकाये रक्खा। अपने हृद्गत् भावों और उत्साह का जो दृश्य आपने दिखाया यही काफी है। बडी सरकार (साम्राज्य सरकार) पर इसका खासा असर पड़ेगा। आपके इस कार्य से नेटाल सरकार का काम बहुत सरल हो गया है। पर अब यदि आप बल-प्रयोग से एक भी भारतीय मुसाफिर को जहाज से उतरते हुए रोकेंगे तो आप अपने ही कार्य की हानि करेंगे और नेटाल सरकार को विकट स्थिति में डाल देंगे। न मानेंगे तो आपको अपने उद्देश में सफलता भी न मिलेगी। बताइए मुसाफिरों का इसमें क्या दोष है? उनमें स्त्रियाँ और बालक भी हैं। वे अब बम्बई से जहाज पर सवार हुए, तब उन्हें आपकी मनोदशा का स्वप्न में भी ख्याल न था। इसलिए अब मेरी तो सलाह है कि आप अब अपने अपने घर को चले जावें। इन लोगों को आते हुए जरा भी न रोकें। पर मैं आपको यह वचन अभी से दिय देता हूँ कि अब से वहाँ आनेवालों पर अंकुश रखने के लिए नेटाल सरकार धारासभा से अवश्य प्रवेश-प्रतिबन्धक अधिकार प्राप्त कर लेगी।" मैंने तो यहाँ पर भाषण सार मात्र दिया है। मि० ऐस्कब के श्रोतागण निराश तो जरूर हुए, पर नेटाल के गोरों पर उनका बहुत भारी प्रभाव था। गोरों ने अपने अपने घर का रास्ता लिया और दोनों जहाज बन्दर में आये।

मुझे उन्होंने कहला भेजा कि मुझे दिन को जहाज से नहीं उतरना चाहिये। शाम को पोर्ट के सुपरिन्टेन्डेन्ट मुझे लिवा ले जाने के लिए आवेंगे उनके साथ मैं घर को चला जाऊँ। हाँ, मेरी पत्नी वगैरा जब चाहें उतर सकते थे। यह कोई बाजाप्ता हुक्म न था। पर कप्तान से सिफारिश की गई थी

कि वह मुझे अकेला न उतरने दे, वास्तव में ऐसी कोई बात नहीं थी कि कप्तान मुझे जबरदस्ती से रोक सकता हो। यह तो मेरे सर पर मँडरानेवाले खतरे से बचने के लिए एक सूचना मात्र थी। पर मैंने सोचा कि मुझे यह सूचना मान लेनी चाहिए। अपने बाल बच्चों को मैंने सीधे घर नहीं भेजा, बल्कि डर्बन के विख्यात व्यापारी और अपने पुराने मवक्किल तथा मित्र पारसी रुस्तमजी के यहाँ भेज दिया और उन्हें कहा कि मैं भी वहाँ मिलूँगा। मुसाफिर वगैरा सब उतर गये कि इतने ही में दादा अबदुल्ला के वकील और मेरे मित्र मि० लाटन आये। उन्होंने पूछा "आप अभी तक क्यों नहीं उतरे ?" मैंने मि० ऐस्कंब के पत्र की बात कही। उन्होंने कहा—"मुझे तो यह जरा भी पसन्द नहीं कि शाम तक आप यहाँ बैठे बैठे राह देखें और फिर एक अपराधी या चोर की तरह चुपके चुपके शहर में जावें। अगर आपको कुछ भय न मालूम होता हो तो अभी मेरे ही साथ क्यों नहीं चले चलते ? हम लोग इस तरह शहर में से होकर पैदल ही चले चलेंगे, मानों कुछ हुआ ही न हो।" मैंने कहा—"मैं नहीं मानता कि मुझे इसमें किसी प्रकार का भय है। मेरे सामने तो केवल यही सवाल है कि मि० ऐस्कंब की सूचना को मानूँ या नहीं, यह उचित होगा या अनुचित। मुझे यह भी सोच लेना है कि इसमें कप्तान की जिम्मेदारी का तो कोई सवाल नहीं है।" मि० लाटन ने हँसकर कहा—"मि० ऐस्कंब ने आपके साथ अभी तक ऐसी कौन भलाई की है जिससे उनकी सूचना पर आपको कुछ भी विचार करना पड़े ? फिर आपके पास यह मान लेने लिए भी क्या आधार है कि उनकी सूचना में केवल भलमनसाहत ही है और कोई रहस्य नहीं ? शहर में जो कुछ हुआ है और उसमें

इन भाई साहब का जो कुछ हाथ है उसे आपकी अपेक्षा मैं अधिक अच्छी तरह जानता हूँ। (मैंने सिर हिलाकर जवाब दिया) पर इतने पर भी हम यह क्षण भर के लिए मान लेते हैं कि उन्होंने भलमनसाहब के साथ ही यह सिफारिश की होगी। फिर भी इतना तो मैं अवश्य जानता हूँ कि उनकी सूचना पर ख़याल करने से आपकी सिवा बदनामी के और कुछ न होगा। इसलिए मेरी तो यही सलाह है कि यदि आप तैयार हों, तो अभी मेरे साथ साथ ही चले चलें। कप्तान तो अपने ही आदमी हैं। उनकी जिम्मेदारी हमारी जिम्मेदारी है। इनको पूछनेवाले आखिर दादा अब्दुल्ला ही तो हैं। वे इस विषय में जो सोचेंगे सो मैं भली भाँति जानता हूं। क्योंकि उन्होंने इस मामले में बड़ी बहादुरी जतायी है।" मैंने कहा—"तो चलिए, मुझे कुछ भी तैयारी करनी नहीं है। सिर पर पगड़ी भर रखना है। कप्तान को खबर करके चले चलें।" बस कप्तान की आज्ञा लेकर हम लोग चले।

मि० लाटन डर्बन के बहुत पुराने और बड़े ख्यातनामा वकील थे। मैं भारत गया उसके पहले ही उनके साथ मेरा बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध हो चुका था। अपने महत्वपूर्ण मुकदमों में मैं उन्हीं की सहायता लेता था और कई बार उनको अपने मामलों में बड़ा वकील भी बनाता था। वे बड़े बहादुर आदमी थे। शरीर के ऊँचे-पूरे थे।

हमारा रास्ता डर्बन के बड़े से-बड़े मुहल्लों में से गुजरता था। हम लोग जहाज से उतरे उस वक्त शाम के कोई साढ़े चार बजे होंगे। आकाश में यों ही कुछ मेघ थे, पर सूरज को छिपाने के लिए वे काफी थे। रास्ता इतना लम्बा था कि पैदल ही चले जायें तो सेठ रुस्तमजी के बँगले पहुँचने के लिए कम-से-कम एक घंटा

तो जरूर लगता। हम उतरे कि कितने ही लड़कों ने हमें देखा। बड़े आदमी तो उनमें थे ही नहीं। साधारणतया बन्दरों पर जितने आदमी होते हैं, बस उतने ही मालूम होते थे। मेरे जैसी पगड़ी पहननेवाला तो अकेला मैं ही था न। लड़कों ने मुझे फौरन पहचान लिया और 'गाँधी', 'गाँधी' इसे 'मारो', 'पीटो' 'घेरो' चिल्लाकर हमारी तरफ दौड़े। कोई-कोई कंकड़-पत्थर भी फेंकने लगे। फिर कितने ही अधड़ गोरे भी आकर उनमें शामिल हो गये। कोलाहल धीरे-धीरे और बढ़ा। मि० लाटन को मालूम हुआ कि पैदल जाना मानों खतरे को निमन्त्रित करना है। इस-लिए उन्होंने रिक्शा मँगायी। रिक्शा एक छोटी सी टमटम को कहते हैं जिसे आदमी खींचता है। मैं तो कभी रिक्शा मे बैठा ही न था; क्योंकि मुझे ऐसी सवारी में बैठना बहुत बुरा मालूम होता था कि जिसे मनुष्य खींचता हो। पर आज मुझे मालूम हुआ कि इस समय रिक्शा में सवार होना ही मेरा धर्म है। पर मैंने अपने ही जीवन मे पाँच-सात कठिन अवसरों पर इस बात को प्रत्यक्ष देखा है कि परमात्मा जिसे बचाना चाहता है वह स्वयं भी गिरना चाहे तो नहीं गिर सकता। मैं उस समय गिरा नहीं; इसका पूरा श्रेय अकेला मैं कदापि नहीं ले सकता। रिक्शा खींचनेवाले हबशी लोग ही होते हैं। छोटे-बड़े, सभी ने रिक्शा वाले को डराया कि तू इस आदमी को रिक्शा में बैठावेगा तो हम सब तुझे पीटेंगे और तेरी गाड़ी को तोड़ डालेंगे। इसलिए रिक्शावाला तो 'खा' अर्थात् ना कहकर चलता बना। और मैं रिक्शा में बैठते ही बैठते रह गया।

अब सिवा पैदल चलकर जाने के हमारे लिए दूसरा चारा ही न था। हमारे पीछे-पीछे तो एक खासा जुलूस जुट गया। जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते गये, वैसे ही वैसे वह भी बढ़ता ही

गया। आम रास्ते पर आये कि फिर तो छोटे-बड़े सैकड़ों लोग इकट्ठे हो गये। किसी मजबूत आदमी ने झपटकर मि० लाटन को अपने दोनों हाथों में पकड़ लिया और मुझ से अलग कर दिया। उनके अलग होते ही मुझ पर होने लगी गालियों, पत्थरों और जो कुछ उन लोगों के हाथ आया उसकी वर्षा। मेरी पगड़ी उड़ा दी गयी। तब तक एक मजबूत ऊंचा-पूरा आदमी आया और उसने मुँह पर एक चाँटा लगाकर पीछे से मुझे ऐसी जोर से लात जमायी कि मुझे चक्कर आ गया। मैं गिर ही रहा था कि रास्ते के नजदीक वाले किसी मकान के कम्पाउंड की जाली मेरे हाथ में आ गयी। मैंने जरा दम लिया और आँखों की अँधि-यारी कम होते ही फिर आगे बढ़ा। जिंदा घर को पहुँचने की आशा तो लगभग मैंने छोड़ ही दी थी। पर इतना तो मुझे अब भी याद पड़ता है कि इस वक्त भी मेरा हृदय उन मारनेवालों को जरा भी दोष न देता था।

इस प्रकार मैं धीरे-धीरे अपना रास्ता तय कर रहा था कि इतने ही में डर्बन के पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट की औरत सामने से आ रही थी। हम एक दूसरे को अच्छी तरह जानते थे। यह महिला बड़ी बहादुर थी। यद्यपि आकाश में कुछ-कुछ मेघ थे और सूर्य भी अस्त होने ही को था, तो भी उसने मेरी रक्षा के लिए अपना छाता खोल उसे मेरे सिर पर कर मेरे साथ-साथ चलने लगी। स्त्री-जाति का अपमान और सो भी डर्बन के पुराने और लोकप्रिय कोतवाल की धर्म-पत्नी का अपमान तो गोरे कभी नहीं कर सकते थे। वे तो उसे जरा भी चोट नहीं पहुँचा सकते थे। इसलिए उसे बचा कर मुझ पर जो प्रहार होता वह तो यों ही हलका-सा होता। इधर इस आक्रमण की खबर पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट तक जा पहुँची। फौरन उन्होंने मेरी रक्षा

के लिए पुलिस का एक दल भेज दिया। इस दल ने आते ही मुझे अपने बीच में कर लिया। फिर आगे बढ़े। हमारा रास्ता थाने के पास से होकर गुजरता था। वहाँ पहुँचे तो देखा कि कोतवाल साहब हमारी राह ही देख रहे थे। उन्होंने मुझे पुलिस-चौकी के अन्दर जाने की सलाह दी। मैंने इस कृपा के लिए अहसानमन्दी जाहिर करते हुए कहा कि मुझे तो अपने मुकाम पर ही जाना है। डर्बन के लोगों की न्यायवृत्ति पर और अपने सत्य पर ही मुझे पूरा विश्वास है। आपने मेरे लिए पुलिस-दल भेजा इसके लिए मैं आभारी हूँ। इसके अतिरिक्त मिसेस अलेक्जैण्डर ने भी मेरी रक्षा की है।

अन्त में मै सकुशल रुस्तमजी के बँगले पर जा पहुँचा। लगभग शाम हो गयी थी। कुर्लिंड के डाक्टर दाजी बरजोर रुस्तम जी यहीं थे। उन्होने मेरी देखभाल शुरू की। जखमो को जाँचा। चोट अधिक नहीं लगी थी। एक बन्द चोट अधिक तकलीफ दे रही थी। पर अभी शान्ति मेरे नसीब में नहीं थी। मेरे आते ही आते रुस्तमजी के मकान के सामने हजारों गोरे इकट्ठे हो गये। रात बढ़ गयी थी। अतः बहुत से गुण्डे भी उनमें शामिल हो गये थे। लोगो ने रुस्तमजी से कहला भेजा कि यदि तुम गांधी को हमारे सुपुर्द न करोगे तो तुम्हें और उसके साथ हम तुम्हारी दुकान को भी आग लगा देंगे। पर वे इस तरह डरनेवाले पुरुष नहीं थे। तबतक यह खबर पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट अलेक्जैण्डर के पास भी जा पहुँची। उसी क्षण वे अपनी खुफिया पुलिस के एक दल को लेकर इस जमघट में चुपचाप आ घुसे और एक मंच मँगाकर उसपर खड़े हो गये। फिर धीरे-धीरे लोगों से बात-चीत करने के बहाने पारसी रुस्तम जी के घर के दरवाजे पर अधिकार कर लिया, जिससे उसे तोड़कर कोई अन्दर न जा सके

कहने की आवश्यकता नहीं कि उन्होंने अपनी खुफिया पुलिस के जवानों को पहले ही अभीष्ट स्थान पर छिपा रक्खा था। वहाँ पहुँचते ही अपने एक अधिकारी को हिन्दुस्तानी पोशाक पहना हिन्दुस्तानियों के जैसा चेहरा रँगकर हिन्दी व्यापारी की तरह अपने को दिखाने को कह रक्खा था, और उसे यह हुक्म दे रक्खा था कि वह मुझे मिले और कहे कि यदि आप अपने मित्र की, उनके मेहमानों की, उनकी सम्पत्ति की और अपने बाल-बच्चोंकी रक्षा करना चाहते हैं तो आपको एक हिन्दुस्तानी सिपाही का सा लिबास पहनकर पारसी के गोदाम में होकर इसी भीड़ में से मेरे आदमी के साथ पुलिस चौकी पर पहुँच जाना चाहिए। इस गली के मुहाने पर आपके लिए गाड़ी तैयार रक्खी है। आपको और अन्य लोगों को बचाने का अब केवल यही उपाय मेरे हाथों में है। लोग इतने उत्तेजित हो गये हैं कि उन्हें रोकने के लिये मेरे पास अब कुछ भी साधन नहीं है। अगर आप जल्दी न करेंगे तो यह मकान अभी जमीन दोस्त जायगा। इतना ही नहीं बल्कि इससे धन-जन की जो हानि होगी, उसकी मैं कल्पना भी नहीं कर सकता।

वह मिला। यह सब उसने मुझ से कहा। फौरन सारी परिस्थिति मेरे ख्याल में आ गयी। मैंने उसी समय सिपाही की पोशाक मांगी, उसे पहना और वहाँ से निकलकर सकुशल पुलिस चौकी पर जा पहुँचा। इधर कोतवाल साहब प्रसंगोचित गीत गवाकर और भाषण द्वारा भीड़ को बातों में लगा रहे थे। ज्यों ही उन्हें मालूम हुआ कि मैं पुलिस चौकी पर सही सलामत पहुँच गया हूँ कि उन्होंने काम की बात छेड़ी।

"आप लोग क्या चाहते हो?"

"हम गांधी को चाहते हैं।"

"उसे क्या करोगे ?"

"हम उसे जीता जलावेंगे।"

"उसने आपका क्या बिगाड़ा है ?"

"उसने भारत में हमारे विषय में कितनी ही झूठी बातें कहीं हैं, और वह नेटाल को हजारों हिन्दुस्तानियों से भर देना चाहता है।"

"पर यदि वह बाहर न आवे तो आप क्या करोगे ?"

"तो हम इस मकान को ही आग लगा देंगे।"

"इसमें तो उसके बाल बच्चे हैं, दूसरे भी स्त्री-पुरुष हैं। स्त्रियों और बच्चों को जलाने में तुम्हे कोई लज्जा नहीं मालूम होती ?"

"पर यह तो आपका दोष है। आप हमें लाचार ही कर देंगे तो हम क्या करेंगे ? हम तो और किसी को नहीं मारना चाहते। बस, आप तो गांधी को हमारे सुपुर्द कर दीजिए। आप तो अपराधी को भी न दें और यदि उसे पकड़ते हुए दूसरों को चोट पहुँचे तो उसका दोष भी हमारे ही सिर मढ़ें। यह कहाँ का न्याय ?"

सुपरिन्टेन्डेन्ट ने धीरे से हँसकर कहा कि मै तो उनके बीच होकर कभी का दूसरी जगह सही सलामत पहुँच गया हूँ। यह सुन कर लोग ठठाकर हँस पड़े; और कहने लगे 'झूठ' 'झूठ'।

सुपरिन्टेन्डेन्ट ने कहा "अगर आपको अपने वृद्ध कोतवाल की बात पर विश्वास न हो, तो आपने ही में से ३-४ आदमियो की कमेटी बनाइए और शेष सब यह वचन दीजिए कि और कोई आदमी मकान के अन्दर नहीं जावेगा। यदि कमेटी गाँधी को न ढूंढ सके तो आप सब शान्तिपूर्वक अपने अपने घर लौट

जावेंगे। उत्तेजित होकर आपने पुलिस की सत्ता को नहीं माना, इसमें पुलिस की नहीं, आप की ही बदनामी है। इसीलिए पुलिस को आपके साथ चालबाज़ी से काम लेना पड़ा। आपके शिकार को वह आपके बीच में से निकाल ले गयी और आपको हरा दिया। इसमें आपको पुलिस को ज़रा भी दोष न देना चाहिए, जिस पुलिस को आपने बनाया है उसी ने इसमें अपने कर्तव्य का पालन किया है।"

यह तमाम बातचीत सुपरिन्टेन्डेन्ट ने इतनी मधुरता, हास्य और दृढ़ता के साथ की कि लोगों ने उसे वह वचन भी दे दिया। कमेटी बनी। उसने पारसी रुस्तमजी के मकान का कोना-कोना ढूँढ डाला और लोगों से आकर कह दिया कि सुपरिन्टेन्डेन्ट की बात सच है। उसने हमें हरा दिया। लोग निराश तो हुए। पर अपने वचन पर भी कायम रहे। किसी का कुछ नुकसान न किया। सीधे अपने अपने घर को चले गये। उस दिन जनवरी सन् १८९७ की तेरहवीं तारीख थी।

उसी दिन सुबह मुसाफिरों पर प्रतिबन्ध दूर हुआ था कि फौरन ही डर्बन के एक समाचारपत्र का रिपोर्टर मेरे पास आया। वह सब बातें मुझसे पूछ गया था। मुझ पर जो आरोप किया गया था, उनका स्पष्टीकरण करना बिलकुल आसान था। तमाम उदाहरण ले ले कर मैंने यह दिखा दिया कि मैंने उसमें तिलमात्र भी अत्युक्ति से काम नहीं लिया। जो कुछ भी मैंने किया वह मेरा धर्म था। अगर मैं वह न करता तो मैं मनुष्य-जाति में गिने जाने लायक न रहता। ये तमाम समाचार भी दूसरे दिन प्रकाशित हो गये, और समझदार गोरों ने अपना अपना दोष कबूल कर लिया। समाचारपत्रों ने नेटाल की परिस्थिति के विषय में अपने हार्दिक भाव प्रकट किये; पर साथ ही मेरे कार्यों का भी

समर्थन ही किया। इससे मेरी और साथ ही भारतीयों की प्रतिष्ठा और भी बढ़ गयी। गोरों ने यह भली भाँति देख लिया कि गरीब हिन्दुस्तानी भी नामर्द नहीं होते, व्यापारी लोग भी अपने व्यापार की जरा भी पर्वाह न करते हुए स्वाभिमान के लिए; स्वदेश के लिए लड़ सकते हैं।

इससे यद्यपि जाति को तो एक तरह से दुःख सहना पड़ा, और स्वयं दादा अबदुल्ला को तो बहुत भारी नुकसान उठाना पड़ा, तथापि इस दुःख के अन्त में लाभ ही हुआ। क़ौम को अपनी शक्ति का अनुमान हुआ और आत्मविश्वास बढ़ा। मुझे अधिक अनुभव हुआ और उस दिन का विचार करते हुए अब तो मालूम होता है कि परमात्मा मुझे सत्याग्रह के लिए धीरे-धीरे तैयार कर रहा था।

नेटाल की घटनाओं का असर विलायत पर भी पड़ा। मि० चेम्बरलेन ने नेटाल की सरकार को तार दिया कि जिन लोगों ने मुझ पर हमला किया उन पर काम चलाया जाय और मुझे न्याय दिया जाय।

मि० ऐस्कंब न्याय-विभाग के मन्त्री थे। उन्होंने मुझे बुलाया। मि० चेम्बरलेन के तार की बात कही। इस बात पर दुःख प्रकट किया कि मुझे चोट पहुँची और मैं बच गया, इसलिए सन्तोष भी व्यक्त किया। उन्होंने कहा—"मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मैं यह जरा भी नहीं चाहता था कि आपको या आपकी कौम के किसी भी आदमी को चोट पहुँचे। मुझे यह डर था कि कहीं आपको चोट न पहुँचे, इसीलिए मैंने आपके पास जहाज से रात को उतरने की वह सूचना भेजी थी। पर आपको वह सूचना पसन्द नहीं आयी। मैं इस बात के लिए आपको जरा भी दोष नहीं देना चाहता कि आपने मि० लाटन

की बात क्यों मानी ? आपको पूरा अधिकार था कि आप वही करें जो आपको योग्य मालूम हो। मि० चैम्बरलेन की माँग से नेटाल सरकार पूरी तरह से सहमत है। हम यह चाहते हैं कि अपराधियों को सजा हो। हमला करनेवालों में से आप किसी को पहचान सकेंगे ?" मैंने कहा सम्भव है एक दो आदमियों को मैं पहचान सकूँ। पर यह बात आगे बढ़े इसके पहिले मै यह कह देना चाहता हूँ कि मैंने अपने दिल मे बहुत पहिले से यह निश्चय कर लिया है कि मुझपर हमला करनेवालों में से किसी पर भी मैं अदालत में मामला चलाना नहीं चाहता। मुझे तो आक्रमणकारियो का इसमें जरा भी दोष दिखायी नहीं देता। उन्हें तो जो समाचार मिले वे उनके अगुआओं के दिये हुए थे। उनकी सचाई जाँचने के लिए वे लोग थोड़े ही बैठ सकते हैं ? मेरे विषय में उन्होंने जो कुछ सुना, वह अगर सत्य हो तो वे उत्तेजित होकर जोश में कुछ अकार्य भी कर डालें, तो मैं उन्हें इसके लिए जरा भी दोष न दूँगा। उत्तेजित जनता इसी प्रकार न्याय मागती आयी है। अगर इसमें किसी का दोष है, तो इस विषय के लिए सगठित की गयी कमेटी का और आपका और इसीलिये नेटाल सरकार का। रूटर ने चाहे जो तार दिया हो पर जिस हालत मे मैं यहाँ आ रहा हूँ यह आपको मालूम था तो आपका और उस कमेटी का यह धर्म था कि आपने और उस कमेटी ने जो-जो तर्क किये उसके विषय में मुझे आप पूछ लें, मेरे उत्तर सुन लें, और फिर जो योग्य मालूम हो, सो भले ही करें। अब मुझपर किये गये हमले के लिए मैं आपपर या उस कमेटी पर मुकदमा नहीं चला सकता और यदि वैसे हो सकता हो तो भी मैं नहीं चाहता कि अदालत के द्वारा न्याय प्राप्त करूँ। जिस प्रकार आपको उचित

मालूम हुआ, आपने नेटाल के गोरों के स्वत्वों की रक्षा के लिए यत्न किया। यह तो राजनीति है। मुझे भी तो इसी क्षेत्र में आपके साथ जूझना है और आपको तथा अन्य गोरों को यह बात दिखा देना है कि हिन्दुस्तानी लोग ब्रिटिश साम्राज्य के एक महान् हिस्से की हैसियत से गोरों को बिना कोई नुकसान पहुँचाये केवल अपने स्वाभिमान और स्वत्वों की रक्षा करना चाहते हैं। मि० एस्कब ने कहा—"आपने जो कुछ कहा मैं सब समझ गया और वह मुझे पसन्द भी आया। मैं यह सुनने के लिए तैयार न था कि आप मुकदमा चलाना नहीं चाहते। पर अगर तैयार भी होते तो मैं अप्रसन्न होता। पर जब कि आपने मामला न चलाने का अपना निश्चय प्रकट कर ही दिया है, तो मुझे यह कहने में जरा भी सकोच नहीं होता कि आप बिल्कुल ठीक निश्चय पर पहुँचे हैं। इतना ही नहीं, बल्कि आप अपने इस सयम के द्वारा ही अपनी कौम की अधिक सेवा करेंगे। साथ ही मुझे यह भी कबूल करना चाहिए कि अपने इस कार्य से आप नेटाल सरकार को विषम स्थिति से बचा लेंगे। अगर आप चाहें तो हम पकड़ा-पकड़ी भी करेंगे पर आपको यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इससे गोरों का क्रोध फिर भड़के, अनेक प्रकार की टीकायें होंगी और यह सब किसी भी राज्यसत्ता को पसन्द नहीं हो सकता। पर यदि आप उस निश्चय पर पहुँच ही चुके हों तो आप इस आशय की एक चिट्ठी मुझे लिख दें। हमारी बात-चीत का सार मात्र लिखकर मैं अपनी सरकार का बचाव चैम्बरलेन के सामने नहीं कर सकता मुझे तो आपकी चिट्ठी के भावार्थ का ही तार करना होगा। यह कोई जरूरी बात नहीं कि आप मुझे चिट्ठी अभी लिख दें। अपने मित्रों के साथ आप सलाह-मशवरा कर सकते हैं। मि०

लाटन की भी सलाह ले लें और इसके बाद अगर आप उसी अपने विचार पर दृढ़ रहें तब मुझे लिखें। अवश्य कह देना चाहिये कि पत्र में इस बात की जिम्मेदारी आपको अपने ही सिर लेनी होगी कि आप खुद ही फर्याद करना नहीं चाहते तभी मैं उसका उपयोग कर सकूँगा।" मैंने कहा—"इस विषय में मैंने किसी की राय नहीं ली। मैं यह भी नहीं जानता था कि आपने मुझे इसी बात के लिए बुलाया था और न मुझे यह इच्छा ही है कि किसी के साथ इस विषय में सलाह-मशवरा करूं। जिस समय मैंने मि० लाटन के साथ घर पर पैदल जाने का निश्चय किया था उसी समय मैंने दिल में यह तय कर लिया था कि यदि रास्ते में मुझ पर कोई आक्रमण वगैरा हुआ और मुझे कोई चोट लगी तो मुझे बुरा न मानना चाहिए। फिर फर्याद करने का तो सवाल ही कहाँ रहा ? मेरे लिए तो यह धार्मिक प्रश्न है। और जैसा आप कहते हैं मैं यह भी मानता हूँ कि मैं अपने इस संयम से न केवल अपनी जाति की सेवा कर रहा हूँ, बल्कि इसमें मेरा व्यक्तिगत लाभ भी है। इसलिए इस निश्चय की सम्पूर्ण जिम्मेदारी अपने सिर पर लेकर मैं वह चिट्ठी आपको यहीं लिख देना चाहता हूँ। यह कह कर उनसे कोरा कागज लेकर वह पत्र मैंने उन्हें वहीं लिख कर दे दिया।

(८)

भारतीयों ने क्या किया ? (३)

विलायत का सम्बन्ध

पिछले अध्यायों को पढकर पाठकों को यह ज्ञात हो गया होगा कि भारतीयों ने अपनी स्थिति सुधारने के लिए अपनी ओर से और अनायास कितने प्रयत्न किये और किस तरह वहाँ अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाया। जिस प्रकार उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में अपनी सर्वाङ्गीण उन्नति के लिये यत्न किया उसी प्रकार भारत और इंग्लैंड से जो कुछ सहायता मिल सकती थी उसे प्राप्त करने के लिए भी कठिन परिश्रम किया। भारत में किये प्रयत्न के विषय में तो मैं कुछ पहले ही लिख चुका हूँ। अब यह कहना जरूरी है कि विलायत से सहायता प्राप्त करने के लिए कौम ने क्या-क्या किया। कांग्रेस को ब्रिटिश-कमेटी के साथ तो अवश्य ही अपना सम्बन्ध जोड़ना चाहिए था। इसलिए हर सप्ताह हिन्द के दादा को और कमेटी के अध्यक्ष सर विलियम वेडरबर्न को भी सविस्तर पत्र लिखे जाते थे। कभी जब अर्जी की नकल वगैरा भेजने की जरूरत देखी जाती तब-तब वहाँ के डाकव्यय वगैरा तथा अन्य मामूली खर्च के लिए कम-से-कम दस पौंड भेजे जाते थे।

यहाँ पर दादा भाई का एक पवित्र और स्मरणीय प्रसंग लिख देना चाहता हूँ। दादाभाई कमिटी के अध्यक्ष नहीं थे। तथापि हमें तो यही मालूम हुआ कि रुपये वगैरा इन्हीं के द्वारा भेजना शोभा देगा। फिर वे भले ही हमारी ओर से अध्यक्ष को दे दिया करें। पर पहलेपहल ही जो रुपये उन्हें भेजे गये, उन्हें उन्होंने लौटा दिया और लिखा कि रुपये वगैरा भेजने का कमिटी संबंधी काम हमें सर विलियम वेडरबर्न के द्वारा ही करना चाहिए। दादाभाई की सहायता तो थी ही पर कमिटी की प्रतिष्ठा सर विलियम वेडरबर्न के मार्फत काम लेने ही से बढ़ती। मैंने यह भी देखा कि यद्यपि दादाभाई इतने वयोवृद्ध थे तथापि पत्र वगैरा भेजने के काम में बड़े ही नियमित थे। अगर उनके पास लिखने के लिये और कुछ न होता तो कम-से-कम हमारे पत्र की पहुँच तो लौटती डाक से अवश्य ही आ पहुँचती। उस पत्र में भी आश्वासन के दो-एक शब्द रहते। ऐसे भी वे स्वयं ही लिखते और उन पहुँचने वाले पत्रों को भी अपने टिशियू पेपर बुक में छाप लेते।

पिछले अध्याय में मैं यह भी बता चुका हूँ कि यद्यपि हमने कांग्रेस का नाम वगैरा तो रक्खा था तथापि हमारा यह हेतु कभी नहीं था कि हम अपने सवाल को एक पक्षीय बना लें। इसलिए दादाभाई की जानकारी में अन्य पक्षों के साथ भी हमारा पत्र-व्यवहार होता रहता था। इनमें दो मुख्य पुरुष थे। एक तो सर मंचेरजी भावनगरी और दूसरे सर विलियम विल्सन हंटर। सर मंचेरजी भावनगरी उस समय पार्लमेंट में थे। इनकी ओर से अच्छी सहायता मिलती थी और वे हमेशा सूचनायें भी दिया करते थे। पर दक्षिण अफ्रीका के सवाल के महत्त्व को भारतीयों से भी पहले समझनेवाले और वैसी ही कीमती सहायता करने-

वाले सज्जन सर विलियम विल्सन हंटर थे। वे टाइम्स के भारतीय विभाग के संपादक थे। इनके पास ज्योंही पहला पत्र पहुँचा त्योंही उन्होंने उसमें दक्षिण अफ्रीका की स्थिति को यथार्थ स्वरूप में जनता के सामने रख दिया। जहाँ-जहाँ उचित मालूम हुआ वहाँ-वहाँ उन्होंने खानगी पत्र भी लिखे। अगर कोई महत्वपूर्ण प्रश्न छिड़ जाता तो इनकी डाक बराबर नियम से हर सप्ताह आती। अपने पहले ही पत्र में उन्होंने लिखा था—"आपने वहाँ की स्थिति का जो हाल लिखा है उसे पढकर मैं दुःखित हूँ। आप अपना काम निःसन्देह विनय-पूर्वक, शान्ति के साथ और संयम से ले रहे हैं। इस प्रश्न में मैं पूरी तरह से आपके साथ हूँ। और न्याय प्राप्त करने के लिए मुझसे जो कुछ बन पड़ेगा सब करना चाहता हूँ। मुझे तो निश्चय है कि इस विषय में हम एक इंचभर भी पीछे पैर नहीं रख सकते। आपकी माँग तो ऐसी है कि कोई भी निष्पक्ष मनुष्य उसमें तिलमात्र रद्दो-बदल नहीं कर सकता।" करीब-करीब यही शब्द उन्होंने "टाइम्स" के अपने पहले लेख में लिखे थे, और आखिर तक उसी बात पर कायम रहे। लेडी हटर ने अपने एक पत्र में लिखा था कि जब उनकी मृत्यु का समय आया तब उन दिनों में भी उन्होंने भारतीयों के प्रश्न पर एक लेखमाला लिखने के लिए एक ढाँचा तैयार कर रखा था।

मनसुखलाल नाजर का नाम पिछले प्रकरण में लिख चुका हूँ। इग्लैन्ड के खास-खास लोगों को दक्षिण अफ्रीका का प्रश्न अधिक अच्छी तरह समझाने के लिए उन्हें विलायत भेजा गया था। वहाँ उन्हें यह भी लिख भेजा था कि तमाम पक्षों को अपने साथ में लेकर वे वहाँ काम करें। जब तक वे वहाँ रहे सर विलियम विल्सन हन्टर और सर मंचेरजी भावनगरी और ब्रिटिश

कमिटी से सलाह मशविरा करके ही हरएक काम करते थे। उसी प्रकार भारत में काम किये हुए अन्य महकमों के पेन्शन पाने-वाले अधिकारी लोग, भारतीय सचिव-मण्डल, तथा उपनिवेश-सचिव-मण्डल आदि के भी निकट परिचय में वे रहते थे। इस प्रकार जहाँ तक हम पहुँच सकते थे ऐसा एक भी पहलू नहीं छोड़ा था कि जहाँ कोई प्रयत्न न किया गया हो। इन तमाम प्रयत्नों का निश्चित परिणाम तो यह हुआ कि प्रवासी भारतवा-सियों का प्रश्न बड़ी—साम्राज्य सरकार के लिए एक महत्त्व पूर्ण वस्तु हो गयी। और इसका अच्छा तथा खराब अन्य राज्यों पर असर भी पड़ा। अर्थात् जहाँ-जहाँ भारतीय और अंगरेज बसते थे वहाँ-वहाँ वे जाग्रत हो गये।

(६)

बोअर-लड़ाई

पाठकों ने यदि पिछले अध्याय ध्यानपूर्वक पढ़े होंगे तो उन्हें अवश्य ही इस बात का अनुमान हो गया होगा कि बोअर-लड़ाई के समय दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों की स्थिति कैसी थी। तबतक जो कुछ प्रयत्न हुआ था उसका वर्णन पिछले अध्यायों में दिया जा चुका है। जैसा कि पहले सोने की खानों के मालिकों के साथ घरू तौर से तय हो चुका था। सन १८९६ में डा. जेमीसन ने, जोहान्सबर्ग पर चढ़ाई कर दी। सोचा तो दोनों ने यही था कि जोहान्सबर्ग पर हमारा अधिकार हो जाने के बाद ही यह खबर बोअर-सरकार को मालूम होगी।

पर डा. जेमीसन और उनके मित्रों ने अपने अन्दाज़ में बहुत भारी गलती की। दूसरे, उन्होंने यह भी सोच रक्खा था कि रोडेशिया में शिक्षा पाये हुए निशानबाज़ सिपाहियों के सामने बिना तालीम पाये हुए बोअर किसान टिक न सकेंगे? उन्होंने यह भी अनुमान कर लिया था कि जोहान्सबर्ग की अधिकाँश जनता तो उनका स्वागत ही करेगी। पर इन भले

डाक्टर साहब का यह अन्दाज भी बिल्कुल गलत साबित हुआ। प्रेसिडेन्ट क्रूगर को इन तमाम बातों की खबर बहुत अच्छे समय पर मिल चुकी थी। उन्होंने बड़ी शान्ति और कुशलता के साथ छिपे-छिपे ही डाक्टर साहब का सामना करने की व्यवस्था कर ली। साथ ही उस षड्यंत्र में जो-जो आदमी मिले हुए थे उन सबको पकड़ने की तैयारी भी कर रक्खी। डाक्टर साहब जोहान्सबर्ग के नजदीक भी न पहुँचे कि उसके पहले ही से बोअर फौज ने अपनी गोलियों से उनका स्वागत शुरू कर दिया। इस फौज के सामने डा. जेमिसन की टुकड़ी कदापि नहीं टिक सकती थी। प्रे. क्रूगर ने इस बात की भी पूरी व्यवस्था कर रक्खी कि जोहान्सबर्ग में कोई उनका सामना न कर सके। अतः बस्ती में तो किसी ने भी ऊँचा सर न किया। प्रेसीडेन्ट क्रूगर की व्यवस्था को देखकर जोहान्सबर्ग के वे करोड़पति तो अवाक् रह गये। इतनी बढ़िया व्यवस्था का फल यह हुआ कि खर्च भी बहुत कम हुआ और जानें भी बहुत कम गयीं।

डा. जेमीसन और उनके मित्र सोने की खानों के मालिक पकड़े गये। धड़ाधड़ उनपर मुकदमे जारी हो गये। कितनों ही को फाँसी की सजायें सुनायी गयीं। इनमें से अधिकाँश तो करोड़पति ही थे। भला इसमें बड़ी सरकार क्या कर सकती थी? यह तो दिन दहाड़े की डकैती थी। प्रेसीडेन्ट क्रूगर का महत्त्व एकदम बढ़ गया। मि० चेम्बरलेन ने बड़ा ही दीनता भरा एक तार भेजा और प्रेसीडेण्ट क्रूगर के दयाभाव को जाग्रत करते हुए उन बड़े आदमियों के लिए दया की भीख माँगी। प्रेसीडेन्ट क्रूगर अपने खेल में निपुण थे। यह तो किसी को भी डर न था कि कोई भी शक्ति दक्षिण अफ्रीका में से इनकी राज्य-सत्ता छीन

सकती है। बेचारे डा. जेमीसन और उनके मित्र अवश्य समझते थे कि हमारा षड्यन्त्र बहुत अच्छी तरह से रचा गया है। पर प्रे. क्रूगर के लिए तो वह बच्चों का एक खेल-मात्र था। इसलिए उन्होंने चैम्बरलेन की विनती को स्वीकार किया और किसी को फाँसी की सजा नहीं दी। यही नहीं बल्कि सबको क्षमा करके छोड़ दिया।

पर एक बार उलटा हुआ अन्न पेट में कब तक रह सकता है? स्वय प्रे. क्रूगर भी तो जानते थे कि डा. जेमीसन का षड्यन्त्र एक भीषण रोग का तुच्छ चिन्ह-मात्र है। यह असंभव है कि जोहान्सबर्ग के करोड़पति अपनी बदनामी को किसी तरह भी धो डालने का प्रयत्न भी न करेंगे। फिर जिन सुधारों के लिए डा. जेमीसन का षड्यन्त्र रचा गया था, उनमें से तो एक अंश भी उन्हें नहीं मिला था। इसलिए यह भी असम्भव था कि करोड़पति चुपचाप बैठे रहें। उनकी माँगों के साथ दक्षिणी अफ्रीका के हाई कमिश्नर—ब्रिटिश सल्तनत के मुख्य प्रतिनिधि लार्ड मिल्नर की पूर्ण सहानुभूति थी। ट्रान्सवाल के द्रोही—षड्यन्त्रियों के प्रति बतायी गयी प्रे. क्रूगर की उदारता की तारीफ करते हुए मि० चैम्बरलेन ने सुधारों की आवश्यकता की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया। सब कोई जानते थे कि सिवा लड़ाई के झगड़ा मिटना असम्भव है। खानों के मालिकों की माँगे भी ऐसी ही थीं कि ट्रान्सवाल से बोअर सत्ता का प्राधान्य जाता रहे। दोनों पक्ष जानते थे कि लड़ाई अनिवार्य है। इसलिए दोनों पक्ष तैयारी कर रहे थे। तत्कालीन शब्द-युद्ध देखते ही बनता था। प्रे. क्रूगर ने ज्यादा हथियार वगैरा मँगाये कि फौरन् ब्रिटिश राजदूत अपनी सरकार को चेतावनी देता कि अंग्रेज सरकार को भी आत्मरक्षा के लिए दक्षिण अफ्रीका में

कुछ फौज भेजनी चाहिए। और ब्रिटिश फौज दक्षिण अफ्रीका में आयी कि प्रे. क्रूगर की ओर से उलाहना जाता और खुद और भी युद्ध-सामग्री जुटाने में लग जाते। इस प्रकार एक पक्ष दूसरे पक्ष पर आरोप करते हुए दोनों तेजी के साथ युद्ध की तैयारी करते जा रहे थे।

जब प्रेसीडेन्ट क्रूगर अपनी ओर से पूरी तैयारी कर चुके, तब उन्होंने देखा कि अब बैठे रहना अपने आप शत्रु की शरण जाने के बराबर है। ब्रिटिश सल्तनत के पास धन और पशुबल का अटूट भंडार है। वह प्रे. क्रूगर को समझाते-बुझाते न्याय के लिए प्रार्थना करते हुए धीरे-धीरे तैयारी करती हुई यों ही बहुत समय निकाल सकती है। फिर वह एक ओर संसार को भुलावे में डालने के लिए यह कहती रहेगी कि जब प्रे. क्रूगर बिल्कुल माने ही नहीं तब लाचार होकर हमें युद्ध करना पड़ रहा है। और दूसरी ओर इस तैयारी के साथ युद्ध करेगी कि प्रे. क्रूगर उसके सामने खड़े ही न रह सकें; उन्हें दीन बनकर ब्रिटिश सल्तनत की माँगें कबूल करनी ही पड़ें। पर जिस राष्ट्र में १८ वर्ष की उम्र से लगा कर ६० वर्ष की उम्र तक के पुरुष युद्धकुशल हों, जिस राष्ट्र की स्त्रियाँ भी अगर चाहें तो लड सकती हों, जो राष्ट्र स्वतन्त्रता को एक धार्मिक सिद्धान्त समझता हो, वह एक चक्रवर्ती सम्राट् की शक्ति के सामने कभी दीन होकर सिर न झुकावेगा। बोअर लोग ऐसे ही बहादुर हैं।

आरेंज फ्री-स्टेट से प्रे. क्रूगर ने पहले ही से सलाह कर रक्खी थी। इन दोनों बोअर राज्यों की पद्धति एक ही थी। प्रे. क्रूगर यह जरा भी नहीं चाहते थे कि ब्रिटिश सरकार की माँग को वे पूरी तरह कबूल करते या कम से कम यहाँ तक भी समझौता कर लें कि जिससे खानों के मालिक संतुष्ट हो जायें। इसलिए

दोनों राज्यों ने विचारा कि अब यदि लड़ाई अनिवार्य ही है तो जितनी देर अपनी ओर से होगी उतना ही अधिक समय ब्रिटिश सरकार को तैयारी के लिए मिलेगा। इसलिए प्रे. क्रूगर ने अपने अन्तिम विचार तथा आखिरी माँग लार्ड मिलनर को लेख भेजी और उसी के साथ साथ ट्रान्सवाल और फ्री-स्टेट की सरहद पर फौज को भी लाकर खड़ा कर दिया। इसका और कुछ परिणाम हो ही नहीं सकता था। भला ब्रिटिशों के जैसा चक्रवर्ती राज्य कभी धमकियों के वश भी हुआ है? आखिरी चेतावनी की मियाद पूरी हुई। और बिजली की गति से बोअर फौज आगे बढ़ी। लेडी स्मिथ, किंबरली, और मेकेकिंग पर भी घेरा डाल दिया। इस प्रकार १८९९ में यह महान् युद्ध शुरू हो गया। पाठक जानते ही हैं कि लड़ाई के कारणों अर्थात् ब्रिटिश माँगों में—बोअर राज्यों में भारतीयों की स्थिति भी एक थी।

अब दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों के सामने यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न खड़ा हुआ कि उन्हें इस समय क्या करना चाहिए? बोअर लोगों में से तो सारा पुरुषवर्ग लड़ाई पर चल दिया। वकीलों ने वकालत छोड़ दी, किसानों ने अपने खेत छोड़ दिये, व्यापारियों ने अपने व्यापार को तिलांजलि दे दी, और नौकरों ने अपने स्तीफे पेश कर दिये। अंग्रेजों की ओर से इस परिणाम में तो नहीं, तथापि केप कालोनी, नेटाल और रोडेशिया से मुल्की-वर्ग में से बहुत बड़ी संख्या में लोग स्वयं-सेवक बने। बहुत से अंग्रेज वकील और व्यापारी भी शामिल हुए। जिस अदालत में मैं वकालत करता था वहाँ अब बहुत-थोड़े वकील रह गये थे। बड़े-बड़े वकील तो तमाम लड़ाई के काम में भिड़ गये थे। भारतीयों पर जो अनेक दोषारोपण किये जाते थे, उनमें एक यह भी था कि ये लोग तो दक्षिण अफ्रीका

में केवल धन इकट्ठा करने के लिए आते हैं। वे अंग्रेजों के लिए केवल भार रूप हैं। और जिस तरह दीमक लकड़ी को कुतर कर बिल्कुल पोला कर डालती है, ठीक उसी तरह ये लोग हमारा कलेजा खाने के लिए आये हुए हैं। मुल्क के ऊपर यदि कोई संकट आवे—घर-बार लुट जाने का प्रसंग आवे तो ये हमारे किसी काम में आनेवाले नहीं। हमें न केवल शत्रुओं से अपनी रक्षा करनी होगी बल्कि इनको बचाना भी होगा। इस आरोप पर हम तमाम भारतीयों ने विचार किया। और सबको यही मालूम हुआ कि उस आरोप को मिथ्या सिद्ध कर दिखाने के लिए यही सबसे बढ़िया अवसर है, पर साथ ही हमें नीचे लिखी बातों पर भी विचार करना पड़ा।

"हमें तो क्या अंग्रेज और क्या बोअर दोनों एक-सा देखते हैं। यह नहीं कि ट्रान्सवाल में तो दुःख है और नेटाल-केप में नहीं। अगर कोई फ़र्क़ है तो बहुत थोड़ा। फिर हम तो गुलाम के समान माने जाते हैं। हम जानते हैं कि यह मुट्ठीभर बोअर जाति अपने अस्तित्व के लिए लड़ रही है; फिर हम उसके विनाश में सहायक क्योंकर हो? फिर व्यवहारिक दृष्टि से देखा जाय तो भी यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि बोअरों की ही हार होगी। अगर उनकी विजय हुई तो क्या वे हमसे बदला न लेंगे?"

हममें से एक बलवान् पक्ष इस दलील को जोरों के साथ पेश कर रहा था। स्वयं मैं भी इस दलील को समझ सकता था, और आवश्यक महत्त्व भी उसे जरूर देता था। तथापि मुझे वह बिल्कुल ठीक नहीं मालूम हुई। अतः मैंने इस दलील के रहस्य का उत्तर अपने दिल को और अपने लोगों को इस तरह दिया:—

"दक्षिण अफ्रीका में हमारी हस्ती केवल ब्रिटिश प्रजा की हैसियत से ही है। हरएक दरख्वास्त में जो हक माँगे हैं वे भी इसी हैसियत से माँगे गये हैं। ब्रिटिश प्रजा कहलाने में अपना गौरव समझा है, कम से कम तो राज्याधिकारियों को यही दिखाया है कि हम यह मानते हैं। राज्याधिकारियो ने भी हमारे स्वत्वो की रक्षा इसलिए की है कि हम ब्रिटिश राज्य की प्रजा हैं। हम यहाँ जो भी कुछ कर सके हैं, सब उसी हैसियत के बल पर। दक्षिण अफ्रीका में अंग्रेज हमें दुःख देते हैं, इसलिए हमें—हमारे मनुष्यत्व को भी—यह शोभा नहीं देता कि ऐसे प्रसग पर जब कि उनके और हमारे घर-बार लुट जाने का खतरा है, हम तमाशबीन की तरह यह सब दूर से देखते रहें। यही नहीं, बल्कि अपने इस कार्य से हम अपना दुःख और भी बढ़ा लेंगे। जिस आरोप को हम असत्य मानते हैं, और जिसे असत्य सिद्ध कर दिखाने का मौका अनायास मिला है, ऐसी हालत में उसे अपने हाथ से खो देना मानों उसे स्वयं ही सच्चा साबित कर देना है। यदि हम पर अधिक मुसीबतें आवें और अग्रेज हमें दोष दें, तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं। यह तो हमारा ही दोष कहा जायगा। उस हालत में हमारा यह कहना मानो अपने आपको ठगना है कि अंग्रेज लोग जितने दोष हम पर लगाते हैं वे सब निर्मूल हैं। वे ध्यान देने के योग्य भी नहीं। यह सच है कि अंग्रेजी राज्य में हमारी हालत गुलामों की सी ही है पर हमारा अब तक का बर्ताव ब्रिटिश साम्राज्य में रहते हुए गुलामी मिटाने का प्रयत्न करने की ओर ही रहा है। भारत के तमाम नेता भी ऐसा ही कर रहे हैं। हम भी वही कर रहे हैं। और यदि ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर रह कर हम स्वाधीनता और अपने उत्कर्ष की साधना करना चाहते हैं, तो उसके लिए यह सुवर्ण

संयोग है। इस समय लड़ाई में तन-मन-धन से हम सहायता करें। यह तो हम अधिकांश में कबूल कर सकते हैं कि न्याय बोअरों के पक्ष में है। पर राज्य-तन्त्र के अन्दर हरएक प्रजाजन अपने व्यक्तिगत विचारों पर पूरी तरह अमल नहीं कर सकता। यह नहीं कि राज्याधिकारी जितने कार्य करते हैं वे सब योग्य ही होते हैं। तथापि जहाँ तक प्रजाजन किसी शासन-तन्त्र को कबूल करते हैं, वहाँ तक उनका यही स्पष्ट धर्म है कि वे अपने आपको सामान्यतः उसके अनुकूल ही बना लें।

फिर यदि प्रजा का कोई हिस्सा राज्य के किसी भी काम को यदि धार्मिक दृष्टि से अनीतिमय माने तो उस समय उस कार्य में विघ्न डालने या सहायता करने के पहले उसका पहला कर्तव्य यह होगा कि वह राज्य को उस अनीति से बचाने का पूरा प्रयत्न करे और यदि कर्तव्य करते हुए अपनी जान को भी जोखिम में डालना पड़े तो भी पीछे न हटे। पर हमने इसमें से कुछ भी नहीं किया। न हमारे सामने ऐसा कोई सवाल ही उपस्थित हुआ और न हममें से किसी ने यह कहा या माना कि फलाँ सार्वजनिक प्रबल और पर्याप्त कारण का विचार करते हुए हम लड़ाई में कोई भाग लेना नहीं चाहते। इसलिए प्रजाजन की हैसियत से तो हमारा यही धर्म है कि इस समय लड़ाई के गुण-दोषों का विचार छोड़ दें और लड़ाई छिड़ ही गयी है तो उसमें यथाशक्ति सहायता करें। इस समय यह कहकर स्वयं अपने साथ भी अन्याय करना है कि यदि बोअरों की विजय हुई—और यह मानने के लिए हमारे पास कोई कारण नहीं कि वे नहीं जीतेंगे—तो वे हमसे मनमाना बदला लेंगे या उस हालत में हमपर कढ़ाई से निकलकर भट्टी में गिरनेवाली कहावत चरितार्थ होगी। यह तो हमारी कायरता

की निशानी कही जायगी। इस बात का ख़याल तक करना हमारी वफादारी पर कलंक लगाना है। क्या कोई अंगरेज कभी क्षण भर के लिए भी ऐसा विचार कर सकता है कि यदि अंगरेजों की हार हुई तो उसकी क्या हालत होगी? रणांगण में खम ठोककर कूदनेवाला कोई भी मर्द ऐसी बेहूदा बातें नहीं किया करता। वे यह तो सरासर मनुष्यत्व के खिलाफ हैं।"

यह दलील मैंने १८६६ में पेश की थी। और आज भी मुझे उसमें रद्दोबदल करने लायक कोई बात नहीं मालूम होती। अर्थात् ब्रिटिश राज्य-तंत्र पर उस समय मेरा जितना मोह था, अपनी स्वाधीनता की आशा का जो सुन्दर दृश्य मैं उस समय इस राज्यतंत्र के अन्दर देखता था—वह मोह और वही आशा यदि आज भी कायम हो, तो मैं अक्षरसः यही दलील दक्षिण अफ्रीका में और ऐसे ही प्रसंगों पर यहाँ भी, अवश्य पेश करूँ। इस दलील के विपक्ष में बहुत-सी दलीलें मैंने दक्षिण अफ्रीका में और उसके बाद विलायत में भी सुनीं। तो भी अपने विचारों को बदलने लायक कोई कारण मैं उनमें न देख सका। मैं जानता हूँ कि प्रस्तुत प्रसंग से मेरे आज के विचारों का कोई सम्बन्ध नहीं। पर उपर्युक्त भेद स्पष्ट करने के दो प्रधान कारण हैं। पहला तो यह कि मुझे यह मान लेने का कोई अधिकार नहीं कि इस पुस्तक को जल्दी-जल्दी से हाथ में उठालेने वाला पाठक धीरज और शान्ति के साथ इसे पढ़ेगा और ऐसे पाठक मेरी आजकल की प्रवृत्तियों से उपर्युक्त विचारों का मेल मिलाना इस प्रकार के पाठकों के लिए बहुत मुश्किल होगा। दूसरा कारण यह है कि उस विचार-श्रेणी के अन्दर भी सत्य का आग्रह है। हम जैसे हैं वैसे ही दिखाना यह धर्माचरण की आखिरी नहीं तो पहली सीढ़ी है। बगैर इस नींव के धर्म की भित्ति खड़ी करना

असंभव है।

आइए, अब हम फिर इतिहास के सूत्र को आगे बढ़ावें। मेरी दलील को बहुत-से लोगों ने पसन्द किया। मैं पाठकों के दिल में यह भी भर देना नहीं चाहता कि वह केवल मेरी ही थी। मैंने इसे पेश किया उसके पहले भी लड़ाई में भाग लेने का विचार रखनेवाले बहुत से भारतीय थे ही। पर अब यह व्यावहारिक प्रश्न उपस्थित हुआ कि इन नक्कारों की आवाज में भारतीयों की तूती ही कौन सुनेगा? हथियार तो हममें से किसी ने कभी हाथ में ही नहीं लिये थे। पर लड़ाई में बिन हथियार काम के लिए भी तो तालीम की आवश्यता होती है। हम तो एक साथ 'क्विकमार्च' करना भी नहीं जानते थे। फिर फौज के साथ लम्बी मंजिलें तय करने, अपना-अपना सामान-असबाब उठाकर चलने की तो बात ही कौन कहे? दूसरे, गोरे लोग तो हम सबको 'कुली' ही मानते थे। वे यदि हमारा अपमान करें, तिरस्कार की दृष्टि से देखें, तो यह सब हम कैसे बरदाश्त करेंगे? हम फौज में भरती होने के लिए आज्ञा माँगेंगे। पर उसे मंजूर कैसे करावेंगे? आखिर हम सब इसी नतीजे पर पहुँचे कि कुछ भी हो उसे मंजूर करवाने के लिए प्रयत्न तो जरूर दिल से करें। काम को करने लगे कि अपने आप नवीन रास्ते सूझते जावेंगे। अगर इच्छा होगी तो परमात्मा अवश्यमेव शक्ति भी देगा। यह चिंता ही न करें कि हमें जो काम मिलेगा उसे हम कैसे करें? दिल को मजबूत कर लें, सेवाधर्म स्वीकारने का निश्चय कर लें, तो मान-अपमान का विचार छोड़कर अपमान सह करके भी हम सेवा कर सकेंगे।

पर हमारी माँग को स्वीकृत कराने में बेहद मुश्किलों का सामना पड़ा। उसका इतिहास बड़ा ही दिलचस्प है, पर उसे

लिखने के लिए यहाँ स्थान नहीं है। इसलिए यहाँ पर सिर्फ यही कह देना चाहता हूँ कि हममें से मुख्य-मुख्य पुरुषों ने घायलों तथा पीड़ितों की शुश्रूषा-परिचर्या करने की शिक्षा ग्रहण की। अपनी शारीरिक स्थिति के विषय में डाक्टरों से प्रमाणपत्र प्राप्त किये, और लड़ाई पर जाने के लिए की गयी माँग को सरकार ने मंजूर कर लिया। इस पत्र और उसके साथ की गयी प्रार्थना स्वीकार करने के आग्रह का बहुत अच्छा असर पड़ा। पत्र के उत्तर में सरकार ने अहसानमन्दी जाहिर की। पर उस समय उसे स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। इस बीच बोअरों का बल बढ़ता जा रहा था। बाढ़ की तरह वे बात की बात में सारे देश में फैलते जा रहे थे। यह भय होने लगा कि वे कहीं नेटाल की राजधानी तक चले न आवें। हताहतों की संख्या बहुत बढ़ गयी। हमारा प्रयत्न तो बराबर जारी था ही आखिर ऐम्ब्युलन्स् कोर (घायलों को उठा ले जाकर उनकी सेवा-शुश्रूषा करनेवाला दल) के बतौर हम रख लिये गये। हमने तो यहाँतक लिख भेजा कि दवाखानों में पाखाना साफ करने झाड़ू-बुहारु करने के लिए भी हम तैयार हैं। फिर इसमें कौन आश्चर्य की बात है यदि सरकार के हमें अम्ब्युलन्स कोर में काम करने के लिए रख लेने पर हमें आनन्द हो। हम तो चाहते थे कि कम-से-कम स्वतंत्र और गिरमिट-मुक्त भारतीयों को इस दल में लिया जाये पर हमने तो यह भी सूचना दी थी कि यदि गिरमिटियों को भी इसमें शामिल कर दिया जाय तो अच्छा होगा। पर परिस्थिति ऐसी थी कि इस समय सरकार को जितने आदमी मिलते उतने ही थोड़े थे। इसलिए तमाम कोठियों में निमन्त्रण भेजे गये। फल यह हुआ कि भारतीयों को शोभा देने योग्य ११०० आदमियों की विशाल टुकड़ी डर्बन से रवाना हुई। वह जब रवाना

हुई तब मि० एस्कंब ने, जिनके नाम से पाठक परिचित हैं और नेटाल के गोरे स्वयंसेवकों के नायक थे हमें धन्यवाद और आशीर्वाद दिये।

अंग्रेजी अखबारों को तो यह एक चमत्कार-जैसा ही मालूम हुआ। उन्हें यह आशा नहीं थी कि भारतीय भी लड़ाई में कोई काम करेंगे। किसी अंग्रेज ने वहाँ के एक अखबार में एक स्तुति-काव्य लिखा था जिसकी टेक की एक लाइन का अर्थ है "आखिर हम सब एक ही राज्य के तो बालक हैं।"

इस दल में लगभग ३०० से ४०० तक गिरमिट-मुक्त भारतीय थे जो स्वतंत्र भारतीयों के प्रयत्न से एकत्र हुए थे। उनमें ३७ नायक माने जाते थे, क्योंकि इन लोगों के दस्तखत की दरख्वास्त सरकार के पास गयी थी। और दूसरों को इकट्ठा करने वाले भी ये ही थे। नायकों में बैरिस्टर मेहता वगैरा थे। दल के कारीगर लोग मसलन् मिस्त्री, बढ़ई, राज वगैरा थे। इनमें हिन्दू मुसलमान, मद्रासी, उत्तर भारत के निवासी आदि सब वर्ग के लोग थे। हाँ, यह कह सकते हैं कि व्यापारियों में से कोई न था। पर उन्होंने आर्थिक सहायता अच्छी की थी।

इतने बड़े दल को फौजी भत्ते के अतिरिक्त भी तो कई प्रकार की आवश्यकतायें होती हैं। और वे अगर पूरी हो जायँ तो इस कष्टकर फौजी जीवन में भी कुछ आराम मिल सकता है, उनको दूर करने का काम व्यापारी वर्ग ने अपने सिर ले लिया। और इसके साथ ही साथ जिन आहतों की हमें सेवा सुश्रूषा करनी पड़ती थी उनके लिए भी मिठाई, बीड़ी वगैरा देकर उन्होंने अच्छी सहायता की। जिन-जिन शहरों के पास हमने मुकाम किये थे, वहाँ-वहाँ के व्यापारीवर्ग ने हमारी इस तरह पूरी सहायता की थी।

हमारी टुकड़ी में जितने गिरमिटये आये थे, उनके लिए उनकी कोठियों से अंग्रेज नायक भेजे गये थे। पर सबका काम तो एक ही था। सबको एक ही साथ रहना पड़ता था। इसलिए ये गिरमिटिये हमें देखकर बड़े खुश हुए। और एक पूरे दल की व्यवस्था अनायास हमारे ही हाथों आ गयी। इसलिए वह सारी टुकड़ी भारतीयों की ही कहलाने लगी। और उसका यश भी उन्हीं को प्राप्त हुआ। सच पूछा जाय तो गिरमिटियों के उसमें शामिल होने का श्रेय केवल भारतीयों को ही नहीं प्राप्त होता। वह तो कोठीवालों को ही मिलेगा। हाँ, यह बात जरूर सच है कि दल संगठित होने पर उसकी सुव्यवस्था का यश अवश्य स्वतन्त्र भारतीयों को मिलेगा और तदनुसार जनरल बूलर ने अपने खरीतों में इस बात का उल्लेख भी किया है। हमें आहतों की सुश्रूषा की शिक्षा देने वाले डाक्टर बूथ भी हमारे ही साथ थे। ये बड़े अच्छे पादरी सज्जन थे। भारतीय ईसाइयों में काम करते समय सबसे मिल-जुल कर रहते थे। ऊपर मैंने जो ३७ नाम बताये उनमें से बहुत से इनके शिष्य थे। भारतीयों के शुश्रूषा-दल के ही जैसा एक यूरोपियनों का भी दल बनाया गया था। दोनों को एक ही स्थान पर काम करना पड़ता था।

हमने अपनी ओर से कोई शर्त नहीं लगायी थी। पर स्वीकृति-पत्र में यह लिखा हुआ था कि बंदूक और तोप के मारे की हद में हमें न जाना होगा। इसका मतलब यह हुआ कि रणक्षेत्र पर जो सिपाही आहत हो उनको फौज के साथ में रहने वाला स्थायी शुश्रूषा-दल उठाकर फौज के पीछे ले जाकर रख दिया करे। गोरों का और हमारा यह अस्थायी दल इसलिए बनाया गया था कि जनरल बूलर लेडी स्मिथ में घिरे हुए जनरल

व्हाइट को छुड़ाने के लिए बड़ा प्रयत्न करनेवाले थे। और उन्हें यह भय था कि वहाँ इतने लोग आहत होंगे कि स्थायी दल से वह काम नहीं सँभलेगा। लड़ाई ऐसे क्षेत्र में चल रही थी कि जहाँ पर युद्ध क्षेत्र और छावनी के बीच जाने-आने के लिए पक्के रास्ते भी नहीं थे। इसलिये आहतों को इक्का घोड़ा-गाड़ी वगैरा में भी नहीं ले जाया जा सकता था। छावनी अक्सर किसी न किसी रेलवे स्टेशन के नजदीक रक्खी जाती थी और यह साधारणतया युद्ध-क्षेत्र से सात-आठ मील और कभी-कभी तो २५ मील तक दूर रहती थी।

हमें काम तो शीघ्र ही मिल गया और सो भी हमारे अनुमान से अधिक कठिन। सात-सात आठ-आठ मील तक घायलों को उठाकर ले जाना तो कोई बहुत कठिन बात नहीं थी। पर हमें तो पचीस-पचीस मील तक ऐसे सैनिकों और सेनाधिकारियों को उठाकर ले जाना पड़ता था जिनके घाव बहुत गहरे और भयङ्कर होते थे। रास्ते में उन्हें दवा भी देनी पड़ती थी। सुबह ८ बजे से कूच करके शाम के पांच बजे तक छावनी में पहुँच जाना पड़ता था। यह कोई आसान बात नहीं थी। एक ही दिन में घायल को पचीस मील तक उठाकर ले जाने का प्रसंग तो एक ही बार आया। फिर पहले-पहल सरकार की हार पर हार होती गयी। घायलों की संख्या बहुत बढ़ गयी। इसलिए यह बात तो अधिकारियों को भूल जानी पड़ी कि हमें युद्ध-क्षेत्र में न ले जाने का वचन दे चुके थे। पर यहाँ पर मुझे यह जरूर कह देना चाहिए कि जब ऐसा प्रसंग आया तब हम सबको बुलाकर कह दिया गया कि आपके साथ जो शर्तें की गयी हैं, उनमें लिखा है कि आपको ऐसी जगह नहीं जाना पड़ेगा जहाँ पर तोप और बंदूकों के गोले गिर रहे हों। इसलिए यदि आप अपने को ऐसे

खतरे में न डालना चाहते हों तो जनरल बूलर यह बिल्कुल नहीं चाहते कि आपको वहाँ जाने के लिए मजबूर किया जाय। पर यदि आप इस समय डर छोड़कर वहाँ जाने के लिए तैयार हों, तो सरकार आपका बहुत अहसान मानेगी। हम तो खतरे का सामना करना ही चाहते थे। बाहर रहना तो हमें पहले ही से नापसन्द था। इसलिए इस प्रसङ्ग का सबने स्वागत किया। किसी को न तो गोली लगी और न अन्य किसी प्रकार की चोट पहुँची।

हमारे दल के बहुत से अनुभव आनन्ददायक और मनोरंजक हैं पर उन सबको लिखनें के लिए यहाँ पर स्थान कहाँ? पर इतना अवश्य कह देना चाहिए कि हमारे दल को, जिसमें अनघड़ माने जाने वाले गिरमिटिये भी थे, अस्थाई गोरे दल तथा काली फौज के गोरे सिपाहियों के साथ रहने का प्रसंग कई बार आता था। तो भी हमें कभी यह नहीं मालूम हुआ कि गोरे हमारे साथ अनुचित व्यवहार कर रहे हैं, अथवा हमें तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं। गोरों के अस्थायी दल में तो दक्षिण अफ्रीका के निवासी गोरे ही थे। लड़ाई के पहले वे उस आन्दोलन में भाग लेते थे जो भारतीयों के खिलाफ चल रहा था। पर इस समय तो उन्होंने यह देखकर अपने सारे विरोध भाव को भुला दिया कि इस आपतकाल में भारतीय अपने जातीय दुखों को अलग रखकर भी हमारी सहायता के लिए दौड़ पड़े हैं, मैं पहले ही यह कह चुका हूँ कि जनरल बूलर ने अपनी विलायत की डाक में हमारे काम की तारीफ की थी। दल के उन ३७ नायको को लड़ाई के चाँद भी दिये गए।

लेडी स्मिथ पर अधिकार करने के लिए जनरल बूलर ने जो आक्रमण किया था, वह पूरा होते ही—अर्थात् दो महीने के

अन्दर ही हमारे तथा गोरों के दल को छुट्टी दे दी गयी। इसके बाद भी लड़ाई बहुत दिन तक चलती रही। हम तो चाहते थे कि हमें और भी मौका दिया जाय। इसलिए छुट्टी देते समय हमें यह कहा भी गया था कि अगर फिर ऐसी ही जबरदस्त चढ़ाई करने का मौका आवेगा तो सरकार आपका उपयोग अवश्य करेगी।

दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों ने उस लड़ाई में जो सहायता की थी, वह यों देखा जाय तो बहुत भारी न थी। उसमें जान का खतरा तो जरा भी न था। तथापि शुद्ध संकल्प का असर जरूर होता है। यदि वह ऐसे समय अनुभूत हो जब किसी ने उसकी अपेक्षा भी न की हो और न आशा, तब तो उसकी कीमत दूनी मानी जाती है। लड़ाई के समय भारतीयों के विषय में उसी सद्भावना का वायुमण्डल चारों ओर पाया जाता था।

यह अध्याय पूरा करने से पहले मुझे एक बात जरूर कह देनी चाहिए क्योंकि वह जानने योग्य है। लेडी स्मिथ को घेरा डाला गया। वहाँ गिरे हुए अंग्रेजों के साथ साथ वहीं के रहने वाले कुछ रहे-सहे भारतीय भी थे वे जो व्यापारी गिरमिटिये रेलवे में काम करने वाले अथवा गोरे गृहस्थों के यहाँ काम करने वाले नौकर वगैरा थे। उनमें परभूसिंग (प्रभुसिंह) नामक एक गिरमिटिया भी था। घिरे हुए आदमियों को ऊपर के अधिकारी कोई न कोई काम तो जरूर देते ही हैं। ऐसा ही एक बड़ा खतरनाक और साथ ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काम कुली कहे जानेवाले परभूसिंग को भी सौंपा गया। लेडी स्मिथ के नजदीक की एक टेकड़ी पर बोअरों की "पौम-पौम" नाम की एक तोप रक्खी हुई थी। उसके गोलों से बहुत-से मकान नष्ट हो चुके थे और

कितने ही मनुष्य तथा पशु मारे भी गये थे। तोप से गोला छूटने और उसके अपने लक्ष्य पर पहुँचने में कम-से-कम एक दो मिनट तो अवश्य ही लग जाते हैं। पर घिरे हुए लोगों को इतने समय का उपयोग करने का मौका मिल जाय, तब तो वे इतनी सी देर में भी अपने छिपनें के लिए कहीं आड़ ढूँढकर अपनी जान बचा सकते हैं। परभूसिंग से यह कहा गया था कि वह एक पेड़ के नीचे बैठकर तोपवाली टेकरी पर नजर रक्खे। जब से तोपें दगने लगतीं, तबसे लेकर जब तक वे चला करतीं उसे वहाँ लेटना पड़ता था। उसे यह आज्ञा थी कि जहाँ गोला छूटनें का भड़का देखा कि अपना घंटा बजा दे। बस इसे सुनते ही जिस तरह चूहे बिल्ली को देखकर अपने अपने बिल में भाग जाते हैं ठीक उसी तरह बेचारे नगरवासी उस मारक गोले के आगमन की सूचना पाते ही दौड़कर अपने छिपने की जगह में छिप जाते और अपनी जान बचाते।

परभूसिंग की इस अमूल्य सेवा की प्रशंसा करते हुए लेडी स्मिथ के अधिकारी लिखते हैं कि उसने वह काम इतनी निष्ठा-पूर्वक किया कि वह एक बार भी घटा बजाना नहीं भूला। कहने की आवश्यकता नहीं कि स्वयं परभूसिंग को तो हमेशा खतरे में ही रहना पड़ता था। यह बात केवल नेटाल में ही प्रकाशित नहीं की गयी बल्कि ठेठ लार्ड कर्जन के कानों तक भी पहुँच गयी थी। उन्होंने परभूसिग की इस बहादुरी के उपलक्ष्य में उसे भेट करने के लिए एक काश्मीरी झाउन भेजा और नेटाल सरकार को लिखा कि यह वस्तु बहुत बड़े समारोह के साथ परभूसिंग को भेंट की जाय। जनता को इसका कारण बता दिया जाय। यह काम डर्बन के मेयर के जिम्मे किया गया था। डर्बन के टाउन हाल के कौन्सिल चेम्बर में एक सार्वजनिक सभा

निमन्त्रित की गयी और उसमें परभूसिंग को वह वस्तु भेंट की गयी। यह दृष्टान्त हमें दो शिक्षायें देता है, एक तो यह कि किसी भी मनुष्य को हम तुच्छ न समझें और दूसरा यह कि डरपोक से डरपोक आदमी भी अवसर प्राप्त होते ही वीर बन सकता है।

(१०)

युद्ध के बाद

मुख्य लड़ाई तो सन् १९०० में पूरी हो गयी थी। इस बीच लेडी स्मिथ, किंबरली और मेफेकिंग आदि छुड़ा लिये गये थे। बोअरों ने संस्थानों का जितना भी मुल्क जीता वह फिर वापस ले लिया गया। अब तो केवल वानरयुद्ध (गोरीला वारफेअर) ही बच रहा था। ट्रान्सवाल और फ्रीस्टेट पर भी लार्ड किचनर ने अपना कब्जा कर लिया।

मैंने सोचा कि अब दक्षिण अफ्रीका में मेरा काम समाप्त हो गया। एक महीने के बदले मैं छः बरस रह चुका। कार्य की रूपरेखा भी बँध गयी। तथापि बिना अपनी कौम की आज्ञा के कदापि नहीं जा सकता था। मैंने अपने साथियों पर भारत में सेवा करने का अपना हेतु प्रकट किया। स्वार्थ के बदले सेवा-धर्म का पाठ मैं दक्षिण अफ्रीका में पढ़ चुका था। बस, अब उसी की लगन लग गयी थी। मनसुखलाल नाजर दक्षिण-अफ्रीका में थे ही। खान भी वहीं थे। खास दक्षिण अफ्रीका से शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंग्लैंड गये हुए कितने ही नौजवान बैरिस्टर होकर वापिस भी लौट आए थे। अर्थात् इस

समय मेरा स्वदेश लौट जाना किसी प्रकार अनुचित नहीं कहा जा सकता था। ये सब दलीलें पेश करने पर भी मुझे केवल इस शर्त पर वहाँ से छुट्टी मिली कि अफ्रीका में भारतीयों पर यदि कोई अकल्पित आपत्ति आ पड़े और मेरी वहाँ आवश्यकता हो, तो मेरे भाई जिस समय चाहें मुझे वहाँ वापिस बुला सकते हैं और मुझे भी उसी समय लौट जाना चाहिए। यात्रा का और वहाँ रहने का खर्च मेरे लिए उन्हें इकट्ठा जुटा देना चाहिए। इस शर्त पर मैं वापस लौटा।

स्वर्गीय गोखले की सलाह से और उनकी छत्रछाया में सार्वजनिक काम करने की इच्छा से, साथ ही आजीविका भी प्राप्त करने की इच्छा से मैंने यह निश्चय किया कि मैं बम्बई में ही बैरिस्टरी करूँ। चेम्बर भी लिये। कुछ-कुछ वकालत चलने लगी। दक्षिण अफ्रीका से मेरा इतना घनिष्ट सम्बन्ध हो चुका था, कि सिर्फ दक्षिण अफ्रीका से लौटे हुए मवक्किल ही मुझे इतना दे सकते थे, जिससे मैं अपना खर्च भली भाँति चला सकूँ। पर मेरे भाग्य में एक जगह शान्ति के साथ बैठना नहीं लिखा था। मुश्किल से मैं बम्बई में शान्ति के साथ तीन चार महीने रहा हूँगा कि अफ्रीका से तार आया—"परिस्थिति गम्भीर है। मि० चैम्बरलेन शीघ्र ही आ रहे हैं। आपकी उपस्थिति की आवश्यकता है।"

बम्बई के आफिस और घर को बटोरा और पहले ही स्टीमर से रवाना हुआ। सन् १९०२ का अन्त निकट था। १९०१ के अन्त में मैं भारत लौटा था। १९०२ के मार्च-अप्रैल में बम्बई में मैंने अपना आफिस खोला था। केवल तार से मैं अधिक नहीं जान सकता था। मैंने यह अनुमान किया कि गड़बड़ी है कहीं ट्रान्सवाल में ही। पर इस खयाल से कि चार

छः महीने के अन्दर ही लौट आऊँगा, मैं बाल-बच्चों को यहीं छोड़ कर अकेला ही रवाना हो गया। डर्बन पहुँचते ही सारे समाचार सुनकर मैं तो स्तब्ध-सा रह गया। हम सबका यही खयाल था कि लड़ाई के बाद समस्त दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों की स्थिति अच्छी हो जायेगी? ट्रान्सवाल और फ्री स्टेट में तो कोई आपत्ति हो ही नहीं सकती, क्योंकि लार्ड लैन्सडाऊन, लार्ड शेल्बर्न, वगैरा बड़े-बड़े अधिकारी कहा करते थे कि भारतीयों की दुर्दशा भी लड़ाई का एक कारण है। प्रिटोरिया का ब्रिटिश राजदूत भी मुझसे कई बार कह चुका था कि ट्रान्सवाल ब्रिटिश कालोनी हुआ नहीं कि भारतीयों के तमाम दुःख दूर हुए नहीं। गोरे लोग भी यही मानते थे कि राज्यसत्ता यदि बदल गयी, तो वहाँ के पुराने कानून भारतीयों पर कभी लागू नहीं किए जा सकते। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह था कि लड़ाई के पहले जमीन का नीलाम पुकारने वाले जो गोरे भारतीयों की बोली स्वीकार ही नहीं करते थे वे भी उसे अब स्वीकार करने लग गये थे। और इस पर कितने ही भारतीयों ने नीलाम में जमीनें खरीदी भी। पर जब वे तहसील में जमीन का दस्तावेज रजिस्टर कराने के लिए गये तो फौरन १८८५ का कानून अधिकारी ने उनके सामने खड़ा कर दिया और जमीन का रजिस्टर करने से इन्कार कर दिया। डर्बन उतरते ही मैंने यह सुना। अगुआओं ने मुझ से कहा कि आपको ट्रान्सवाल जाना होगा। पहले तो मि० चैम्बरलेन यहीं आवेंगे। यहाँ की परिस्थिति से भी उन्हें परिचित कर देना आवश्यक है। बस, यहाँ का काम समाप्त हुआ कि उनके ही पीछे पीछे आप ट्रान्सवाल भी चले जावें।

नेटाल में मि० चैम्बरलेन से एक डेप्यूटेशन (शिष्ट-मण्डल) मिला। उन्होंने सारी बातें ध्यानपूर्वक सुन लीं और यह वचन

दिया कि "मैं नेटाल के मन्त्रि-मन्डल से इस विषय में बातचीत करूँगा।" स्वयं मैंने लड़ाई के पहले नेटाल में बने हुए कानून में किसी परिवर्तन की कोई आशा नहीं की थी। इन कानूनों का वर्णन तो पिछले अध्यायों में पाठक पढ़ ही चुके हैं।

पाठकों को अवश्य याद होगा कि प्रत्येक भारतीय लड़ाई के पहले ट्रान्सवाल में जिस समय चाहता जा सकता था। पर अब मैंने देखा कि बात दूसरी ही है। उस समय जो ट्रान्सवाल में जाने-आने की रुकावट थी, वह तो गोरे और भारतीय सबके लिए एकसी थी। अबतक ट्रान्सवाल की हालत यह थी कि अगर बहुत से आदमी ट्रान्सवाल में घुस जाते तो सबको पूरे अन्न-वस्त्र भी वहाँ न मिलते, क्योंकि लड़ाई के कारण दूकानें बन्द थीं। दूसरे, दूकानों में जो माल था उसमें से अधिकांश माल बोअर सरकार ही समाप्त कर गयी थी। इसलिए मैंने अपने दिल में यह सोचा कि यदि यह रुकावट थोड़े ही दिनों के लिए हो, तो कोई विशेष चिन्ता की बात नहीं। पर गोरों और भारतीयों को ट्रान्सवाल में जाने के लिए जो परवाना दिया जाता था उसकी रीति-नीति में कुछ भेद था। और इसी बात ने मुझे शंका और संशय में डाल दिया। परवाना देने के आफिस दक्षिण अफ्रीका के भिन्न-भिन्न बन्दरों में खोले गये थे। गोरों को तो माँगते ही परवाना मिल सकता था पर भारतीयों के लिए ट्रान्सवाल में एक एशियाटिक विभाग खोल दिया गया था।

यह विभाग एक बिल्कुल नयी बात थी हिन्दुस्तानी इस विभाग के अधिकारी को अर्जी देते थे। इस प्रार्थना के स्वीकार होने पर डर्बन अथवा अन्य बन्दरों से वह साधारण परवाना मिल सकता था। अगर मैं भी इसी प्रकार परवाने के लिए दरख्वास्त देता, तब तो मि० चैम्बरलेन के ट्रान्सवाल छोड़ कर

चले जाने के पहले मुझे परवाना मिलने की आशा नहीं करनी चाहिये थी। न ट्रान्सवाल के भारतवासी मेरे लिए ऐसा परवाना लेकर भेज सके थे। यह उनके शक्ति के बाहर की बात थी। मेरे परवाने के लिए तो वे पूर्णतः मेरे डर्बन के परिचय के ऊपर निर्भर थे। परवाना देने वाले अधिकारी को मैं नहीं जानता था। पर डर्बन के पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट को मैं अवश्य जानता था। इसलिए मैं उन्हें अपने साथ ले गया और उनके द्वारा उन्हें अपनी पहचान दे दी। ट्रान्सवाल में मैं १८९३ में एक साल तक रह चुका हूँ यह कहकर परवाना लेकर मैं प्रिटोरिया पहुँचा।

यहाँ पर मैंने एक बिल्कुल भिन्न वायुमण्डल देखा। मैंने देखा कि एशियाटिक विभाग एक भयंकर विभाग है और वह केवल भारतीयों को दबाने के लिए ही खोला गया है। उसके अधिकारी वे लोग थे, जो लड़ाई के समय भारत से फौज के साथ आये थे, और लड़ाई समाप्त होने पर दक्षिण अफ्रीका में अपनी किस्मत आजमाने के लिए रह गये थे। उनमें से अधिकांश रिश्वतखोर थे। विशेषतः दो पर तो इस अपराध के लिए मुकद्दमा भी दायर हो चुका था। पचों ने तो उन्हें छोड़ दिया था, पर चूँकि उनके रिश्वत लेने के विषय में कोई सन्देह नहीं था इसलिए वे डिसमिस कर दिये गये। पक्षपात की कोई हद ही नहीं थी। फिर जहाँ पर एक ऐसा विभाग बिलकुल नया नया ही खोला गया हो, और सो भी किसी जाति के स्वत्वों पर प्रहार करने के लिए, वहाँ तो अपनी सत्ता कायम रखने के लिए और उसके साथ ही दूसरी जाति के हकों को कुचलकर अपनी कुशलता दिखाने के लिए मनुष्य नित्य नये-नये शस्त्र ढूँढता है। ठीक यही हाल यहाँ भी हुए।

मैंने देखा कि मुझे फिर से श्रीगणेश करने होंगे। एशिया-

टिक विभाग को इस बार का जल्दी पता न लगा कि मैं ट्रांसवाल में किस प्रकार प्रवेश पा सका। और न यह बात मुझसे पूछने की सहसा किसी को हिम्मत ही पड़ी। मैं मानता हूँ कि उन्हें यह विश्वास जरूर होगा कि मैं छिपकर तो हरगिज न आया हूँगा। आखिर इधर-उधर और लोगों से पूछताछ कर उन्होंने यह पता लगा लिया कि मैं किस तरह परवाना प्राप्त कर सका। प्रिटोरिया का डेप्यूटेशन (शिष्ट-मण्डल) भी मि. चेम्बरलेन से मिलने के लिए तैयार हो गया। उनके सामने पेश करने के लिए एक अर्जी भी लिख ली गयी। पर एशियाटिक विभाग ने ऐसा प्रवन्ध कर दिया जिससे मुझे चैम्बरलेन से किसी ने न मिलने दिया। हिन्दुस्तानियों के अगुआओं ने सोचा कि इस हालत में स्वयं वे भी चैम्बरलेन से न मिलें। मुझे यह विचार पसंद नहीं आया। मैंने उन्हें कहा कि मेरे इस अपमान की कड़वी घूँट को मुझे और उन्हें भी पीजाना चाहिए। मैंने यह भी कहा कि कौम की अर्जी तो है ही बस, वही मि. चैम्बरलेन को सुना दीजिए। एक भारतीय बैरिस्टर जॉर्ज गॉडफ्रे वहीं हाजिर थे। उन्हें मैंने अर्जी पढ़ने के लिए तैयार किया। डेप्यूटेशन गया। मेरे विषय में भी बात निकली। मि० चैम्बरलेन ने कहा कि "मि० गांधी से तो मैं डर्बन में एक बार मिल चुका था। इसलिए मैंने यही उचित समझा कि यहाँ की स्थिति यहीं के लोगों के मुँह से सुनूँ और इसीलिए मैंने उन्हें मिलने से इन्कार कर दिया"। मेरी दृष्टि से इसने आग में घी का काम किया। मि० चेम्बरलेन वही बोले जो एशियाटिक विभाग ने उन्हें पढ़ा रक्खा था। अंग्रेज जिस ढंग से भारत में काम लेते हैं एशियाटिक विभाग ने ट्रान्सवाल में उसी ढंग को अख्तियार किया। गुजराती भाई यह तो अवश्य ही जानते होंगे कि चम्पारन में रहनेवाले अंग्रेज बम्बई के

निवासियों को परदेशी समझते हैं। इसी प्रकार एशियाटिक विभाग ने मि० चैम्बरलेन को यह पाठ पढ़ाया कि मैं डर्बन का निवासी—ट्रान्सवाल की चीती कैसे जान सकता हूँ? उसे क्या पता कि मैं ट्रान्सवाल में रह चुका हूँ। पर अगर मैं वहाँ न भी रहा होता तो भी ट्रान्सवाल की परिस्थिति से मैं पूरी तरह परिचित था। पर सवाल तो केवल यही था कि ट्रान्सवाल की परिस्थिति से सबसे अधिक परिचित कौन था? इस बात का उत्तर भारतीयों ने मुझे ठेठ देश से बुलाकर दिया था। किन्तु शासकों के लिए न्याय की दृष्टि कोई काम नहीं देती। मि० चैम्बरलेन इस समय स्थानीय ब्रिटिश मन्त्रियों की मुट्ठी में थे, और गोरों को सन्तुष्ट करने के लिए इतने आतुर थे कि हमें उनके हाथ न्याय मिलने की आशा लेश भर भी नहीं थी—अथवा बहुत थोड़ी थी, पर फिर भी हमने उनके पास डेप्यूटेशन इसलिए भेजा कि कहीं भूलकर भी या स्वाभिमान के कारण कहीं ऐसी कोई गफलत न हो जिससे न्याय प्राप्त करने के लिए एक भी उचित उपाय का अवलंबन करना रह जाय।

पर मेरे लिए तो इस बार १८६४ की अपेक्षा भी अधिक विषम प्रसंग उपस्थित हो गया। एक तरफ से विचार करते हुए मुझे मालूम हुआ कि मि० चैम्बरलेन जहाज पर चढ़े नहीं कि मैं भारत वापिस लौटा नहीं। दूसरी दृष्टि से विचार करते हुए मैंने अच्छी तरह से यह देख लिया कि यह जानते हुए भी कि कौम भयङ्कर स्थित मे है, मैं भारत में सेवा करने के अभिमान से अगर वापिस लौट जाऊँगा तो जिस सेवा धर्म की झाँकी मैंने देखी थी उसे मैं अवश्य दूषित कर दूँगा। अंतमें इसी निर्णय पर पहुँचा जबतक आकाश में मँडराते हुए विपत्ति के बादल छिन्न-भिन्न नहीं हो जाते या हमारे हजार प्रयत्न करने पर भी वे और

भी अधिक संख्या में एकत्र होकर कौम पर नहीं टूट पड़ते और हम सब उसमें नहीं मर मिटते, तबतक मुझे ट्रान्सवाल में ही रहना चाहिए। भारतीय नेताओं से मैंने यही कहा। उनसे मैंने अपना यह निश्चय भी कह सुनाया कि १८६४ की तरह वकालत करके मैं अपना निर्वाह करूँगा। कौम तो यही चाहती थी।

फौरन मैंने ट्रान्सवाल में वकालत के लिए अर्जी पेश की। मुझे यह जरूर शक था कि शायद यहाँ भी वकील-मण्डल मेरी अर्जी का विरोध करेगा पर यह निर्मूल साबित हुआ। मुझे सनद दी गयी और जोहान्सवर्ग में मैंने अपना आफिस खोल दिया। ट्रान्सवाल भर में भारतीय सबसे अधिक संख्या में जोहान्सवर्ग में ही वसते थे। इसलिए मेरी आजीविका और समाज-सेवा इन दोनों दृष्टियों से जोहान्सवर्ग ही अनुकूल केन्द्र था। दिन-पर-दिन एशियाटिक आफिस की गंदगी का अधिकाधिक कटु अनुभव मैं ले रहा था और वहाँ के तमाम भारतीय समाज का पूरा बल इस गन्दगी को दूर करने ही की ओर लगाया जा रहा था। अब १८८५ के कानून को रद करना तो दूर की बात हो गयी थी इस समय तो सबसे अधिक महत्व की बात यही थी कि एशियाटिक आफिस रूपी भयङ्कर बाढ़ से अपने को कैसे बचावें। लार्ड मिल्नर, लार्ड शेल्बर्न जो वहाँ आये थे, सर आर्थर लाली जो ट्रान्सवाल में लैफ्टिनैंट गवर्नर थे और बाद मदरास के गवर्नर भी हो गये थे, उनके पास और उनसे नीचे की श्रेणी के अधिकारियों के पास भी डेप्यूटेशन भेजे गये और वे लोग उनसे मिले। स्वयं मैं भी कई बार मिलता। कुछ-कुछ रिआयत भी मिलती। पर इस तरह हाथ पैर पटकने से क्या होना जाना था? डाकू जिस प्रकार हमारी सारी सम्पत्ति लूटकर ले जाते हैं और फिर हमारे गिड़गिड़ाने पर और

केवल गिड़गिड़ाने के कारण ही थोड़ा-बहुत छोड़ जाते हैं और हमें उसमें सन्तोष मान लेना पड़ता है, ठीक वैसे ही सन्तोष हमें कई बार मान लेना पड़ता था। इस आन्दोलन के कारण जिन अधिकारियों के बरखास्त होने के विषय में मैं ऊपर लिख गया हूँ। उनपर मुकद्दमा भी चलाया गया भारतीयों के प्रवेश के विषय में जो भय या शंका मुझे उस समय हुई थी, वह भी सच्ची साबित हुई। गोरों को परवाने लेने का अब कोई काम न रहा। पर भारतीयों के लिए तो वह कानून वैसे ही जारी रहा। ट्रान्सवाल की भूतपूर्व सरकार ने इस विषय में जितना सख्त कानून बनाया था, उतनी ही सख्ती के साथ उस पर अमल नहीं किया जाता था, पर इसका कारण न तो उसकी उदारता थी और न भलमनसाहत। उसका असली कारण तो असली विभाग की लापरवाही थी। पर अगर वे अधिकारी भले होते तो पहली सरकार की अधीनता में उन्हें अपनी भलमनसाहत दिखाने का जितना अवकाश मिल सकता था, ब्रिटिश सरकार की अधीनता में कभी नहीं मिल सकता था। ब्रिटिश-तन्त्र पुराना है अतएव दृढ़ है, व्यवस्थित है, और उसके अधिकारियों को यन्त्र की तरह काम करना पड़ता है, क्योंकि उनपर एक के बाद एक चढ़ते और उतरते हुए अंकुश रहते हैं। इसलिए यदि शासन संगठन ब्रिटिश हो और उदार हो तो जनता को एक उदार पद्धति का अधिक से अधिक लाभ मिल सकता है। पर यदि वह जुल्मी या कंजूस हो तो इस नियंत्रित सत्ता की अधीनता में वह प्रजा पूरी तरह दब कर पिस जाती है। ठीक इसके विपरीत स्थिति ट्रान्सवाल की पहली सरकार जैसी सत्ता की अधीनता में होती है। उदार कानून के लाभ का मिलना न मिलना हर विभाग के अधिकारियों के ऊपर अवलम्बित है। इसलिए जब ट्रान्सवाल में ब्रिटिश

सत्ता कायम हुई तब भारतीयों से सम्बन्ध रखने वाले जितने कानून थे उन सब पर दिन-ब-दिन अधिकाधिक सख्ती से अमल होने लगा। पहिले उनके लिए जो रास्ते थे वे अब बन्द कर दिये गये। हम यह तो पहिले ही देख चुके हैं कि एशियाटिक विभाग का उद्देश्य सख्त ही हो सकता है। इसलिए पुराने कानूनों को रद्द कराने के लिए क्या-क्या प्रयत्न करें यह सोचना तो दूर की बात हो गयी। बेचारे भारतीयों को सब से भारी चिन्ता तो इसी बात की हो गयी कि ऐसी कौन तरकीब भिड़ायें कि जिससे उन कानूनों का जरा सभ्यतापूर्वक पालन होने लगे।

आगे पीछे हमें एक सिद्धान्त की चर्चा अवश्य ही करनी होगी। यदि उसे यहीं कर लें तो इससे आगे की परिस्थिति और भारतीयों का दृष्टि-बिन्दु समझने में सुविधा होगी। ज्योंही ब्रिटिश-झण्डा ट्रान्सवाल और फ्री-स्टेट में फहराने लगा, त्योंही लार्ड मिल्नर ने एक कमिटी बनायी। उसका उद्देश्य था दोनों राज्यों के पुराने कानूनों को जाँच कर उनमें से कानून प्रजा की स्वाधीनता को हानिकर हों अथवा ब्रिटिश शासन-रहस्य के विपरीत हों उनको नोट कर लेना। स्पष्ट ही इसमें भारतीयों की स्वाधीनता पर आक्रमण करने वाले कानूनों का समावेश भी हो सकता था। पर यह कमिटी बनाते हुए लार्ड मिल्नर का उद्देश भारतीयों के दुःखों को दूर करना नहीं बल्कि अंग्रेजों के दुःखों को दूर करना था। उनका हेतु यह था कि जिन कानूनों से अंग्रेजों को अप्रत्यक्ष रूप से भी हानि होती हो तो उनको जितनी शीघ्रता से हो सके रद्द कर दें। कमिटी की रिपोर्ट बहुत जल्दी तैयार हो गयी। और ऐसे छोटे-बड़े बहुत-से कानून एक कलम से प्रायः रद्द कर दिये जो अंग्रेजों के विरोधी थे।

इस कमिटी ने वे कानून भी कलम से छाँट कर जो भारतीयों

के खिलाफ थे, उन्हें अलग पुस्तक रूप में छपा लिया और एशियाटिक विभाग ने उनका उपयोग अथवा हमारी दृष्टि से कहें तो दुरुपयोग आसानी से करना शुरू भी कर दिया।

अब कानूनों में भारतीयों का निर्देश करने के बजाय यदि इस तरह उनकी रचना की जाती कि वे सबके लिए एकसा लागू किये जा सकें, सिर्फ उन पर अमल करना न करना अधिकारियों की पसंदगी पर ही छोड़ दिया जाय अथवा उनका अर्थ तो सबके लिए लागू हो पर कटाक्ष भारतीयों पर अधिक हो, तो ऐसे कानूनों से भी उनके रचीयताओं की अभीष्ट सिद्धि हो सकती थी। और इतना होते हुए भी कहा जा सकता कानून सबके लिए एकसे हैं। इससे किसी का अपमान भी न होता। फिर आगे चलकर यदि विरोधी-भाव मन्द होता, तो बिना कानून में किसी प्रकार के रद्दोबदल किये केवल उसके उदार उपभोग से जिस किसी के खिलाफ वह बनाया गया हो वह बच जाता। जिस प्रकार दूसरी श्रेणी के कानूनों को मैंने सार्वजनिक कहा उसी प्रकार पहिली श्रेणी के कानूनों को एक देशी, कौमी अथवा जातिगत कानून कह सकते हैं। दक्षिण अफ्रीका में उसे 'रंगभेदी' कानून कहा जाता है। क्योंकि उसमें रंग भेद को याद रखते हुए काले अथवा गेहुँए रंग की जातियों पर गोरों की अपेक्षा अधिक सख्ती बतायी गयी है। इसी का नाम 'कलर-बार' अथवा रंगभेद या रंग-द्वेष है।

पहिले बने हुए कानून में से ही एक उदाहरण लीजिए।

पाठकों को याद होगा कि नेटाल में मताधिकार का जो पहला कानून बनाया गया और बाद में रद्द हुआ, उसमें एक इस आशय की धारा भी थी कि एशियाटिक मात्र को भविष्य में मताधिकार न दिया जाय। अब यदि इस कानून को रद्द करना हो तो

लोकमत को यहाँ तक तैयार करना पड़े कि वहाँ के अधिकांश लोग एशियावासियों का द्वेष छोड़कर उनसे मित्र-भाव रखने लग जायें। जब वह अवसर आवे तभी नवीन कानून की रचना द्वारा वह रंग का कलंक दूर किया जा सके। यह हुआ एक देशी अथवा रंगभेदी कानून का दृष्टान्त। अब वह कानून रद्द होकर जो दूसरा कानून बनाया गया उसमें भी तो वह मूल हेतु (रंग-भेद का) लगभग समाविष्ट हो ही गया था। तथापि उसकी शब्द रचना इस प्रकार की गयी कि आपत्तिजनक शब्द निकाल कर उसे सार्वजनिक बना दिया गया। उस कानून की धारा का भावार्थ इस तरह है—नेटाल में उस जाति को मताधिकार नहीं दिया जा सकता जिसको पार्लियामेंटरी फ्रेंचाइज—अर्थात् वह मताधिकार जो इंगलैंड को मुख्य जनसभा के लिए सभासद् चुनने वालों को होता है—न हो। अब इसमें न कहीं भारतीयों का नाम है और न एशियानिवासियों का। कानून के पंडित इस बात पर अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न रायें देंगे कि भारत में इंगलैंड के जैसा मताधिकार है या नहीं। पर उदाहरण के लिए हम जरा मान लेते हैं कि भारत में उस समय अर्थात् १८६४ में मताधिकार न था या आज भी नहीं है, तथापि यदि मताधिकारियों के नाम दर्ज करनेवाला अधिकारी भारतीयों के नाम भी लिख ले तो कोई इस पर सहसा यह आक्षेप नहीं कर सकता कि यह "गैर कानूनी कार्रवाई" है। सामान्यत हमेशा प्रजा के अनुकूल ही अनुमान किया जाता है। इसलिए यदि वहाँ की सरकार भारतीयों का विरोध न करना चाहे तो उपर्युक्त कानून के होते हुए भी मताधिकार पुस्तक में भारतीयों के नाम लिखे जा सकते हैं। इसलिए मानलीजिए कि यदि नेटाल में भारतीयों के प्रति जो विरोध है; वह आगे चलकर कभी मन्द हो गया, अथवा वहाँ को

सरकार ही भारतीयों का विरोध न करना चाहे तो कानून में बिना किसी परिवर्तन के भारतीयों के नाम मत-पुस्तक में लिखे जा सकते हैं। सार्वजनिक कानून में यही विशेषता है। इसी प्रकार अन्य भी कई उदाहरण उन कानूनो से लेकर दिखाये जा सकते हैं जिन्हें पाठक पूर्व अध्यायों में पढ़ गये हैं। इसलिए चतुर राजनीति तो वही मानी जाती है जो एकदेशी कानून कम से कम बनावे और वह राजनीति सर्व-श्रेष्ठ है जो ऐसे कानून बिलकुल ही न बनावे। यदि एक बार कोई कानून बन जाता है, तो उसे बदलना बहुत मुश्किल है। लोकमत अधिक तैयार होता है तभी कोई कानून बदला जा सकता है। जिस प्रजातन्त्र को बार-बार अपने कानूनों को बदलना पड़ता है वह राष्ट्र सुव्यवस्थित नहीं कहा जा सकता।

अब ट्रान्सवाल में बनाये गये एशियाटिक कानून की भयंकरता का अनुमान हम अधिक अच्छी तरह कर सकेंगे। वे तो सभी कानून एकदेशी थे। "एशिया-निवासियों को मत देने का अधिकार नहीं, सरकार की बतायी सीमा के बाहर वे जमीन नहीं खरीद सकते" जबतक ये कानून रद्द न हो जायँ, तबतक वहाँके अधिकारीगण भारतीयों की कोई सहायता नहीं कर सकते थे। वे सार्वजनिक न थे इसीलिए तो लार्ड मिलनर की कमिटी उन्हें छाँटकर अलग कर सकी। पर इसके विपरीत यदि वे सार्वजनिक होते तो अन्य कानूनों के साथ-साथ ऐसे कानून भी एशियानिवासियों के खिलाफ कोई प्रत्यक्ष कटाक्ष न थे, पर उनके प्रतिकूल उनका उपयोग जरूर किया जा रहा था, रद्द हो जाते। अधिकारी लोग भी उस हालत में ऐसा न कह सकते थे कि "हम क्या कर सकते हैं, लाचार हैं। जबतक धारासभा इन कानूनों को रद्द नहीं कर डालती, तबतक तो उनपर हमें अमल

करना ही होगा।"

अब तो ज्योंही एशियाटिक आफिस के हाथ ये कानून लगे त्योंही उसने उनपर पूरा अमल करना शुरू कर दिया। यही नहीं, बल्कि यदि मन्त्रि-मंडल सोचे कि कानून अमल करने लायक हैं, तो उसमें जो त्रुटियाँ हों या रह गयी हों उन्हें भी मंत्रि मण्डल को दूर कर देना चाहिए। दलील तो सीधी-सादी मालूम होती है। यदि ये कानून खराब हों तो रद्द कर दिये जावें, और यदि उचित हों तो इनमें जो दोष रह गये हों उनको दूर कर दिया जाय। मन्त्रि-मण्डल ने तो उन कानूनों पर अमल करने की नीति धारण करली थी। भारतीयों ने अंग्रेजों के साथ युद्ध में खड़ा रहकर अपनी जान खतरे में डालकर भी काम किया था। यह तो अब तीन-चार साल की पुरानी बात हो गयी थी। इस बात को भी पुराना राजतन्त्र जान कि भारतीयों के लिए ब्रिटिश राजदूत ने ट्रान्सवाल के साथ लड़ाई की थी। लड़ाई के कारणों में ट्रान्सवाल में भारतीयों की खराब स्थिति भी एक कारण था। इस बात को तो उन अधिकारियों ने कहा था जिन्हें न तो स्थानीय अनुभव था और न जिन्होंने दूर-दृष्टि से ही काम लिया था। स्थानीय अधिकारियों ने अपने निजी स्थानीय अनुभव से यह साफ-साफ बता दिया कि बोअर राज्य के समय भारतीयों के खिलाफ जो-जो कानून बनाये गये थे, वे न तो पूर्ण थे और न पद्धतियुक्त। वास्तव में ब्रिटिश व्यापारी के लिए यह बड़ी हानिकर बात है कि हिन्दुस्तानी जी चाहे उधर से घुस जावें और उनके दिल में आवे वहाँ अपना मनमाना व्यापार करें। इन सब दलीलों का और ऐसी ही अन्य दलीलों का गोरों और उनके प्रतिनिधियों पर बड़ा गहरा असर पड़ा। वे सब यह चाहते थे कि कम-से-कम समय में अधिक-

से-अधिक जितना धन इकट्ठा कर सकें उतना कर लें। तब वे यह कैसे बरदाश्त कर सकते थे कि भारतीय भी इसमें अपना हिस्सा बँटा लें। साथ ही तत्वज्ञान का आडंबर भी शुरू हुआ। दक्षिण अफ्रीका के बुद्धिमान मनुष्यों को केवल व्यापारी दलील से कैसे संतोष हो सकता है? अन्याय करने के लिए भी बुद्धि हमेशा ऐसी ही दलीलें ढूंढ़ती है, जो उसे युक्तियुक्त मालूम हों। यही दक्षिण अफ्रीका में भी हुआ। जनरल स्मट्स वगैरा ने जो दलीलें पेश कीं वे ये हैं:—

"दक्षिण अफ्रीका पश्चिमी सभ्यता का प्रतिनिधि है। भारत पूर्वी सभ्यता का केन्द्र है। इस ज़माने के तत्वज्ञानी तो इस बात को कुबूल नहीं करते कि दोनों का भी मेल हो सकता है। अर्थात् न्यूनाधिक परिणाम में भी यदि इन दो भिन्न-भिन्न विरोधी सभ्यताओं की प्रतिनिधि जातियों का संगम हो तो उसका परिणाम सिवा विस्फोट अर्थात् लड़ाई के और कुछ हो ही नहीं सकता। पश्चिम सादगी का विरोध करता है। पूर्व की जातियाँ सादगी को ही प्रधानता देती हैं। फिर इन दोनों का मेल ही कैसे हो सकता है? फिर यह देखने का काम राजपुरुषों का अर्थात् व्यावहारिक आदमियों का नहीं कि इन दो सभ्यताओं में कौन-सी श्रेष्ठ है? पश्चिम की सभ्यता भली हो या बुरी—पश्चिमी जातियाँ तो उसे छोड़ना नहीं चाहतीं और उसे बचाने के लिए उन्होंने प्रयत्न भी किया है, ख़ून की नदियाँ बहायी हैं। कई प्रकार के अन्य दुःख भी सहे हैं। अर्थात् अभी यह संभव नहीं कि पश्चिम की जातियाँ दूसरे किसी मार्ग को ग्रहण कर लें। इस दृष्टि से देखा जाय तो, न तो यहाँ गोरों और भारतीयों का सवाल है; न व्यापार द्वेष का, और न वर्ण-विद्वेष का ही। यहाँ तो केवल अपनी सभ्यता की रक्षा का, अर्थात् उच्चतम

आत्मरक्षा के अधिकार का उपभोग करने और उसके लिए अपना कर्तव्य पूर्ण करने ही का सवाल है। भारतीयों के जो दोष बताये जाते हैं, उसका उपयोग भाषणकर्ता जनता को उभाड़ने के लिए भले ही कर लिया करें पर राजनैतिक दृष्टि से विचार करने वाला तो यही मानता और कहता है कि भारतीयों के गुण ही दक्षिण अफ्रीका में दोषरूप माने जाते हैं। भारतीयों की सादगी, बहुत समय एकसी मेहनत करने की शक्ति, उनकी मितव्ययता, उनकी परलोक-परायणता और सहनशीलता आदि गुणों के कारण ही दक्षिण अफ्रीका में वे अप्रिय हो गये हैं। पश्चिम की जातियाँ साहसी, अधीर, साँसारिक आवश्यकताओं को बढ़ाने और उन्हें पूर्ण करने के प्रयत्न में निमग्न, खाने-पीने की शौकीन, शरीर को मेहनत से बचाने के लिए आतुर, और खर्चीली हैं। इसलिए उनको यह भय बना रहता है कि यदि पूर्वी सभ्यता के हजारों प्रतिनिधि दक्षिण अफ्रीका में घुस आवें तो पश्चिम के लोगों को अवश्य ही पीछे हट जाना पड़ेगा। दक्षिण अफ्रीका में बसने वाली गोरी जातियाँ आत्महत्या करने के लिए तो कभी तैयार ही न होंगी, और न इन जातियों के हिमायती इन्हें इस खतरे में पड़ने ही देंगे?"

मुझे विश्वास है कि अच्छे-से-अच्छे और सुचरित्रवान् गोरों ने जिस प्रकार इस दलील को पेश किया है, ठीक उसी तरह निष्पक्ष बुद्धि से मैंने भी उसे यहाँ लिख दिया है। मैं ऊपर यह जरूर कह गया हूँ कि यह तत्त्वज्ञान का आडम्बर मात्र है, पर इस से मेरा यह मतलब हरगिज नहीं कि यह बिलकुल निःसार है। व्यावहारिक दृष्टि अर्थात् तात्कालिक स्वार्थ दृष्टि से देखा जाय तो उसमें बहुत-कुछ सार है। पर तात्विक दृष्टि से अगर इसपर विचार करें तो वह अवश्य आडम्बर ही है। मेरी छोटी

बुद्धि के अनुसार तो कम-से-कम मुझे यही मालूम होता है कि तटस्थ मनुष्य की बुद्धि उनके निर्णय को कुबूल न करेगी। उपर्युक्त दलील करने वालों ने अपनी सभ्यता को जितनी असहाय बताया है, कोई भी सुधारक अपनी सभ्यता को उतनी असहाय न बतावेगा। कम-से-कम मैं तो नहीं जानता कि किसी भी पूर्वी तत्त्वज्ञानी को ऐसा भय हो कि अगर कहीं पश्चिमी जातियाँ पूर्वी जातियोंके संपर्क में स्वतन्त्रतापूर्वक आवें तो पूर्व की सभ्यता पश्चिमी सभ्यता की बाढ़ में बालू की तरह बह सकती है। इस पूर्वी तत्त्वज्ञान का मुझे जो कुछ परिचय है, उसके बल पर मुझे तो यही मालूम होता है कि पूर्वी सभ्यता पश्चिम के स्वतंत्र संपर्क से न केवल निर्भय रहती है बल्कि उसका वह उलटा स्वागत भी करती है। इसके विपरीत उदाहरण अगर पूर्व दृष्टिगोचर भी हो रहे हों तो उनसे मेरे उपर्युक्त सिद्धान्त में बाधा नहीं आ सकती। क्योंकि मुझे विश्वास है कि उस (सिद्धान्त) के समर्थन में अनेक उदाहरण पेश किए जा सकते हैं और यह जो कुछ भी हो, पश्चिम के तत्त्वज्ञानियों का तो यही दावा है कि पश्चिमी सभ्यता का मूलमंत्र यही है कि "पशुबल सर्वोपरि है।" और इसलिए इस सभ्यता के हिमायती पशुबल को कायम रखने के लिए अपने समय का बड़ा हिस्सा खर्च करता है। फिर इनका तो एक यह भी सिद्धान्त है कि जो जातियाँ अपनी आवश्यकताओं को नहीं बढ़ावेंगी उनका आखिर नाश ही होगा। इन्हीं सिद्धान्तों को लेकर पश्चिमी जातियाँ दक्षिण अफ्रीका में बसी हैं और उनकी संख्या के परिमाण से देखा जाय तो असंख्य हबशियों को उन्होंने अपने अधीन कर रक्खा है। फिर यह कैसे हो सकता है कि वे दीन-हीन भारतीयों से डरें? और सभ्यता की दृष्टि से उन्हें जरा भी भय नहीं है। इसका सबसे

बढ़िया सबूत तो यह है कि यदि भारतीय हमेशा के लिए मजदूर बनकर ही रहे होते तो उनके खिलाफ कोई आन्दोलन ही न हुआ होता।

अतः अब खास बात रह जाती है, व्यापार और वर्ण। हजारों गोरों ने लिखा है और कबूल किया है कि भारतीयों का व्यापार छोटे-छोटे अंग्रेज व्यापारियों के लिए हानिकर है, और गेहुँए रंग के लोगों के प्रति दुर्भाव तो अंग्रेजों की हड्डी-हड्डी में व्याप्त हो गया है। उत्तरी अमेरिका में, जहाँ कि कानून में सबके लिए एकसे हक रखे गये हैं, बुकर टी वाशिंगटन् जैसा ऊँची से ऊँची शिक्षा पाया हुआ तथा अतिशय चरित्रवान् रईस पुरुष जिसने पश्चिमी सभ्यता को पूरी तरह से अपना लिया है, प्रेसिडेन्ट रूजवेल्ट के दरबार में नहीं जा सका और न आज तक जा सकता है। वहाँ के हबशियों ने पश्चिमी सभ्यता के आगे सिर झुका दिया है, वे ईसाई भी हो गये हैं। पर उनकी काली चमड़ी उनका एक महान् अपराध है, और उत्तर में यदि दैनिक व्यवहार में उनका तिरस्कार ही होता है तो दक्षिण अमेरिका में गोरे लोग उन्हें किसी अपराध के संदेह मात्र से जिन्दा जला देते हैं। दक्षिण अफ्रीका में इस दंडनीति का एक खास नाम भी है, जो आजकल की अंग्रेजी भाषा में एक प्रचलित शब्द हो रहा है। वह शब्द है "लिन्च लॉ"। "लिन्च लॉ" अर्थात् वह दण्ड-नीति जिसकी रू से पहले दण्ड सजा हो जाती है और फिर तहकीकात होती रहती है। लिन्च नामक पुरुष ने पहले इस प्रथा को शुरू किया था। इसीलिए इसका नाम "लिन्च लॉ" पड़ा।

इस विवेचन से पाठक भली-भाँति समझ गये होंगे कि तत्त्वज्ञान के बहाने ऊपर जो दलीलें की गयी हैं उनमें कोई सार नहीं है। पाठक इस पर से यह न समझ बैठें कि जिन-जिन लोगों

ने इस दलील को पेश किया है वे उसमें विश्वास नहीं करते उनमें से बहुत-से लोग सचमुच दलील में विश्वास करते हैं और वे उसे सारयुक्त और तात्त्विक भी मानते हैं। संभव है कि यदि हम भी ऐसी परिस्थिति में हों तो शायद ऐसी ही दलीलें पेश करें। शायद इन्हीं कारणों से "बुद्धिः कर्मानुसारिणी" वाली कहावत निकली होगी। यह अनुभव किसे नहीं कि जैसी हमारी अप्रवृत्ति बनी हो वैसी ही दलीलें हमें सूझती रहती हैं। और अगर वे दूसरे को समझ में न आवे, उसे उनसे संतोष न हो तो हमें भी असतोष अधीरता और आखिर क्रोध आ जाता है।

मैंने जान बूझकर इतनी गहराई से विचार किया है। मैं चाहता हूँ कि पाठक भिन्न-भिन्न दृष्टियों को समझ लें और आज तक जो ऐसा न करते आये हों वे उन्हें आदर की दृष्टि से देखने और समझने की आदतें डालें। सत्याग्रह का रहस्य जानने के लिए और विशेषतः उसको आजमाने के लिए ऐसी उदारता और सहन-शक्ति की बहुत आवश्यकता होती है। इसके सिवा सत्याग्रह असंभव है। इस पुस्तक को लिखनेका हेतु महज पुस्तक लिखना नहीं है। मेरा हेतु यह भी नहीं कि जनता के सामने दक्षिण अफ्रीका के इतिहास का एक अध्याय रक्खूँ। मेरा हेतु तो यह कि जिस वस्तु के लिए मैं जिन्दा हूँ, जिन्दा रहना चाहता और जिसके लिये यह मानता हूँ कि मैं मरने के लिए भी तैयार हूँ, वह कैसे उत्पन्न हुई, उसका सामुदायिक प्रयोग किस तरह किया गया यह सब जनता जाने, समझे और जहाँ तक पसंद करे अपनी शक्ति के अनुसार उस पर अमल करे।

अब हम फिर कथा-प्रसंग की तरफ झुकें। हम यह देख चुके हैं कि ब्रिटिश सत्ताधिकारियों ने यह निश्चय कर लिया था कि ट्रान्सवाल में नवीन भारतीयों को न आने दिया जाय, और वहाँ

के पुराने भारतीयों की स्थिति ऐसी दीन हीन करदी जाय कि या तो वे घबड़ाकर, लाचार होकर, ट्रान्सवाल छोड़कर भाग जायें और अगर न भी जावें तो लगभग मजदूर जैसे बनकर ही रह सकें। दक्षिण अफ्रीका के कितने ही बड़े माने जाने वाले राजनैतिक पुरुषों ने कई बार कहा है कि भारतीय इस देश में केवल लकड़हारे और पानी भरने वाले बनकर ही जीवन व्यतीत कर सकते हैं। ऊपर जिस एशियाटिक महकमे का जिक्र आया है, उसमें दूसरे अधिकारियों के साथ-साथ भारत में रहे हुए तथा विभक्त-उत्तरदायित्व (डायर्की) के आविष्कर्ता तथा प्रचारक की हैसियत से नामवरी कमानेवाले मि० लायनल कर्टिस भी थे। वे एक अच्छे खानदानी नौजवान हैं या कम-से-कम सन् १६०५-६ में तो जरूर ही नौजवान थे। लार्ड मिलनर के विश्वास-पात्र थे। सब काम शास्त्रीय पद्धति के अनुसार ही करने का दावा रखते थे। पर उनसे भी बड़ी-बड़ी गलतियाँ हो सकती थीं। एक समय अपनी एक ऐसीही भूलसे आपने जोहान्सबर्ग की म्युनिसिपैलिटी को १४,००० पौण्ड के घाटे में डाल दिया था। उन्होंने यह आविष्कार किया कि यदि नवीन भारतीयों को ट्रान्सवाल में आने से रोकना है तो हरएक पुराने भारतीय को दर्ज करने की कोई ऐसी तरकीब निकाली जाय जिससे एक के बदले दूसरा प्रवेश न पा सके और अगर आ भी जाये तो फौरन् पकड़ा जाये। अंग्रेजी सत्ता की स्थापना के बाद जो परवाने निकाले गये थे उनमें भारतीयो के दस्तखत या अँगूठे की निशानी ली जाती थी। बाद में किसी ने सूचित किया ठीक तो यह होगा कि हरएक भारतीय की तस्वीर ही खींच ली जाये। इसलिए दस्तखत, अँगूठे की निशानी और तस्वीरें भी लिखना शुरू हो गयीं। इसके लिए किसी कानून की आवश्यकता

भी न समझी गयी। नहीं तो नेताओं को फौरन् खबर न हो जाती? धीरे-धीरे इन नयी बातों के समाचार फैले। कौम की तरफ से सत्ताधिकारियों के पास पत्र गये। डेप्यूटेशन भी पहुँचे। अधिकारियों की तो यही दलील थी कि हम इस बात को तो बरदाश्त नहीं कर सकते कि चाहे जो आदमी जिस तरह चाहे, यहाँ घुस आवे। इसलिए तमाम भारतीयों के पास यहाँ रहने के परवाने एक ही किस्म के होने चाहिएँ और उनमें इतनी बातें लिखी होनी चाहिएँ कि उसके आधार पर केवल उनका मालिक ही यहाँ आने पावे और कोई नहीं। मैंने सलाह दी कि ऐसा तो कोई कानून यहाँ है नहीं जिसके बल पर अंग्रेज ऐसे परवाने रखने के लिए बाध्य कर सकते हों तथापि अभी जबतक कि अंग्रेजों और बोअरों के बीच स्थायी सुलह नहीं हो जाती तब तक तो वे हमसे परवाने जरूर माँग सकते हैं। भारत के "डिफेंस आफ इण्डिया" ऐक्ट—भारत रक्षा-विधान जैसा ही कानून दक्षिण अफ्रीका मे अस्थायी संधि रक्षा के लिए भी बनाया गया था और जिस प्रकार भारत में वह भारत-रक्षा-विधान बहुत ज्यादा समय तक प्रजा-पीड़न के लिए ही कायम रक्खा गया था, ठीक उसी प्रकार, अफ्रीका में भी उस संधि-रक्षा-विधान को महज भारतीयो को सताने के लिए ही अधिक समय तक कायम रक्खा था। गोरों पर तो उसका अमल होता ही न था। अब अगर यही निश्चित हुआ कि परवाने लेना ही चाहिए तो उनमें उस मनुष्य की पहचान के लिए भी तो कोई निशानी चाहिए न? इसलिए यह बराबर है कि जो दस्तखत न कर सकते हों उन्हें अपने अंगूठे की निशानी लगानी चाहिए। पुलिस वालों ने एक यह आविष्कार किया है कि किसी भी दो आदमियों के अंगूठों की रेखायें कभी एकसी नहीं होतीं। उनके स्वरूप और संख्या

का उन लोगों ने वर्गीकरण भी किया है। इस शास्त्र को जानने वाला दो अंगूठों के छाप की तुलना करके एक ही दो मिनट के अंदर कह सकता है कि वे दो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के हैं या एक ही के। तस्वीरें खींचने देने की कल्पना मुझे तो जरा भी पसंद नहीं थी। और मुसलमानों की दृष्टि से तो उसमें धार्मिक बाधा भी थी। आखिर हम इस निश्चय पर पहुँचे कि हरएक भारतीय अपने पुराने परवाने लौटाकर नवीन योजना के अनुसार बनाये परवाने ले लें और नवीन आनेवाले भारतीय नवीन परवाने ही लें। भारतीय इस बात के लिए कानून की दृष्टि से जरा भी बाध्य नहीं किए जा सकते थे। किन्तु उन्होंने अपनी स्वेच्छापूर्वक यह करना इसलिए ठीक समझा कि उनके सिर पर कोई और आफत न खड़ी कर दी जाये। दूसरे, वे यह भी सिद्ध करना चाहते थे कि वे कपटपूर्वक किसी को वहाँ बुलाना नहीं चाहते थे। और तीसरे रक्षा-विधान का उपयोग नवीन आनेवाले भारतीयों को सताने के लिए न होने पावे। यह कहा जा सकता है कि लगभग तमाम भारतीयों ने वे परवाने ले लिए थे। वह कोई ऐसी वैसी बात न थी। जिस बात के लिए कानून में कोई सजा न थी उसे यदि कौम ने एकता पूर्वक और शीघ्रता से कर दिखाया तो इससे उसकी सचाई, व्यवहार कुशलता, दानापन, समझदारी और नम्रता ही प्रगट होती थी। अपने इस कार्य द्वारा उसने यह भी सिद्ध कर बताया कि ट्रान्सवाल के किसी कानून का किसी भी प्रकार उल्लंघन करना नहीं चाहती थी। भारतीयों का खयाल था कि जो जाति इतने विवेक के साथ आचरण करती है, उसको सरकार भी अवश्य प्यार से रक्खेगी, उसका आदर करेगी और उसे दूसरे हक भी देगी। इस महाविवेक का बदला ट्रान्सवाल की ब्रिटिश सरकार ने किस प्रकार दिया यह हम अगले प्रकरण में देख सकेंगे।

(११)

विवेक का बदला--खूनी कानून

परवानों में उपर्युक्त रद्दोबदल हुआ तब तक सन् १९०६ लग गया था। सन् १९०३ में मैंने फिर ट्रान्सवाल में प्रवेश किया। इस वर्ष के करीब मध्य में मैंने जोहान्सबर्ग में अपना आफिस खोला अर्थात् दो साल एशियाटिक आफिस के आक्रमणों से बचाव करते ही करते बीत गये। हम सब यही सोचते थे कि परवानों का झगड़ा तय होते ही सरकार पूरी तरह सन्तुष्ट हो जायेगी, और कौम को भी कुछ शान्ति प्राप्त होगी। पर इसके नसीब में शान्ति थी ही नहीं। मि० लायनल कर्टिस का परिचय मैं पिछले अध्याय में दे चुका हूँ। उन्हें मालूम हुआ कि गोरों का हेतु केवल इतनी बात से सिद्ध नहीं होता, कि भारतीय सिर्फ नवीन परवाने ले लें। उनकी दृष्टि से यह बात काफी न थी कि ऐसे महान् कार्य परस्पर स्वेच्छापर्वक हो जायँ। इन कार्यों के पीछे कानून का बल भी अवश्य होना चाहिए। तभी वह शोभा दे सकता है, और उनके महत्वपूर्ण अंगों तथा सिद्धान्तों की रक्षा हो सकती है। मि० कर्टिस का हेतु यह था कि भारतीयों को किसी कानून के द्वारा इस प्रकार जकड़ दिया

जाये कि जिसका असर सारे दक्षिण अफ्रीका भर में हो और दूसरे उपनिवेश भी उसका अनुकरण करें। जबतक भारतवासियों के लिए दक्षिण अफ्रीका की भूमि मे कहीं जरा भी जगह रहेगी तब तक ट्रान्सवाल सुरक्षित नहीं कहा जा सकता। फिर उनकी दृष्टि से सरकार और भारतीयों के बीच इस प्रकार सुलह होने से तो उल्टी उनकी—कौम की मानों प्रतिष्ठा बढ़ गयी। मि० कर्टिस उनकी इस प्रतिष्ठा को बढ़ाना नहीं, घटाना चाहते थे। उन्हें भारतीयों की सम्मति की आवश्यकता न थी। वे तो बाह्य नियन्त्रण द्वारा कौम को कँपा देना चाहते थे। इसलिए उन्होंने एशियाटिक कानून का मसविदा तैयार किया और सरकार को यह सलाह दी कि जब तक इस मसविदे के अनुसार कानून बन कर स्वीकृत नहीं हो जाता तबतक बाहर से दब-छिपकर भारतीय आते ही रहेंगे और इस तरह आने वालों को बाहर निकालने के लिए कानून में कोई व्यवस्था नहीं है। मि० कर्टिस का मसविदा और उनकी सलाह भी सरकार को बहुत पसन्द हुई। उस मसविदे के अनुसार वहाँ की धारासभा में पेश करने के लिए एक बिल बनाकर उसे सरकारी गजट में प्रकाशित कर दिया गया।

इस बिल के विषय में मैं अधिक कहने के पहले एक महत्वपूर्ण प्रसंग को, जो वहाँ घटित हुआ, कुछ शब्दों में कह देना अधिक आवश्यक है। चूँकि मैं सत्याग्रह का प्रेरक हूँ, इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि पाठक मेरी स्थिति-परिस्थितियों को पूरी तरह समझ लें। उपर्युक्त तरीकों से ट्रान्सवाल के भारतीयों को सताने के प्रयत्न हो रहे थे कि उसी समय इधर नेटाल में वहाँके हबशी-जुलुओं में बलवा हो गया। मुझे उस समय और अभीतक भी सन्देह है कि उस झगड़े को हम बलवा कह भी

सकते हैं या नहीं ? तथापि नेटाल में उस घटना का परिचय इसी नाम से हमेशा दिया गया है। इस बार भी नेटाल में रहनेवाले बहुत से गोरे उस बलवे को शान्त करने के लिए सेवक बने। मैं नेटाल का ही निवासी माना जाता था। इसलिए मुझे मालूम हुआ कि मुझे भी उसमें नौकरी करना चाहिए। इसलिए कौम की आज्ञा लेकर सरकार के पास मैंने एक सन्देश भेजा कि वह मुझे घायलों की सेवा करने के लिए स्वयंसेवक दल बनाने की इजाजत दें। सरकार ने इसे मंजूर कर लिया। इसलिए ट्रान्सवाल का मकान मैंने छोड़ा। बाल-बच्चो को मैंने नेटाल में खेत पर जहाँसे "इण्डियन ओपीनियन" नामक समाचार पत्र प्रकाशित होता था, और जहाँपर मेरे सहायक लोग रहते थे भेज दिया। आफिस खुला ही रखा था, क्योंकि मैं जानता था कि मुझे इसमें बहुत दिन नहीं लगेंगे।

२०-२५ आदमियों का एक छोटा-सा दल खड़ा करके मैं फौज के साथ शामिल हो गया। इस छोटे से दल मे भी लगभग तमाम जाति के भारतीय थे। इस दल ने एक महीना भर सेवा की। हमें जो जो काम दिया गया उसे मैंने हमेशा परमात्मा का अनुग्रह माना। हमने यह देखा कि जो हबशी घायल होते उन्हें अगर हम न उठा लेते तो यों ही बेचारे सड़ा करते। उन घायलों की शुश्रूषा करने में गोरे कभी सहायता न करते थे। जिस शस्त्र-वैद्य के पास हमें काम करना पड़ता था वह स्वयं बड़ा दयालु पुरुष था। घायलों को उठाकर दवाखाने में लाने पर उनकी शुश्रूषा करना हमारे क्षेत्र के बाहर की बात थी। पर हम तो यह निश्चय करके गये थे कि वे जिस किसी काम को कहें उसे हम अपने क्षेत्र के भीतर ही समझें। इसलिये उस भले डाक्टर ने हमें कहा "मुझे एक भी गोरा शुश्रूषा करने के लिए नहीं

मिलता। न मेरे पास ऐसा कोई अधिकार है कि जिसके द्वारा मैं उन्हें यह काम करने के लिए बाध्य कर सकूँ। इसलिए अगर आप यह परोपकर करें तो मैं आपका अहसानमंद होऊँगा। हमने इसका स्वागत किया। कितने ही हबशियों के जखम पाँच-पाँच छः-छः दिन से दुरुस्त ही नहीं किये गये थे। इसलिए उनमें से दुर्गन्ध आ रही थी। उन्हे साफ करने का काम हमारे जिम्मे हुआ। और हमें यह बहुत पसंद भी आया। बेचारे हबशी हमारे साथ बात तो कर सकते ही न थे, किन्तु उनकी चेष्टाओं और आँखों से हम यह देख सकते थे कि उन्हे यह मालूम हो रहा था कि उनकी शुश्रूषा करने के लिए हमें परमात्मा ही ने तो न भेजा हो ? इस काम में कभी-कभी दिन में चालीस-चालीस मील भी हमें चलना पड़ता था।

एक महीने के अन्दर हमारा काम समाप्त हो गया। अधिकारियों को भी उससे संतोष हुआ। गवर्नर ने हमारा अहसान मानते हुए हमें एक पत्र लिखा। इस दल में तीन गुजरातियों को सार्जन्ट का अधिकार दिया गया था। गुजरातियों को उनके नाम जान कर अवश्य हर्ष होगा। उनमें एक तो थे उमियांशंकर शेलत, दूसरे सुरेन्द्रराय मढ़े और तीसरे हरिशंकर जोशी। तीनों कसे हुए बदन के थे और तीनों ने बड़ी सख्त मेहनत की थी। अन्य भाइयों के नाम इस समय मुझे याद नहीं आते। पर इतना जरूर याद है कि उनमें एक पठान भी था। मुझे यह भी याद आ रहा है कि उसके जितना ही वजन उठाकर उसके साथ-साथ कूच करते हुए हम सबको देखकर उसे बड़ा आश्चर्य होता था।

इस टुकड़ी में काम करते हुए मेरे दो विचार जो धीरे-धीरे पक्के हो रहे थे, परिपक्व होकर बाहर निकले। एक तो यह कि सेवा-धर्म को प्रधानपद देनेवाले को ब्रह्मचर्य का पालन करना

आवश्यक है। और दूसरा यह कि जिसने सेवा-धर्म धारण किया है उसे हमेशा के लिए गरीबी का व्रत लेना चाहिए। वह कभी ऐसे व्यवसाय में न पड़े जिससे सेवा करने में उसे कभी संकोच मालूम होने का मौका आवे या जरा हिचाहिचाहट भी हो।

इस टुकड़ी में काम करते हुए भी मेरे पास ट्रान्सवाल फौरन लौट आने के लिये पत्र और तार बराबर आ रहे थे। इसलिए फिनिक्स में सबको मिलकर मैं फौरन् जोहान्सबर्ग पहुँचा। और वहाँ उपर्युक्त बिल पढ़ा। बिलवाला गजट मै आफिस से घर पर ले गया था। घर के पास एक छोटी सी टेकड़ी थी। वहाँ अपने साथी को लेकर मैं "इण्डियन ओपीनियन" के लिए उस बिल का अनुवाद कर रहा था। जैसे-जैसे मैं उस बिल की धारायें पढ़ता जा रहा था; वैसे-वैसे मेरा बदन काँपता जाता था। मैं उसमें सिवा भारतियों के द्वेष के और कुछ भी न देख सका। मुझे उस समय यह मालूम हुआ कि अगर यह बिल पास हो जाय और भारतीय उसे कुबूल कर लें तो दक्षिण अफ्रीका से भारतीयों के पैर जड़मूल से उखड़ गये यही समझना चाहिए। मैं स्पष्ट रूप से यह देख सका कि भारतीयों के लिए वह जीवन-मरण का प्रश्न था। मुझे यह भी भास होने लगा कि यदि अर्जियाँ देकर कौम को सफलता प्राप्त न हुई तो अब वह चुपचाप भी नहीं बैठ सकती। इस कानून के आगे सिर झुकाने की अपेक्षा तो मरना भला है। पर मरें कैसे? ऐसा कौन मार्ग है जिसके अवलम्बन से अथवा अवलम्बन का साहस करने से कौम के सामने केवल दो ही बातें रहें—जीत या मौत? तीसरी बात ही न दिखे? मेरी आँखों के सामने तो ऐसी भयंकर दीवार खड़ी हो गयी कि मुझे तो कोई रास्ता सूझता ही न था। जिस कागज ने मुझे इतना दहला दिया उसे पाठकों को तो अवश्य जान लेना

चाहिए। उसका सार नीचे लिखे अनुसार है।

"ट्रान्सवाल में रहने का हक रखने की इच्छा वाले हरएक भारतीय पुरुष, स्त्री और आठ वर्ष या आठ वर्ष से अधिक उम्र वाले बालक या बालिका को एशियाई दफ्तर में अपना नाम लिखाकर परवाना प्राप्त कर लेना चाहिये। ये परवाने लेते वक्त अपने पुराने परवाने अधिकारी को सौंप दिये जायें। नाम लिखाने की अर्जी में अपना नाम, स्थान, जाति, उम्र वगैरा लिखे जायें। नाम लिखने वाले अधिकारी को चाहिये कि अर्जदार के शरीर पर की मुख्य निशानियों को नोट कर लें। अर्जदार की तमाम उँगलियों और दोनों अँगूठों की छाप ले लें। उन भारतीय स्त्री-पुरुषों का ट्रान्सवाल में रहने का हक रद्द समझा जाय जो नियत समय के भीतर इस प्रकार अर्जी न करेंगे। अर्जी न करना भी एक कानूनन अपराध माना जायगा, जिसके लिये वह व्यक्ति जेल में भेज दिया जा सकता है या उसका जुर्माना हो सकता है और अगर अदालत चाहे तो उसे देश निकाले की सजा भी हो सकती हैं। बच्चों के लिए माता-पिता को अर्जी देनी चाहिए। निशानियाँ तथा उँगलियों की छाप देने के लिए बच्चों को अधिकारियों के पास पेश करने की जिम्मेदारी भी उनके माता-पिता के ऊपर ही रहेगी। यदि माता-पिताओं ने इस जिम्मेदारी को अदा न किया हो तो बच्चों को चाहिए कि उनको सोलह वर्ष की उम्र होते ही वे स्वयं उसे अदा न करें। और उस उपर्युक्त अपराध के लिए जिन-जिन सजाओं के पात्र वे माता-पिता समझे जावेंगे उन्हीं सजाओं के पात्र वे बच्चे भी सोलह वर्ष की उम्र प्राप्त करने पर समझे जावेंगे। अर्जदार को जो परवाने दिये जायें, उन्हें अर्जदार को चाहिए कि वह हर किसी पुलिस अधिकारी को जहाँ और जिस वक्त वह मांगे वहीं

और उसी वक्त हाज़िर करदे। अगर वह ऐसा न कर सकेगा तो वह भी एक जुर्म समझा जायगा, और कोर्ट उसके लिए उसका या तो जुर्माना कर सकती है या उसे क़ैद की सज़ा दे सकती है। यह परवाना राहगीर मुसाफ़िर से भी माँगा जा सकता है। परवाना ढूंढने के लिए अधिकारी लोग भारतीयों के मकान में भी घुस सकते हैं। ट्रान्सवाल के बाहर से आनेवाले स्त्री-पुरुषों को चाहिए कि वे अपने परवाने नियुक्त अधिकारियों को ज़रूर बतादें जो उन्हें देखना चाहें। अगर भारतीय कहीं अदालत में किसी काम के लिए जावें या महसूली नाके पर व्यापार के लिए या बायसिकल रखने की इजाज़त लेने के लिए जावें तो वहाँ भी उनसे परवाना माँगा जा सकता है। अर्थात् किसी भी सरकारी दफ्तर में उस दफ्तर से संबन्ध रखने वाले अपने काम के लिए अगर कोई भारतीय जाय तो उसकी बात सुनने के पहले वहाँ का अधिकारी उससे परवाना माँग सकता है। परवाना पेश करने से या उस विषय को कोई भी जानकारी अधिकारी के पूछने पर बताने से इन्कार करना भी एक अपराध माना गया है और इसके लिए भी कोर्ट उसे क़ैद की सजा दे सकती है या जुर्माना कर सकती है।'

मुझे ज़रा भी यह ख़याल न था कि संसार के किसी भी हिस्से में स्वतन्त्र मनुष्यों के लिए इस प्रकार का कोई कानून हो सकता है। मैं जानता हूँ कि नेटाल के गिरमिटिया भाइयों के विषय में परवाने के कानून बहुत सख्त हैं। पर वे तो बेचारे, स्वतन्त्र माने ही नहीं जाते। तथापि यह कहा जा सकता है कि इस कानून के मुकाबले में तो उनके कानून भी सौम्य हैं। उसे तोड़ने के अपराध में मिलनेवाली सजाओं के मुकाबले में उनकी सजायें तो कुछ भी नहीं। लाखों का व्यापार करनेवाला व्यापारी इस

कानून के आधार पर ट्रान्सवाल से बाहर निकाल दिया जा सकता है। अर्थात् उसकी आर्थिक स्थिति का सत्यानाश हो सकता है। इस कानून के भंग से हालत यहाँतक नाजुक हो जा सकती है। और अगर पाठक अधीर न हों तो वे यह भी पढ़ेंगे कि इस अपराध के लिए भारतीयों को ऐसी सजायें हो भी चुकी हैं। गुनाह करनेवाली कौमों के लिए भारत में कितने ही सख्त कानून हैं। बस उनसे इस कानून की तुलना आसानी से की जा सकती है और उस तुलना में आप यह न कह सकेंगे कि यह कानून किसी प्रकार भी कम सख्त है।

दसों अँगुलियों की छाप लेने की बात तो अफ्रीका में बिल्कुल नयी थी। एक बार इस विषय का साहित्य पढ़ने की इच्छा से किसी पुलिस अधिकारी की लिखी 'अँगुलियों की छाप' (फिंगर इम्प्रेशन्स) नाम की पुस्तक मैंने पढ़ी। उसमें मैंने यह पढ़ा कि इस तरह कानून के अनुसार अँगुलियों की छाप केवल जुर्म करनेवालों से ही ली जाती है। इसलिए जबरदस्ती अँगुलियों की छाप लेने की बात मुझे बड़ी ही भयकर मालूम हुई। स्त्रियों तथा सोलह वर्ष के भीतर के बच्चों के परवाने लेने की प्रथा भी कानून में पहले पहल ही दर्ज हुई थी।

दूसरे दिन कुछ गण्यमान्य भारतीयों को इकट्ठा करके मैंने उन्हें यह कानून अक्षर-अक्षर समझाया। उसका असर उनपर भी वही हुआ जो मुझपर हुआ था। उनमें से एक तो आवेश में बोल उठे "मेरी औरत से अगर कोई परवाना माँगने के लिए आवेगा तो मैं उसे वहीं का वहीं खतम कर दूँगा, फिर मेरा जो कुछ होना होगा होता रहेगा।" मैंने उन्हें शान्त किया और सबसे कहा "यह मामला बहुत गम्भीर है। अगर यह बिल पास हो जाय और हम उसे कबूल कर लें तो सारे दक्षिण अफ्रीका

में सब जगह उसका अनुकरण होगा। मुझे तो इस बिल का यही हेतु मालूम होता है कि यहाँ से हमारा अस्तित्व ही मिटा दिया जाय। यह कानून कोई आखिरी सीढ़ी नहीं है। बल्कि हमें कष्ट देकर भगा देने की पहली सीढ़ी है। इसलिए हमारे सिर पर केवल ट्रान्सवाल में बसनेवाले १०-१५ हजार भारतीयों की ही नहीं बल्कि दक्षिण अफ्रीका भर के तमाम भारतीयों की जिम्मेदारी है। और अगर हम इस बिल का रहस्य अच्छी तरह समझ लें, तब तो सारे भारतवर्ष की प्रतिष्ठा की जिम्मेदारी भी हमारे सिर पर आती है, क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि इस बिल से केवल हमारा ही अपमान होगा बल्कि इसमें तो सारे भारतवर्ष का अपमान है। अपमान का मतलब ही है निर्दोष मनुष्य का मान-भंग। यह तो कोई नहीं कह सकता कि हम ऐसे कानून के पात्र हैं। हम तो निर्दोष हैं और राष्ट्र के एक भी निर्दोष अंग का अपमान सारे राष्ट्र का अपमान है। इसलिए इस कठिन प्रसंग पर अगर हम जल्दबाजी करेंगे, अधीरता दिखावेंगे, क्रुद्ध हो जावेंगे, तो हम उसके द्वारा इस हमले से अपनी रक्षा न कर सकेंगे। पर यदि शान्तिपूर्वक उसका उपाय ढूँढेंगे, वक्त पर उसका अवलंबन करेंगे, एकतापूर्वक रहेंगे और अपमान का प्रतिकार करते हुए जो मुसीबतें आवें उनका स्वागत करेंगे तो मुझे तो विश्वास है कि स्वयं परमात्मा भी हमारी सहायता करेगा।"

सभी बिल की गंभीरता समझ गये थे। सबने यह निश्चय किया कि एक विराट सभा बुलायी जाय और उसमें कितने ही प्रस्ताव पेश करके उन्हें स्वीकृत किया जाय। यहूदियों की एक नाट्यशाला किराये पर ली गयी। वहीं सभा भी बुलायी गयी।

अब पाठक समझ सकेंगे कि इस अध्याय के शीर्षक में इस कानून को "खूनी कानून" क्यों लिखा है? उस विशेषण का प्रयोग मैंने इस अध्याय के लिए नहीं किया। वह तो दक्षिण अफ्रीका में इस कानून के लिए प्रचलित हो गया था।

(१२)

सत्याग्रह का जन्म

उस नाट्य-शाला में सभा हुई। ट्रान्सवाल के भिन्न भिन्न शहरों से प्रतिनिधि भी बुलाये गये। पर मुझे स्वीकार करना चाहिए कि जो प्रस्ताव मैंने बनाये थे उनका पूरा अर्थ स्वयं मैं ही न समझ सका था। इसी प्रकार यह अंदाज भी न लगा सका था कि इनका दूरवर्ती परिणाम क्या होगा। सभा हुई। नाट्यशाला में कहीं भी जगह नहीं खाली बची। सबके चेहरे मानों यही कह रहे थे कि कोई नयी बात आज हमें करनी है। ट्रान्सवाल ब्रिटिश इण्डियन एसोसियेशन के अधिपति मि० अब्दुल गनी अध्यक्ष-स्थान पर विराजे। आप ट्रान्सवाल के बहुत ही पुराने निवासियों में से एक थे। मुहम्मद कासम कमरुद्दीन नामक प्रसिद्ध दूकान के आप भागीदार थे और उसकी जोहान्सबर्ग वाली शाखा के व्यवस्थापक थे। सभा में जो प्रस्ताव स्वीकृत हुए थे उनमें महत्त्व का प्रस्ताव तो एक ही था। उसका आशय यही था कि इस बिल का विरोध करने के लिए तमाम उपायों का अवलंबन किया जाय पर यदि इतने पर भी वह पास हो ही जाय तो भारतीयों को उसके आगे अपना सिर न झुकाना चाहिए। और इस अवज्ञा के फलस्वरूप जो-जो दुःख सहना पड़े, वे सब सहें।

यह प्रस्ताव मैंने सभा को पूरी तरह समझा दिया। सभा ने उसे शांतिपूर्वक सुन लिया। कार्रवाई तो तमाम हिन्दी और गुजराती में ही हो रही थी, अर्थात् यह तो संभव नहीं था कि कोई समझता न होगा। जो तामिल और तेलगू भाई हिन्दी नहीं समझ सकते थे उन्हें उन्हींकी भाषा में सब बातें समझा दी गयीं। नियमानुसार एक दरख्वास्त भी बनायी गयी। अनेक आदमियों ने उसका समर्थन किया। वक्ताओं में एक सेठ हाजी हबीब भी थे। वह भी दक्षिण अफ्रीका के बहुत पुराने और अनुभवी बाशिन्दे थे। उनका भाषण बड़ा जोशीला था। आवेश में आपने यह भी कह दिया कि "परमात्मा को साक्षी करके इस प्रस्ताव को हमें स्वीकृत करना है। हम नामर्द बनकर कभी इस कानून के वश नहीं हो सकते। इसलिए मैं तो अल्लाहपाक की कसम खाकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं कभी इस कानून के वश नहीं होऊँगा। मैं इस मजलिस से भी यही सिफारिश करता हूँ कि वह भी अल्लाह को साक्षी करके इसी प्रकार प्रतिज्ञा ले।"

इसके समर्थन में और भी कई जोशीले भाषण हुए थे। पर जब सेठ हाजी हबीब बोलते-बोलते कसम खाने पर आये तब मैं एकदम सावधान हो गया। बस, उसी समय मुझे अपनी और कौम की जिम्मेदारी का पूरा-पूरा ख़याल हुआ। आजतक कौम ने कितने ही प्रस्ताव पास किये थे। अधिक विचार करने पर तथा नवीन अनुभव प्राप्त होने पर उसमें यथासमय परिवर्तन भी किया था। यह भी होता था कि ऐसे प्रस्तावों पर सब अमल नहीं करते थे। प्रस्ताव में परिवर्त्तन, और सहमत होनेवालों का भी पीछे से इन्कार करना आदि संसार में सार्वजनिक जीवन के स्वाभाविक अनुभव हैं। पर ऐसे प्रस्तावों के बीच कोई ईश्वर का नाम नहीं लेता था। सात्विक दृष्टि से देखा जाय

तो निश्चय और ईश्वर का नाम लेकर प्रतिज्ञा करने में कोई भेद न होना चाहिए। बुद्धिमान् मनुष्य जिस किसी बात का विचार-पूर्वक निश्चय कर लेता है उससे वह विचलित नहीं होता। उसके लिए वह ईश्वर को साक्षी बनाकर की गयी प्रतिज्ञा के बराबर ही है। पर संसार सात्विक निर्णयों से नहीं चलता। ईश्वर को साक्षी बनाकर की हुई प्रतिज्ञा और सामान्य निश्चय में वह जमीन-आस्मान का भेद मानता है। सामान्य निश्चय को बदलते हुए मनुष्य को लज्जा नहीं मालूम होती। पर प्रतिज्ञाबद्ध मनुष्य से अगर अपनी प्रतिज्ञा का भंग हो जाता है तो वह स्वयं शरमाता है और समाज उसे फटकार देता है—पापी समझता है। यह बात इतनी गंभीर है कि वह कानून में भी समाविष्ट हो गयी है। क्योंकि यदि किसी बात की कसम खाकर आदमी उसका भंग करे तो वह एक अपराध माना गया है और कानून में उसके लिए सख्त सजा रक्खी गयी है।

इन विचारों का रखनेवाला प्रतिज्ञाओं का अनुभवी, प्रतिज्ञाओं के मीठे फल चखनेवाला मैं भी उपर्युक्त प्रतिज्ञा को बात सुनकर स्तब्ध हो गया। एक क्षणभर के अंदर मैंने उसके तमाम परिणामों को देख लिया। उस घबराहट से शक्ति का जन्म हुआ। और यद्यपि मैं वहाँपर न तो स्वयं प्रतिज्ञा करने गया था और न लोगों से प्रतिज्ञा करवाने के लिए गया था तथापि सेठ हाजी हबीब की बात मुझे बहुत ही पसंद आयी। पर साथ ही मुझे यह भी उचित मालूम हुआ कि जनता को उसके तमाम परिणामों से परिचित कर देना चाहिए, प्रतिज्ञा का अर्थ स्पष्ट रूप से उसे समझना' चाहिए और इतने पर भी यदि वह प्रतिज्ञा करे तो उसका सहर्ष स्वागत करना चाहिए और अगर न करे तो मुझे समझ लेना चाहिए कि लोग अभी अन्तिम कसौटी पर

चढ़ने के लिए तैयार नहीं हुए। इसलिए मैंने अध्यक्ष महाशय से इस बात की इजाजत माँगी कि वे मुझे सेठ हाजी हबीब के भाषण का रहस्य समझाने दें। मुझे आज्ञा मिल गयी। मैं उठा। और उस समय मैंने जो कुछ कहा उसका सार मुझे जिस प्रकार याद है, मैं नीचे दे रहा हूँ।

"मैं सभा को अभी यह बात समझा देना चाहता हूँ कि आजतक हमने जो प्रस्ताव जिस प्रकार स्वीकृत किये हैं उनमें, उनकी रीति में और आज के प्रस्ताव और उनकी रीति में जमीन-आसमान का फर्क है। यह प्रस्ताव बड़ा गंभीर है क्योंकि उसपर पूरा अमल करने पर ही दक्षिण अफ्रीका में हमारा अस्तित्व निर्भर है। इस प्रस्ताव को स्वीकार करने की जो नवीन रीति हमारे इन भाई ने बतायी है वह जितनी नवीन है उतनी गम्भीर भी है। मैं स्वयं प्रस्ताव को इस प्रकार स्वीकार करने के विचार से नहीं आया था इसका पूरा श्रेय तो सेठ हाजी हबीब को ही है, और इसकी जिम्मेदारी भी उन्हींके ऊपर है। उनको मैं धन्यवाद देता हूँ। उनकी सूचना मुझे बड़ी ही अच्छी लगी। और अगर आप उनकी सूचना को स्वीकार कर लें तो आप भी उनकी गम्भीर जिम्मेदारी के हिस्सेदार हो सकते हैं। पर आपको पहले यह समझ लेना चाहिए कि वह जिम्मेदारी क्या है और कौम के सलाहकार और सेवक की हैसियत से मेरा यह धर्म है कि मैं आपको वह पूरी तरह समझा दूँ।

"हम सब एक ही सिरजनहार को मानते हैं। उसे मुसलमान भले ही खुदा कहकर पुकारें, हिन्दू भले ही ईश्वर कहकर उसका भजन करें पर वह है एक ही स्वरूप। उसको साक्षी बनाकर—उसे हमारा मध्यस्थ बनाकर हम प्रतिज्ञा लें या कसम खावें यह कोई ऐसी-वैसी बात नहीं। ऐसी कसम खाकर यदि हम उससे

विचलित हो जायँ तो कौम के, संसार के और परमात्मा के हम अपराधी होंगे। स्वयं मैं तो यह मानता हूँ कि यदि मनुष्य सावधानी से और निर्मल-बुद्धिपूर्वक कोई प्रतिज्ञा करके बादमें उसे तोड़ दे तो वह अपनी मनुष्यता खो बैठता है और जिस तरह यह मालूम होते ही कि पारा चढ़ाया हुआ ताँबे का सिक्का रुपया नहीं है, उसे कोई नहीं पूछता, इतना ही नहीं बल्कि उस खोटे सिक्के को रखनेवाला दण्डनीय माना जाता है, ठीक उसी तरह झूठी कसम खानेवाला आदमी भी कौड़ी कीमत का हो जाता है, बल्कि लोक-परलोक में दोनों जगह वह सजा का पात्र हो जाता है। सेठ हाजी हबीब आपको इतनी ही गम्भीर कसम खाने के लिए कह रहे हैं। इस सभा में ऐसा एक भी मनुष्य नहीं है जो बच्चा या अज्ञानी कहा जा सकता हो। आप सब प्रौढ़ हैं, संसार देखे हुए हैं, अधिकांश तो प्रतिनिधि हैं। आपमें से कई भाइयों ने छोटे या बड़े परिमाण मे जिम्मेदारियाँ भी उठायी हैं। अर्थात् इस सभा मे से एक भी आदमी यह कहकर नहीं छूट सकता कि बगैर समझे-बूझे ही मैंने प्रतिज्ञा ले ली थी।

"मैं जानता हूँ कि प्रतिज्ञायें, व्रत वगैरा किसी असाधारण प्रसंग पर ही लिये जाते हैं और लिये भी जाने चाहिएँ। उठते बैठते प्रतिज्ञा लेनेवाला आदमी जरूर पछतावेगा। पर यदि हमारे सामाजिक जीवन में इस देश में प्रतिज्ञा लेने लायक किसी प्रसंग की मैं कल्पना कर सकता हूँ तो वह अवश्य यही है। होशियारी इसी में है कि ऐसे समय पर बहुत सोच-समझकर आगे कदम रक्खा जाय। पर भय और सावधानी की भी हद होती है। इस हद को हम पहुँच चुके हैं। सरकार सभ्यता की मर्यादा को लाँघ गयी है, हमारे चारों ओर उसने जब दावानल लगा दिया है तब फिर भी हम यदि न चेतें और गफलत में पड़े रहें तो नालायक

और नामर्द साबित होंगे। इसलिए इसमें तिल-मात्र भी सन्देह नहीं कि यह अवसर शपथ लेने का है। पर यह बात तो हर एक आदमी को अपने आप सोचनी होगी कि उसे लेने की शक्ति उसमें है या नहीं। ऐसे प्रस्ताव बहुमत से नहीं पास किये जाते। जितने आदमी कसम खावेंगे उतने ही उसके द्वारा बाँधे जावेंगे। ये कसमें महज दिखावे के लिए नहीं खायी जाती हैं। कोई इस बात का भी तिलमात्र विचार न करे कि इसका असर यहाँ की सरकार, बड़ी सरकार या भारत सरकार पर क्या पड़ेगा। हरएक आदमी केवल अपने हृदय पर हाथ रखकर उसीको टटोले और यदि इतना करने पर उसकी अंतरात्मा आज्ञा दे कि मुझ में कसम खाने की शक्ति है तभी कसम ले और वही सफल भी होगी।

"अब कुछ शब्द इसके परिणाम के विषय में कहता हूँ। अच्छी से अच्छी आशा रखते हुए यह कहा जा सकता है कि यदि सभी अपनी-अपनी प्रतिज्ञाओं पर कायम रहें, भारतीयों में से अधिकाँश यह कसम खा सकें तो यह कानून पास न होगा और यदि हो भी जाय तो जरूर फौरन् रद हो जायगा। कौम को अधिक कष्ट भी न हो। यह भी हो सकता है कि कुछ भी कष्ट न हो। पर जिस प्रकार प्रतिज्ञा लेनेवाले का धर्म एक प्रकार से श्रद्धापूर्वक आशा रखना है उसी प्रकार दूसरी तरह से केवल निराशावादी बनकर कसम खाने के लिए भी उसे तैयार रहना चाहिए। इसी लिए हमारे युद्ध के जो कड़ुए से कड़ुए परिणाम हो सकते हैं उनका चित्र मैं इस सभा के सामने खींच देना चाहता हूँ। यहाँ पर हम जितने मनुष्य उपस्थित हैं वे सब शपथ ले लें। अधिक से अधिक यहाँ पर ३००० की उपस्थिति होगी। हो सकता है कि शेष १०००० प्रतिज्ञा न लें। आरम्भ में तो अवश्य ही हमारी हँसी होगी। तथापि इतनी चेतावनी देने पर भी बहुत

सम्भव है कि कसम खानेवालों में से भी कितने ही पहली कसौटी पर ही कमजोर साबित हों। हमें जेल में जाना होगा, वहाँ अपमान सहन करना होगा, भूख प्यास, और धूप भी झेलना पड़ेगी, सख्त मजूरी करनी पड़ेगी; उद्दण्ड दरोगाओं के हाथ की मार भी खानी पड़े तो आश्चर्य नहीं। जुर्माना होगा और कुर्की में माल-असबाब भी बिक जा सकता है। अगर लड़नेवाले बहुत थोड़े रह जायें तो हमारे पास बहुत सा धन होते हुए भी हम कंगाल हो जावेंगे। देश बाहर भी निकाल दिये जा सकते हैं। भूख और जेल के अन्य दु:खो को सहते हुए हममें से कितने ही बीमार होंगे और कोई-कोई मर भी जायें तो हमें आश्चर्य न होना चाहिए। अर्थात् संक्षेप में कहना चाहें तो आश्चर्य नहीं कि आप जितने दु:खों की कल्पना कर सकते हों वे सभी हमें सहना पड़े और समझदारी तो इसीमें है कि हरएक आदमी को यही सोचकर प्रतिज्ञा लेनी चाहिए कि यह सब अकेले मुझीको सहना पड़ेगा। अगर कोई मुझसे यह पूछे कि इस लड़ाई का अन्त कब और क्या होगा तो मैं कह सकता हूँ कि यदि सारी कौम इस परीक्षा मे से पूरी तरह उत्तीर्ण हो जाय तब तो शीघ्र ही इस लड़ाई का अन्त हो सकता है। पर अगर हममें से बहुत से आदमी मुसीबत आने पर फिसल जायँ तब तो वह बहुत दिन तक चलेगी। पर फिर भी यह तो मैं साहस और निश्चय के साथ कह सकता हूँ कि—जबतक अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहनेवाले मुट्ठी भर आदमी भी बने रहेंगे तबतक इस युद्ध का अन्त एक ही प्रकार से हो सकता है—अर्थात् हमारी जीत ही होगी।

"अब मैं अपनी व्यक्तिगत जिम्मेदारी के विषय में एक दो शब्द कहना चाहता हूँ। यद्यपि मैं आपको प्रतिज्ञा लेने से आगे आनेवाली कठिनाइयाँ दिखा रहा हूँ तथापि साथ ही साथ मैं

आपको प्रतिज्ञा लेने के लिए प्रेरित भी कर रहा हूँ। इसमें मैं अपनी जिम्मेदारी बराबर समझता हूँ। हो सकता है कि आवेश या रोष के कारण इस सभा का बहुत बड़ा हिस्सा यह प्रतिज्ञा करे, पर मुसीबत के समय कमजोर साबित हो और आखिरी ताप सहन करने के लिए केवल मुट्ठी भर आदमी ही रह जावें। पर मेरे जैसे आदमी के लिए तो केवल एक ही रास्ता बचा है और वह है 'मर मिटना पर इस कानून के वश न होना।' मैं तो यह भी मानता हूँ कि फर्ज कीजिए—यद्यपि ऐसा होने की जरा भी सम्भावना नहीं तथापि मान लीजिए—कि सभी फिसल पड़े, और अकेला मैं ही रह जाऊँ तथापि मुझे यह पूरा विश्वास है कि उस हालत में भी मुझसे प्रतिज्ञा का भँग कदापि नहीं हो सकता। मेरे कहने के उद्देश को समझ लीजिए। यह घमण्ड की बात नहीं। पर इस मँच पर बैठे हुए नेताओं को सावधान करने के लिए यह कहा गया है। अपना उदाहरण लेकर नेताओं को मैं विनयपूर्वक यह कहना चाहता हूँ कि अगर आपके अन्दर यह शक्ति न हो कि आपके केवल अकेले रह जाने पर आप उस पर दृढ़ न रह सकेंगे तो वह प्रतिज्ञा मत कीजिए। इतना ही नहीं बल्कि इस प्रस्ताव पर प्रतिज्ञा की जावें उसके पहले अपना विरोध प्रकट कर दीजिए और उसमें अपनी सम्मति मत दीजिए। यद्यपि हम सब इस प्रतिज्ञा को एक साथ ही करना चाहते हैं तथापि कोई इसका यह अर्थ न करे कि यदि एक अथवा अनेक आदमी अपनी प्रतिज्ञा का भंग न करें तो शेष भी अनायास इस बन्धन से मुक्त हो सकते हैं। हरएक आदमी अपनी पूरी जिम्मेदारी के साथ स्वतंत्र रूप से प्रतिज्ञा ले और साथ ही प्रतिज्ञा लेने के पहले यह भी निश्चय कर लें कि दूसरे चाहे जो करें लेकिन मैं तो जबतक शरीर में प्राण रहेंगे तबतक उस पर दृढ़ ही रहूँगा।"

इस प्रकार बोल कर मैं बैठ गया। जनता बड़ी शान्ति के साथ एक-एक शब्द सुन रही थी। अन्य नेता भी बोले। सबने अपनी तथा श्रोताओं की जिम्मेदारी का विवेचन किया। अध्यक्ष उठे। उन्होंने भी यही समझाया, और अन्त में सारी सभा ने खड़े होकर परमात्मा को साक्षी रखकर यह प्रतिज्ञा की कि यदि कानून पास हो जाय तो हम उसके आगे सिर न झुकावेंगे। वह दृश्य ऐसा था कि मैं उसे कभी भूल नहीं सकता। जनता में बेहद उत्साह था। दूसरे ही दिन उस नाट्यशाला में अचानक आग लगी और वह जलकर भस्म हो गयी। तीसरे दिन लोग मेरे पास आये और कौम को मुबारकबादी देते हुए कहने लगे कि 'नाट्यशाला का जलना कौम के लिए एक शुभ शकुन है। नाट्यशाला की तरह वह कानून भी एक दिन जल जायेगा। पर ऐसी बातों का मुझ पर कभी कोई असर नहीं हुआ। इसलिए मैंने उसे कोई महत्त्व नहीं दिया। यहाँ तो इस बात का उल्लेख केवल यह बताने के लिए किया है कि जनता में कितनी श्रद्धा और शौर्य था और इन दोनों बातों के बहुत से लक्षण पाठक आगामी प्रकरणों में पढ़ेंगे।

उपर्युक्त विराट सभा के बाद कार्यकर्ता बैठे न रहे। स्थान स्थान पर सभायें की गयीं, और सब जगह सर्वानुमति से प्रतिज्ञायें की गयीं। अब 'इण्डियन ओपीनियन' की मुख्य चर्चा का विषय यह 'खूनी कानून' ही बन गया। उधर स्थानीय सरकार को मिलने के लिए भी प्रयत्न किये गये। उस विभाग के मुख्य सचिव के पास एक डेप्यूटेशन (शिष्टमण्डल) गया। प्रतिज्ञा की बात भी कही गयी। सेठ हाजी हबीब, जो इस डेप्यूटेशन में थे, बोले—"अगर मेरी औरत की अँगुलियों की छाप लेने के लिए कोई अधिकारी आवेगा तो मैं जरा भी अपने गुस्से

को काबू में न रख सकूँगा। उसे मैं वहीं जान से मार डालूँगा।" प्रधान सचिव थोड़ी देर तक सेठ हाजी हबीब के मुँह की ओर ताकते रह गये। उन्होंने कहा—"सरकार इस बात का विचार कर रही है कि यह कानून औरतों को लगाया जाय या नहीं? और यह तो मैं आपको अभी विश्वास दिला सकता हूँ कि औरतों से सम्बन्ध रखनेवाली तमाम धारायें वापिस ले ली जायेंगी। इस विषय में आपके भावों को सरकार समझ सकती है, और उनकी क़द्र भी करना चाहती है। पर अन्य धाराओं के विषय में तो मुझे दुःख के साथ यही कहना होगा कि सरकार दृढ़ है, और रहेगी। जनरल बोथा चाहते हैं कि आप फिर भी अच्छी तरह विचार करके उस कानून को मंजूर करें। गोरों के अस्तित्व के लिए सरकार उसे आवश्यक समझती है। कानून के मध्यवर्ती उद्देश को स्वीकार करते हुए यदि आप उसकी बारीकियों के विषय में कुछ सूचनायें करना चाहें तो सरकार उस पर जरूर गौर करेगी। और इस शिष्ट-मंडल से तो मैं यही सिफारिश करूँगा कि आपका इसीमें भला है कि आप कानून को स्वीकार कर लें और बारीकियों के विषय में भले ही सूचनायें करें।" प्रधान सचिव के साथ जो दलीलें हुईं वे सब मैं यहाँ नहीं लिखता क्योंकि वे सब पीछे दी जा चुकी हैं। दलीलें वही थीं, केवल उन्हें पेश करते हुए भाषा बदल दी गयी थी। आखिर सचिव से यह कहते हुए कि हमें दुःख है कि आपकी सिफारिश को हम लोग नहीं मान सकते,—हममें से कोई भी इस कानून को स्वीकार नहीं कर सकता तथापि सरकार के इस हेतु के लिए हम जरूर उसका अहसान मानते हैं कि वह स्त्रियों को इस कानून के बन्धन से मुक्त कर देना चाहती है,—शिष्ट-मण्डल ने विदा ली। अब यह कहना कठिन है कि स्त्रियों की

मुक्ति का कारण भारतीयों की हलचल है या स्वयं सरकार ने पुनः विचार करके मि० कर्टिस की शासनपद्धति को अस्वीकार करते हुए लौकिक व्यवहार को अधिक सम्मान दिया। सरकारी पक्ष का यह दावा था कि कौम की हलचल के कारण नहीं बल्कि स्वयं सरकार ही स्वतन्त्ररूप से उस निर्णय पर पहुँची थी। जो हो पर कौम ने तो 'काकतालीय न्याय' के अनुसार यही समझा कि यह उसके आन्दोलन का ही परिणाम था और स्वभावतः इससे आन्दोलन का रंग भी जमा।

हम में से कोई भी इस बात को नहीं जानते थे कि कौम के इस निश्चय अथवा आन्दोलन को किसी नाम से पुकारा जाय। उस समय मैंने इस आन्दोलन का नाम 'पैसिव रैजिस्टेन्स' रक्खा। मैं उस समय पैसिव रेजिस्टेन्स का महत्त्व भी न तो जानता था और न समझता ही था। मैं तो केवल यही जानता था कि एक नवीन वस्तु का जन्म हुआ है। पर जैसे-जैसे आन्दोलन बढ़ता गया वैसे-वैसे 'पैसिव रेजिस्टेंस' नाम से घोटाला होने लगा और इस महान् युद्ध को एक अंग्रेजी नाम से पुकारना भी मुझे लज्जाजनक मालूम हुआ। दूसरे कौम को यह शब्द जल्दी याद होने लायक भी न था। इसलिए इस युद्ध के लिए सर्वोत्कृष्ट नाम ढूँढनेवाले के लिए मैंने "इण्डियन ओपीनियन" में एक छोटे से इनाम की घोषणा की। उत्तर में कितने ही नाम आये। उस समय युद्ध के रहस्य की चर्चा "इण्डियन ओपीनियन" में अच्छी तरह हो चुकी थी। इसलिए उम्मीदवारों के लिए उस शब्द को ढूँढने के लिए प्रमाण की कोई कमी न थी। मगनलाल गांधी ने भी इस प्रतिस्पर्धा में भाग लिया था। उन्होंने 'सदाग्रह' नाम भेजा। इस शब्द को पसंद करने के लिए उन्होंने कारण बताते हुए लिखा था कि कौम का आन्दोलन एक भारी आग्रह

है। और यह आग्रह 'सद्' अर्थात् शुभ है। इसलिए उन्होंने इस नाम को इतना पसंद किया है। मैंने उनकी दलील का सार बहुत थोड़े में दिया है। मुझे यह नाम पसन्द तो आया तथापि मैं उसमें जिस वस्तु का समावेश करना चाहता था उसका समावेश उससे नहीं होता था। इसलिए मैंने उसके 'द्' को 'त्' बनाकर उसमें 'य' जोड दिया और 'सत्याग्रह' नाम तैयार कर लिया। सत्य के अन्दर शान्ति को समाविष्ट मानकर किसी भी वस्तु के लिए आग्रह किया जाय तो उसमें से बल उत्पन्न होता है। इस लिए "आग्रह" के द्वारा उसमें बल का भी समावेश करके भारतीय आन्दोलन का नामाभिधान-'सत्याग्रह' अर्थात् सत्य और शान्ति से उत्पन्न होनेवाला बल-करके उसका प्रयोग शुरू कर दिया। तब से इस युद्ध को "पैसिव रेजिस्टेन्स" नाम से पुकारना बन्द कर दिया और यहाँ तक कि अँग्रेजी लेखों में भी कई बार पैसिव रैजिस्टेन्स को छोड़कर सत्याग्रह अथवा उसी अर्थ के अन्य अँग्रेजी शब्द का प्रयोग शुरू कर दिया। 'सत्याग्रह' के नाम से पुकारी जानेवाली वस्तु का और सत्याग्रह का जन्म इस तरह हुआ। हमारे इतिहास को आगे बढ़ने के पहले पैसिव रैजिस्टेन्स और सत्याग्रह के बीच का भेद जान लेना अधिक आवश्यक है। इसलिए अगले प्रकरण में हम वह भेद समझ लेंगे।

(१२)

'सत्याग्रह' बनाम 'पैसिव रेजिस्टेन्स'

जैसे-जैसे आन्दोलन आगे बढ़ता चला वैसे-वैसे अंग्रेज भी उसमें रस लेने लगे। मुझे यह कह देना चाहिए कि यद्यपि ट्रान्सवाल के अंग्रेजी अखबार अक्सर उस खूनी कानून के पक्ष में ही लिखते और गोरों के विरोध का समर्थन करते थे, तथापि अगर कोई प्रख्यात भारतीय उनमें कोई लेख भेजते तो उसे वे खुशी से छापते थे। सरकार के पास भारतीयों की जो दरख्वास्तें जाती थीं उन्हें भी वे या तो पूरी छापते थे या उनका सार दे देते थे। बड़ी-बड़ी सभायें होती थीं। उनमें कभी-कभी वे अपने रिपोर्टर भी भेजते थे। और जहाँ ऐसा न हो वहाँ यदि सभा की रिपोर्ट हम लिखकर भेज देते और वह छोटी होती—तो उसे भी छाप देते थे।

गोरों का यह विवेक भारतीयों के लिए बहुत उपयोगी साबित हुआ। आन्दोलन के बढ़ते ही कितने ही गोरों का भी मन उसने आकर्षित कर लिया। इस श्रेणी के ऐसे गोरे अगुआ जोहान्सबर्ग के एक लखपति मि० हास्किन थे। उनमें रंगद्वेष का तो पहले ही से अभाव था। पर आन्दोलन शुरू होने पर भारतीयों की हलचल में उन्होंने अधिक दिलचस्पी दिखाई। जर्मिस्टन

नाम का जोहान्सबर्ग का एक उपनगर है। वहाँ के गोरे ने मेरा भाषण सुनने के लिए अपनी उत्सुकता प्रकट की। सभा की गयी। हास्किन अध्यक्ष थे और मैंने भाषण दिया। मि० हास्किन ने आन्दोलन और मेरा परिचय देते हुए कहा था:—"ट्रान्सवाल के भारतवासियों ने न्याय प्राप्ति के अन्य साधनों के निष्फल सिद्ध होने पर 'पैसिव रैजिस्टेन्स' को अख्तियार किया है। उन्हे मत देने का अधिकार नहीं है। उनकी संख्या छोटी है। वे कमजोर हैं। उनके पास हथियार नहीं है। इसलिए उन्होंने पैसिव रेजिस्टेन्स को—जो कि कमजोरों का हथियार है, ग्रहण किया है।" मैं यह सुनकर चौंक पड़ा। जो भाषण करने के लिए मैं गया था उसका स्वरूप बिल्कुल पलट गया। वहाँ मिस्टर हास्किन की दलीलों का विरोध करते हुए मैंने पैसिव रेजिस्टेन्स को 'सोलफोर्स' अर्थात् 'आत्मबल' का नाम दिया। इस सभा में मैंने यह देखा कि पैसिव रेजिस्टेन्स शब्द के प्रयोग से भयङ्कर गलतफहमी होने का अंदेशा है। उस सभा में मैंने जो दलीलें दी थीं उनमें उपर्युक्त भेद समझने के लिए जो कुछ अधिक कहने की आवश्यकता है उसे भी जोड़कर उन दोनों शक्तियों के अंतर्गत विरोध को समझाने का प्रयत्न करूंगा।

मैं यह तो नहीं जानता कि पैसिव रेजिस्टेन्स इन दो शब्दों का अंग्रेजी भाषा में पहले पहल प्रयोग किसने और कब किया। पर अंग्रेजी राष्ट्र में जब किसी छोटे समाज को कोई कानून पसंद न होता था तब वह उस कानून के खिलाफ बलवा करने के बदले उसका स्वीकार ही नहीं करता और इस कार्य के लिए उसे जो-जो सजायें होतीं उन्हे सह लेता था। अंग्रेजी में इसीको पैसिव रेजिस्टेन्स अर्थात् 'सौम्य प्रतिकार' कहा है। कुछ वर्ष पहले जब अंग्रेजी धारासभा ने शिक्षा कानून पास किया था उस

समय डा० क्लिफर्ड के नेतृत्व में इंग्लैंड के 'नान् कन्फार्मिस्ट' नामक ईसाई पक्ष ने पैसिव रेजिस्टेन्स को अख्तियार किया था। इंग्लैंड की औरतों ने मताधिकार के लिए जो जबर्दस्त आन्दोलन किया था उसे भी पैसिव रेजिस्टेन्स ही कहा जाता था। इन दो हलचलों को ध्यान में रखते हुए ही मि० हारकिन ने कहा था कि पैसिव रेजिस्टेन्स कमजोरों का अथवा उन लोगों का शस्त्र है जिन्हें मताधिकार न हो। डा० क्लिफर्ड के पक्ष को मताधिकार था पर उनकी संख्या सभा में इतनी कम थी कि वह उस कानून को रोकने में सफल न हुई। अर्थात् वह पक्ष संख्या में कमजोर साबित हुआ। यह बात नहीं थी कि अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह पक्ष शस्त्र-ग्रहण कदापि न करे। पर ऐसे कामों में अगर वह शस्त्र ग्रहण करता भी तो उस से कार्यसिद्धि नहीं हो सकती थी। सुव्यवस्थित राजतन्त्र में इस प्रकार एकदम बलवा करके हमेशा हक प्राप्त नहीं किये जा सकते। फिर डा० क्लिफर्ड के पक्ष के कितने ही ईसाई ऐसे थे जो सामान्य परिस्थिति में शस्त्रों का उपयोग हो भी सकता होता तो उसका विरोध करते औरतों के आन्दोलन में मताधिकार तो था ही नहीं। संख्या और शारीरिक दृष्टि से भी वे आखिर कमजोर थीं। अर्थात् यह उदाहरण भी मि० हाकिन्स की दलील का समर्थन ही कर रहा था। औरतों के आन्दोलन में शस्त्रों का त्याग नहीं किया गया था। उनमें से एक पक्ष ने तो कितने ही मकान जला दिये थे—पुरुषों पर हमले तक किये थे। मैं यह नहीं जानता कि उन्होंने किसी का खून करने का भी निश्चय किया था या नहीं, पर उनका हेतु यह तो जरूर था कि मौका मिलने पर मारपीट करना और इस तरह कुछ न कुछ उपद्रव खड़े करते रहना। इसके विपरीत भारतीयों के आन्दोलन में हथियारों के लिए तो कहीं भी और

किसी भी परिस्थिति में स्थान न था। और जैसे-जैसे हम आगे बढ़ेंगे वैसे-वैसे पाठक भी देखेंगे कि बड़े बड़े दुःख सत्याग्रहियों पर पड़े किन्तु उन्होंने कभी शरीर-बल का उपयोग नहीं किया, और वह भी ऐसे समय जब कि उसका सफलतापूर्वक उपयोग करने की उनमें शक्ति थी। दूसरे यद्यपि यह सत्य है कि भारतीयों को मताधिकार न था और वह कौम कमजोर भी थी, तथापि आन्दोलन की योजना के साथ इन दोनों बातों का कोई संबन्ध न था। इससे मेरे कहने का यह मतलब नहीं कि यदि भारतीयों को मताधिकार होता और उनके पास शस्त्रबल होता तो भी वे सत्याग्रह ही करते। मताधिकार होता तो प्रायः सत्याग्रह की कोई आवश्यकता ही न थी। केवल शस्त्रबल होता तो भी प्रतिपक्षी सँभलकर चलता। अर्थात् यह भी समझ में आने लायक बात है कि शस्त्र-बल के होते हुए भी किसी समाज में ऐसे प्रसंग आ सकते हैं जब सत्याग्रह से काम लेना पड़े। मेरे कहने का तात्पर्य तो केवल यही है और मैं निश्चयपूर्वक यह कह सकता हूँ कि भारतीयों के आन्दोलन की योजना करते हुए मेरे दिल में यह सवाल खड़ा ही न हुआ था कि हम शस्त्रबल का उपयोग कर सकते हैं या नहीं। सत्याग्रह केवल आत्मा का बल है। अतः जहाँ जितने अंश में शरीरबल या शस्त्र का उपयोग होता हो या उसकी आवश्यकता प्रतीत होती हो वहाँ और उतने ही अंश में आत्मबल का उपयोग कम होता है। मेरे मत में तो वे दोनों विरोधी शक्तियाँ हैं। यह विचार उस आन्दोलन के जन्म के समय भी मेरे हृदय में पूरी तरह पक्का हो गया था।

पर इस स्थान पर हमें यह निर्णय नहीं करना है कि ये विचार योग्य थे या अयोग्य। हमें तो यहाँ सिर्फ सत्याग्रह और पैसिव रेजिस्टेन्स के बीच का भेद मात्र जान लेना है। हम यह

भी देख चुके हैं कि मूलतः ही इन दो शक्तियों मे भारी भेद है। इसलिए इस भेद को बग़ैर समझे बूझे ही अपनेको पैसिव रेजिस्टेन्स और सत्याग्रही बनानेवाले दोनों एक दूसरे को आपस मे एक ही मानें तो दोनों के प्रति अन्याय होगा। हम स्वयं दक्षिण अफ्रीका में जब पैसिव रेजिस्टेन्स का शब्द का उपयोग करते थे तब ऐसे लोग तो बहुत थोड़े मिलते जो मताधिकार के लिए लड़ने वाली औरतों की बहादुरी और स्वार्थ-त्याग का हमपर आरोप करके हमें धन्यवाद देते, पर ऐसे बहुत थे जो हमें भी उन औरतों के जैसे जान-माल की हानि करनेवाले समझते। और मि० हाकिन्स जैसे उदार और निस्पृह मित्रों तक ने हमें कमजोर समझ लिया। विचारशक्ति का इतना भारी असर होता है कि आदमी अपने को जैसे मानता है वैसा वह हो भी जाता है। हम तो कमजोर हैं, इसलिए दूसरे उपाय के अभाव में हम पैसिव रेजिस्टेन्स का उपयोग कर रहे हैं, इस तरह अगर हम मानते रहें और दूसरों को भी समझते रहें तो हम कभी पैसिव रेजिस्टेन्स करके बलवान् नहीं हो सकते। बल्कि मौका मिलते ही हम इस कमजोरों के शस्त्र को छोड़ भी देंगे। इसके विपरीत यदि हम सत्याग्रही बनकर और अपने को बलवान् मानकर उस शक्ति का उपयोग करें तो उसके दो उत्तम फल होंगे। बल के ही विचार को पुष्ट करते-करते हम अधिकाधिक बलवान् होते हैं। और जैसे-जैसे हमारा बल बढ़ेगा वैसे ही वैसे हमारे सत्याग्रह का तेज भी बढ़ेगा। उस शक्ति को छोड़ने का मौका तो हमें कभी आवेगा ही नहीं। दूसरे, पैसिव रेजिस्टेन्स में प्रेमभाव के लिए स्थान नहीं, इसके विपरीत सत्याग्रह में वैरभाव के लिए स्थान नहीं। इतना ही नहीं बल्कि वैरभाव अधर्म माना जायगा। पैसिव रेजिस्टेन्स में मौका मिलने पर शस्त्र का उपयोग किया जा

सकता है। सत्याग्रह में शस्त्रबल के लिए बढ़िया से बढ़िया अवसर प्राप्त हों तो भी वह केवल त्याज्य ही है। पैसिव रेजिस्टेन्स को कई बार सशस्त्र बलवे की पूर्व तैयारी कहा जाता है। सत्याग्रह का उपयोग कभी इस तरह नहीं किया जा सकता पैसिव रेजिस्टेन्स शस्त्रबल के साथ-साथ चल सकता है। सत्याग्रह तो शस्त्रबल का कट्टर विरोधी है, अतएव इसका उसका कभी मेल हो नहीं सकता और इसलिए साथ-साथ नहीं चल सकते। सत्याग्रह का उपयोग अपने प्रियजनों के साथ भी हो सकता है और होता है। पर पैसिव रेजिस्टेन्स का उपयोग सच पूछा जाय तो प्रियजनों के साथ हो ही नहीं सकता। अर्थात् उनके साथ पैसिव रेजिस्टेन्स तभी हो सकता है जब हम उन्हें वैरी समझें, पैसिव रेजिस्टेन्स में प्रतिपक्षी को दुःख देने की, उसे सताने की कल्पना हमेशा मौजूद रहती है। और साथ ही यह करते हुए हमें जो कष्ट हो उन्हें सहने की तैयारी होती है। इसके विपरीत सत्याग्रह में विरोधी को दुःख पहुँचाने का खयाल तक न होना चाहिए। उसमें तो स्वयं कष्ट उठाकर, दुःख सहकर विरोधी को वश करने का खयाल ही रहता है।

इस प्रकार इन दो शक्तियों के बीच जो भेद है वह मैंने दिखा दिया। मेरे कहने का मतलब यह हर्गिज नहीं कि पैसिव रेजिस्टेन्स के गुण—अथवा दोष कहिए—मैं गिना चुका वे हर प्रकार के पैसिव रैजिस्टेन्स में अवश्य ही रहते हैं। पर पैसिव रेजिस्टेन्स के अनेक उदाहरणों में वे बताये जा सकते हैं। पाठकों को मुझे यहाँ पर यह भी कह देना चाहिए कि ईसाई लोग ईसा को पैसिव रेजिस्टेन्स का आदि नेता बताते हैं। पर वहाँ तो पैसिव रेजिस्टेन्स का अर्थ शुद्ध सत्याग्रह ही समझना चाहिए। इस अर्थ में ऐतिहासिक पैसिव रेजिस्टेन्स के बहुत से उदाहरण

नहीं मिलेंगे। रूस के जिस दूखोबोर का उल्लेख टालस्टाय ने किया है वह जरूर इसी प्रकार के पैसिव रेजिस्टेन्स का अर्थात सत्याग्रह का उदाहरण है। ईसा के बाद हजारों ईसाइयों ने जुल्म को बरदाश्त किया उस समय पैसिव रेजिस्टेन्स शब्द का प्रयोग तो नहीं होता था पर उनके जैसे जितने निर्मल उदाहरण उपलब्ध हैं उन्हें तो मैं सत्याग्रह ही कहूँगा। पर अगर इन्हें भी पैसिव रेजिस्टेन्स के नमूने ही हम समझें तब तो पैसिव रेजिस्टेन्स और सत्याग्रह के-बीच कोई भेद नहीं।

इस प्रकार का हेतु तो केवल यह बता देना है कि अंग्रेजी में साभान्यतः पैसिव रेजिस्टेन्स शब्द का प्रयोग जिस तरह होता है उससे सत्याग्रह की कल्पना बिल्कुल भिन्न है।

जिस प्रकार पैसिव रेजिस्टेन्स के लक्षण दिखाते समय उस शक्ति का उपयोग करनेवाले किसी भी व्यक्ति के साथ अन्याय न होने पावे इस खयाल से मुझे उपर्युक्त चेतावनी देनी पड़ी, ठीक उसी प्रकार सत्याग्रह के गुणों को गिनाते समय मुझे यह भी कह देना चाहिए कि मैं यह दावा नहीं करता कि जितने व्यक्ति अपने को सत्याग्रही बताते हैं उन सबमें उपर्युक्त सत्याग्रही के गुण अवश्य ही हैं। यह बात मेरे खयाल से बाहर नहीं है कि कितने ही सत्याग्रही सत्याग्रह के उपयुक्त गुणों से बिलकुल अपरिचित हैं। कितने ही यह मानते हैं कि सत्याग्रह कमजोर मनुष्यों का हथियार है। कितने ही मनुष्यों के मुँह से मैंने यह भी सुना है कि सत्याग्रह शस्त्रबल की पूर्व तैयारी है। पर मुझे फिर से यह कह देना चाहिए कि मैंने यह नहीं बताया कि सत्याग्रहियों में कौन-कौन से गुण पाये जाते हैं बल्कि यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि सत्याग्रह की कल्पना में क्या-क्या है, और तदनुसार सत्याग्रहियों को कैसे होना चाहिए। संक्षेप में कहना चाहूँ तो

इस अध्याय के लिखने का हेतु यह है कि ट्रान्सवाल के भारतवासियों ने जिस शक्ति का उपयोग किया उसका पाठकों को यथार्थ ज्ञान हो, दूसरे वह शक्ति पैसिव रेजिस्टेन्स के नाम से परिचित दूसरी शक्ति के साथ न मिला दी जाय इसलिए इस शक्ति का अर्थसूचक एक शब्द ढूंढना पड़ा ताकि यह मालूम हो जाय कि उसमें उस समय किन-किन वस्तुओं का समावेश किया गया था ?

(१४)

विलायत को डेप्यूटेशन

ट्रान्सवाल में 'खूनी कानून' के प्रतिकार के लिए जो-जो प्रयत्न करने थे वे सब किये जा चुके। धारासभा ने औरतों से सम्बन्ध रखनेवाली धारा कानून से हटा दी। शेष कानून प्रायः वैसे ही पास कर दिया गया जैसा कि प्रकाशित हुआ था। इस समय तो कौम में बहुत हिम्मत थी और उतना ही एका तथा मतैक्य भी था। इसलिए कोई निराश न हुआ। साथ ही यह निश्चय भी कायम रहा कि जितने वैध प्रयत्न हैं वे सब आजमा लिये जायें। इस समय ट्रान्सवाल क्राउन कालोनी था। क्राउन कालोनी से मतलब है सल्तनती संस्थान, जिसके कानून और व्यवहार के लिए सम्राट् सरकार उत्तरदायी है। मतलब यह कि जिन कानूनों को सल्तनती संस्थान की धारासभा पास करती है उनके लिए बादशाही सम्मति केवल आदर और व्यवहार के पालन के लिए ही नहीं ली जाती किन्तु अपने मन्त्री-मण्डल की सलाह से बादशाह उन कानूनों के लिए जो ब्रिटिशतंत्र के सिद्धान्त के खिलाफ हो अपनी सम्मति देने से इन्कार कर सकता है। ऐसा कई बार हो भी चुका है। इसके विपरीत उत्तरदायित्व-

पूर्ण शासन (रिस्पॉन्सिबल गवर्नमेण्ट) वाले संस्थानों की धारासभा जो-जो कानून पास करती है उनके लिए बादशाही सम्मति केवल विवेक दिखाने के लिए ही ली जाती है।

यह बताने का भार मेरे जिम्मे आया कि यदि डेप्यूटेशन इंग्लैंड भेजा जाय तो कौम को अपनी जिम्मेदारी और भी अधिक अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। इसलिए मैंने अपने मण्डल के सामने तीन-चार सूचनायें पेश कीं। एक तो यह कि यद्यपि उस नाट्यशालावाली सभा में प्रतिज्ञायें ले ली गयी थीं तथापि एक बार और प्रधान-प्रधान भारतवासियों से व्यक्तिगत प्रतिज्ञायें ले ली जायें। जिससे जनता में जरा भी कोई शंका उपस्थित हुई हो या कहीं कमजोरी ने घर किया हो तो फौरन मालूम होजाय। यह सुचना मैंने एक तो इसलिए की थी कि यदि डेप्यूटेशन सत्याग्रह के बल को लेकर जायगा तब तो निर्भय बनकर जावेगा और इंग्लैंड में भी कौम का निश्चय भारत के और अन्य संस्थानों के मन्त्रियों के सामने निर्भयतापूर्वक प्रकट कर दिया जाये। दूसरे, डेप्यूटेशन के खर्चे का प्रबन्ध पहले ही से हो जाना उचित है। और तीसरे, डेप्यूटेशन में कम से कम आदमी जायें। कई बार यह देखा गया है कि लोग यह समझते हैं कि जितने अधिक आदमी जायें उतना ही अधिक काम होता है। इसी बात को याद रखते हुए मैंने यह सूचना की। दूसरे मैंने इसके द्वारा यह बताना चाहा था कि डेप्यूटेशन में जानेवाले केवल अपने सन्मान के लिए नहीं बल्कि सेवा के लिए आवें। साथ ही खर्च भी बचाया जाय। यह व्यवहार दृष्टि भी याद रहे। मेरी तीनों सूचनायें मंजूर हो गयीं। दस्तखत भी ले लिये गये। बहुत-से दस्तखत हुए। पर उनमें भी मैंने यह देखा कि सभा में प्रतिज्ञा लेनेवालों में से कितने ही ऐसे थे जो अपने दस्तखत देते हुए

सकुचाते थे। एक बार प्रतिज्ञा लेने पर यदि पचास बार भी वही करना पड़े तो इसमें तो कदापि संकोच न होना चाहिए। यह होते हुए भी यह किसे अनुभव नहीं है कि मनुष्य प्रतिज्ञायें करने पर भी ढीले पड़ जाते हैं। अथवा मुँह से की गयी प्रतिज्ञा को कागज़ पर लिखते हुए हिचकिचाते हैं। रुपये भी हमारे अन्दाज़ के मुआफिक इकट्ठे हो गये। सबसे अधिक कठिनाई तो प्रतिनिधियों के चुनाव के बारे में हुई। मेरा नाम तो था ही। पर मेरे साथ कौन-कौन जावें। इस विचार में कमिटी को बहुत सा समय लग गया। कितनी ही रातें व्यर्थ नष्ट हुईं और समाजों में जो-जो बुराइयाँ देखी जाती हैं सबका पूरा-पूरा अनुभव हुआ कोई मुझे अकेला ही जाने के लिए कहते थे। वे कहते कि इसमें सबको सन्तोष रहेगा। पर मैंने इसके लिए साफ इन्कार कर दिया। सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि हिन्दू-मुसलमानों का सवाल दक्षिण अफ्रीका में नहीं था तथापि यह दावा तो कदापि नहीं किया जा सकता था कि दोनों कौमों के बीच जरा भी भेद न था और इस भेद ने कभी जहरीला स्वरूप धारण नहीं किया। इसका कारण कुछ अंश में वहाँ के विचित्र संयोग हो सकते हैं। पर इसका खास कारण तो यही था कि नेताओं ने एकनिष्ठा से निस्पृहतापूर्वक अपना काम करते हुए कौम को आगे बढ़ना था। मेरी सलाह यह थी कि मेरे साथ-साथ एक मुसलमान गृहस्थ तो होना ही चाहिए। और दो से अधिक आदमियों की आवश्यकता नहीं। पर हिन्दुओं की ओर से फौरन कहा गया कि मैं तो सारी कौम का प्रतिनिधि माना जाता हूँ अर्थात् हिन्दुओं की ओर से तो एक और प्रतिनिधि अवश्य होना चाहिय। कोई-कोई यह भी कहता है कि एक कोंकणी मुसलमानों की ओर से, एक मेमनों की तरफ से, और हिन्दुओं

में से एक किसानों की ओर से, एक अनाविलों की तरफ से प्रतिनिधि भेजे जावें। इस प्रकार हरएक जाति अपना अपना दावा पेश कर रही थीं, पर आखिर सभी समझ गये और जनाब हाजी वजीर अली और मैं एक मत से चुने गये।

हाजी वजीर आधे मलायी कहे जा सकते हैं। उनके पिता भारतीय मुसलमान थे और माता मलायी थीं। उनकी मादरी जबान को डच कह सकते हैं पर उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा भी यहाँ तक प्राप्त कर ली थी कि वे अंग्रेजी और डच दोनों अच्छी तरह बोल सकते थ। अँग्रेजी में भाषण करते वक्त उन्हें कहीं भी ठहरना नहीं पड़ता था। अखबारों में पत्र वगैरा लिखने की आदत भी उन्होंने कर ली थी। ट्रान्सवाल ब्रिटिश एसोसियेशन के वे मेम्बर थे। और बहुत दिन से सार्वजनिक हलचलों में भाग लेते आये थे। हिन्दुस्तानी भी अच्छी तरह बोल सकते थे। एक मलायी महिला के साथ उनका विवाह हुआ था और उससे उनकी प्रजा का बड़ा विस्तार था। विलायत पहुँचते ही हम अपने काम में लगे। मन्त्री को जो अर्जी देनी थी वह तो हमने स्टीमर में ही लिख डाली थी। उसे अब छपा ली। लार्ड ऐल्गिन सस्थाओं क मन्त्री थे। हम हिन्द के दादा से मिले। उनके द्वारा ब्रिटिश कमेटी से मिले। उन्हें हमने अपना सारा बयान सुनाया और कहा कि हम तो सब पक्षों को अपने साथ लेकर काम करना चाहते हैं। यही सलाह दादाभाई की भी थी और कमिटी को यही ठीक मालूम हुआ। इसी प्रकार हम मैंचेरजी भावनगरी से मिले। उन्होंने भी खूब सहायता की। इनकी तथा दादाभाई की यह सलाह थी कि लार्ड एल्गिन को मिलने के लिए डेप्यूटेशन जावे उस वक्त उनमें कोई तटस्थ तथा विख्यात ऐंग्लो इण्डियन भी शामिल हो जाय तो बड़ा अच्छा हो। सर मैंचेरजी

ने ही नाम भी सुझाये। उनमें सर लेपल ग्रीफीन का भी नाम था। पाठकों को याद होगा कि इस समय सर विल्सन हण्टर जीवित न थे। अगर वे होते तो दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों की स्थिति का जो प्रगाढ़ ज्ञान उन्हें था उसके कारण वे ही हमारे अगुआ होते, अथवा वे ही उमरावों में से किसी महान् नेता को हमारे लिए ढूंढ निकालते।

हम सर लेपल ग्रीफीन से मिले। उनकी राजनीति तो भारत की सार्वजनिक हलचलों की विरोधी ही थी। तथापि इस मसले के साथ उनको बडी दिलचस्पी हुई और केवल शिष्टाचार के लिए नहीं बल्कि न्यायदृष्टि से ही उन्होने अगुआ होना कुबूल किया। सब कागज पढ़े और इस प्रश्न से पूरा परिचय कर लिया। हम अन्य ऐंग्लो इण्डियनों से भी मिले, पार्लमेंट के अनेक सभ्यों से मिले और उन तमाम लोगों से मिले जिनका कुछ भी वहाँ प्रभाव था और जिन्हे हम मिल सकते थे। लार्ड एलिगन के पास डेप्यूटेशन गया। उन्होंने सभी बातें ध्यानपूर्वक सुन ली। अपनी हमदर्दी जाहिर की और साथ ही यह वचन भी दिया कि मुझसे जो कुछ बन पड़ेगा मैं अवश्य करूँगा। वही डेप्यूटेशन लार्ड मार्ले से भी मिला, उन्होंने भी अपनी सहानुभूति प्रकट की। उनके उद्‌गारों का सार मैं पीछे दे चुका हूँ। सर विलियम वेडरबर्न के प्रयत्नों के फलस्वरूप पार्लमेंट के उन सभ्यों की जोकि भारत के शासन से सम्बन्ध रखते थे एक सभा भी उसी भवन के एक दीवानखाने में की गयी। उसमें भी हमने अपना मामला यथाशक्ति पेश किया। उस समय आयरिश पक्ष के मुखिया मिस्टर रेडमंड थे। इसलिए हम उनसे खास तौर से मिलने के लिए गये थे। संक्षेप में पार्लमेंट के भी तमाम पक्ष के सभ्यों में से जिन-जिन से हम मिल सकते थे उनसे मिले।

इँग्लैंड में हमें काँग्रेस की ब्रिटिश कमेटी तो अवश्य ही बहुत सहायता कर रही थी। तथापि वहाँ के रीति-रिवाज के मुआफिक उसमें तो खास-खास मत और पक्ष के मनुष्य ही आ सकते थे। इसके अतिरिक्त ऐसे कितने ही लोग थे जो उसमें नहीं आये थे पर फिर भी हमें पूरी सहायता करते थे। हमें यह मालूम हुआ कि यदि इन सबको एकत्र करके इस काम में उन्हें लगा दिया जाय तो बहुत काम हो सकता है। इसलिए इस उद्देश से हमने एक स्थायी समिति की स्थापना करने का निश्चय किया। यह बात तमाम पक्ष के लोगों को बहुत पसन्द आयी।

हर एक संस्था का उत्कर्ष या अपकर्ष प्रायः उसके मन्त्री के ऊपर ही निर्भर रहता है। मन्त्री ऐसा होना चाहिए जिसका उस संस्था के हेतु पर न केवल पूरा-पूरा विश्वास हो बल्कि उसमें इतनी शक्ति भी होनी चाहिए कि वह उसकी सफलता के लिए अपना बहुत-सा समय दे सके और उसका काम करने की उसमें पूरी योग्यता हो। मि० रिच जो दक्षिण अफ्रीका में थे और जो मेरे ऑफिस में गुमाश्ते का काम कर चुके थे, तथा जो लंदन में उस समय बैरिस्टरी का अभ्यास कर रहे थे, ऐसे ही योग्य पुरुष थे। उनमें ये सब गुण थे। वह वहीं इंग्लैंड में थे और यह काम भी करना चाहते थे। इसलिए एक कमिटी बनाने की हम लोग हिम्मत भी कर सके।

इंग्लैंड में अथवा पश्चिम में कहिए मेरी समझ से यह एक असभ्य रिवाज चला आया है कि अच्छे-अच्छे कामों का मुहूर्त खाना खाते समय निश्चित किया जाता है। इंग्लैंड का प्रधान मन्त्री अपने वार्षिक शासन-कार्य का ब्योरा तथा आगामी वर्ष में किये जाने वाले कार्यों का विवरण तथा समस्त संसार का

ध्यान आकर्षित करनेवाला भाषण हर नवम्बर की नवीं तारीख के दिन बड़े-बड़े व्यापारियों के बीच में स्मिथ मैन्शन हाउस नामक भवन में देता है। लार्ड मेयर की ओर से मन्त्री-मण्डल वगैरा को निमन्त्रण भेजा जाता है और वहाँ भोजन के उपरात शराब की बोतलें खुलती हैं और अतिथि की तन्दुरुस्ती की इच्छा करते हुए वह पी जाती है। और इस शुभ अथवा अशुभ (सब अपनी दृष्टि के अनुसार उचित विशेषण ढूँढ लेंगे) कार्य के बीच भाषण भी होते हैं। इसमें बादशाही मन्त्री-मण्डल का टोस्ट (तन्दुरुस्ती का आशीर्वाद) भी शामिल होता है। इस टोस्ट के उत्तर में मैंने ऊपर प्रधान मन्त्री के जिस भाषण का जिक्र किया वह भाषण होता है। और सार्वजनिक कामों की ही तरह खानगी कामों में भी किसीके साथ कोई सलाह मशविरा करना हो तो उसे भोजन के लिए निमन्त्रण देने का रिवाज है और कभी भोजन करते समय अथवा कभी भोजनोपरात वह विषय छेड़ा जाता है। हमें भी कई बार इस रिवाज के वश होना पड़ा था। पर कोई भी पाठक यह कल्पना न कर बैठें कि हमने कहीं अपेय पिया हो या अखाद्य खाया हो। इस प्रकार हमने एक दिन सुबह भोजन समारंभ के निमन्त्रण भेजे और उसमें तमाम मुख्य सहायकों को निमन्त्रित किया। लगभग सौ निमन्त्रण भेजे गये थे। इस भोजन का मुख्य हेतु था सभी सहायकों का उपकार मानना और उनसे विदा माँगना। इसके साथ ही स्थायी कमिटी भी बना लेना चाहते थे। उस अवसर पर भी रिवाज के मुआफिक भोजन के बाद भाषण वगैरा हुए। कमिटी की स्थापना भी हुई। इससे भी हमारे आन्दोलन का अधिक प्रचार हुआ।

इस प्रकार पाँच-छः सप्ताह वहाँ रहकर हम लोग दक्षिण

अफ्रीका वापिस लौटे। मद्रिरा पहुँचते ही हमें मि० रिच का तार मिला कि लार्ड एल्गिन ने यह प्रकट किया है कि ट्रान्सवाल का एशियाटिक एक्ट नामन्जूर करने के लिए मन्त्री-मण्डल ने बादशाह से सिफारिश की है। फिर हमारे हर्ष का क्या ठिकाना। मदिरा से केपटाउन पहुँचते १४-१५ दिन लग जाते हैं। यह समय हमने बहुत आनन्द के साथ बिताया और भविष्य में अन्य दुःखों को दूर करने के लिए शेखचिल्ली के से हवाई क़िले बनाते रहे। पर दैवगति विचित्र है। हमारे किले कैसे गिरे—चूर-चूर हो गये इसका वृत्तांत हम अगले अध्यायों में देखेंगे।

पर यह अध्याय पूरा करने के पहले एक दो पवित्र स्मरणों को बगैर कहे नहीं रहा जा सकता। मुझे इतना तो जरूर ही कह देना चाहिए कि विलायत में हमने एक क्षण भी बेकाम नहीं जाने दिया। बहुत से गश्ती पत्र वगैरा भेजना तथा इसी प्रकार के अन्य सब काम एक आदमी से कभी नहीं बन सकते। उसमें बड़ी मदद की जरूरत होती है। बहुत सी सहायता तो ऐसी है जो पैसे खर्च करने पर मिल सकती है पर मेरा ४० साल का अनुभव यह है कि यह उतनी गहरी और फलशील नहीं होती जैसी कि शुद्ध स्वयंसेवकों की होती है। सौभाग्यवश हमें वहाँ ऐसी ही सहायता मिली थी। बहुत से भारतीय नौजवान जो वहाँ अध्ययन कर रहे थे वे हमारे आसपास बने रहते। और उनमें से कितने ही बिना किसी प्रकारके लोभ के सुबह-शाम हमें हमेशा सहायता करते रहते। पते लिखना, नकलें करना, टिकिट चिपकाना या डाक घर में जाना आदि। किसी भी काम के लिए मुझे यह याद नहीं आता कि उन्होंने यह कहा हो कि यह काम हमारे दर्जे को शोभा नहीं देता इसलिए हम नहीं कर सकते। पर इन सबको एक तरफ बैठा देनेवाला और मदद करनेवाला एक अंग्रेज मित्र

दक्षिण अफ्रीका में था। वह भारत में रह चुका था। इसका नाम था रिमंडज। अंग्रेजी में एक कहावत है जिसका अर्थ यह है कि जिन्हें परमात्मा चाहता है उन्हें वह जल्दी उठा लेता है। भर जवानी में इस परदुःखभंजन अंग्रेज को यमदूत ले गये। 'परदुःखभंजन' विशेषण किसी खास उद्देश्य से ही लगाया गया है। यह भला भाई जब बम्बई में था तब अर्थात् १८६७ में प्लेग के भारतीय बीमारों के बीच बेधड़क होकर उसने काम किया था और उनकी उसने सहायता की थी। छूत के रोग के रोगियों की सहायता करते समय मृत्यु से जरा भी न डरना यह भाव तो मानों उसके खून में भर दिया गया था। जाति अथवा रंगद्वेष उसे छू तक न गया था। उसका स्वभाव बड़ा ही स्वतंत्र था। उसने अपना एक सिद्धान्त बना रखा था कि माइनॉरिटी अर्थात् अल्पसंख्यकों के साथ ही हमेशा सत्य रहता है। इसी सिद्धान्त के अनुरूप वह जोहान्सबर्ग में मेरी ओर आकर्षित हुआ। वह कई बार विनोद में कहता कि याद रखिए आपका पक्ष बड़ा हुआ नहीं कि मैंने इसे छोड़ा नहीं, क्योंकि मैं यह माननेवाला हूँ कि बहुमत के हाथ में सत्य भी असत्य का रूप धारण कर लेता है। उसने बहुत कुछ पढ़ा था। जोहान्सबर्ग के एक करोडपति सर जॉर्ज फेरर का वह खास विश्वस्त मन्त्री था। शोर्टहैंड लिखने में बाँका था। विलायत में हम पहुँचे तब वह अनायास कहींसे आ मिला। मुझे तो उसके घरबार की कोई खबर नहीं थी। पर हम तो जनता के सेवक अर्थात् अखबारों की चर्चा के विषय ठहरे। इसलिए उस भले अंग्रेज ने हमें फौरन ढूंढ लिया और जो कुछ सहायता हो सकती थी वह करने की तैयारी बतायी। उसने कहा "अगर चपरासी का काम भी कहोगे तो जरूर करूँगा। पर यदि शार्टहैंड की आवश्यकता

हो तो आप जानते ही हैं कि मेरे जैसा कुशल लेखक आपको कभी नहीं मिल सकता।" हमें तो दोनों सहायताओं की आवश्यकता थी। और इस अंग्रेज ने रात-दिन एक भी पैसा न लेते हुए हमारा काम कर दिया, यह कहते हुए मैं लेश मात्र भी अतिशयोक्ति नहीं कर रहा हूँ। रात के बारह-बारह और एक-एक बजे तक तो वह, हमेशा टाइप-रायटर पर ही डटा रहता। समाचार पहुँचाना, डाकखाने जाना यह सब सिमडज करता और सब हँसते-हँसते। मुझे याद है कि इसकी मासिक आय लगभग ४५ पौंड थी। पर यह सब वह अपने मित्रों वगैरा की सहायता में लगा देता। उसकी उम्र उस समय क़रीब ३० साल की होगी। पर अब तक अविवाहित ही था। और आजीवन वैसे ही रहना भी चाहता था। मैंने इसे कुछ तो लेने के लिए बहुत आग्रह किया। पर उसने साफ इन्कार कर दिया। वह कहता कि "यदि मैं इस सेवा के लिए मजदूरी लूँ तो अपने धर्म से भ्रष्ट हो जाऊँ।" मुझे याद है कि आखिरी रात को हमें अपना काम समेटते, असबाब बाँधते करते सुबह के तीन बज गये थे। पर तबतक भी वह जागता ही रहा। हमें दूसरे दिन स्टीमर पर बैठा कर ही वह हमसे जुदा हुआ। वह वियोग बड़ा दुःखदायी था। मैंने तो यह कई बार अनुभव किया है कि 'परोपकार' केवल गेहुँए रंग के लोगों की ही विरासत नहीं है।

सार्वजनिक कार्य करनेवाले युवकों के लिए मैं यह भी यहाँ कह देता हूँ कि डेप्यूटेशन के खर्च का हिसाब हमने इतनी उत्तमता के साथ रक्खा था कि स्टीमर पर सोडावाटर पीने पर उसकी जो रसीद मिलती वह भी उतने पैसों के खर्च की निशानी—वाउचर के बतौर सावधानी के साथ रखली जाती थी। इसी प्रकार तारों की रसीदें भी रख ली जातीं। मुझे अबतक यह याद नहीं आता

कि कच्चे हिसाब में उस समय कहीं फुटकर खर्च के पैसे लिखे गये हों। आप तो समझ लीजिए कि थे ही नहीं। "याद नहीं" यह जोड़ने का कारण यही कि शाम को हिसाब लिखते समय दो चार पेनी या दो चार शिलिंग याद न रहे हों और फुटकर में लिख दिये हों तो नहीं कह सकता। इसलिए मैंने अपवाद के लिए "याद नहीं" इन शब्दों का प्रयोग किया है।

इस जीवन में एक यह बात मैंने अच्छी तरह समझ ली है कि जबसे हम होश सम्हालते हैं तबसे ट्रस्टी अथवा जवाबदेह बन जाते हैं। जबतक माता-पिता के साथ होते हैं तबतक वे जिस किसी कामको हमारे जिम्मे सौंपे या पैसे दें तो उनका हिसाब उन्हें अवश्य ही देना चाहिए। अगर वे विश्वास से न माँगें तो इससे हम उस उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो जाते। जब हम स्वतंत्र हो जाते हैं तब स्त्री-पुत्रादिकों के प्रति हम उत्तरदायी हो जाते हैं। अपनी कमाई के मालिक केवल हम नहीं हैं। वे भी उसके हिस्सेदार हैं। उनके लिए हमें पाई-पाई का हिसाब रखना चाहिए। फिर सार्वजनिक जीवन में आने के बाद क्या कहा जाय ? मैंने यह देखा है कि स्वयंसेवकों में यह एक आदत सी पड़ गयी है कि मानो वे उनपर सौंपे गये कार्य या पैसे का कच्चा हिसाब देने के लिए बाध्य नहीं हैं; क्योंकि वे मानते हैं कि अविश्वास के पात्र वे कभी हो ही नहीं सकते। यह तो घोर अज्ञान ही है। हिसाब रखने से विश्वास-अविश्वास का कोई संबंध ही नहीं है। हिसाब रखना यही स्वयं एक स्वतंत्र धर्म है। उसके बिना स्वयं हमें अपने काम को ही मलीन समझना चाहिए। और जिस संस्था के हम स्वयंसेवक हों उसके नेता अगर मिथ्या शिष्टाचार के वश होकर या उससे डरकर हमसे हिसाब न माँगें तो वे भी दोष के पात्र हैं। काम का और रुपयों का हिसाब

रखने का भार जितना तनख्वाह देनेवाले के सिर पर है उससे दूना खुद स्वयंसेवकों के ऊपर है, क्योंकि उसने तो अपने काम को ही तनख्वाह समझकर अपने सिर पर लिया है। यह बात बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है। और यह मैं मानता हूँ कि सामान्यतः इस बात की ओर अनेक संस्थाओं में यथोचित ध्यान नहीं दिया जाता। इसलिए मैंने इस अध्याय में इतना स्थान देने की हिम्मत की है।

वक्र राजनीति अथवा क्षणिक हर्ष

केपटाउन में उतरते ही और खासकर जोहान्सबर्ग पहुँचकर हमने देखा कि मदिरा में मिले हुए तार को हम जितना महत्त्व देते थे वास्तव में वह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं था। मि. रिच का उसमें कोई दोष न था। उन्होंने तो कानून को नामंजूर होने के विषय में जो कुछ सुना था वही तार से लिख भेजा था। हम ऊपर देख चुके हैं कि उस समय ट्रान्सवाल सल्तनती संस्थान था। ऐसे संस्थानों के राजदूत मन्त्री को अपने संस्थान की हालत से हमेशा परिचित रखने के लिए इंग्लैंड में रहते हैं। ट्रान्सवाल की ओर से सर रिचर्ड सालोमन दक्षिण अफ्रीका के ख्यातनामा वकील-राजदूत थे। उस "खूनी कानून" को नामंजूर करने का प्रस्ताव लार्ड एल्गिन ने सर रिचर्ड सालोमन की सलाह से ही किया था। सन् १६०७ की जनवरी की पहली तारीख से ट्रान्सवाल को उत्तरदायित्वपूर्ण शासन दिया जानेवाला था। इसलिए लार्ड एल्गिन ने सर रिचर्ड सालोमन को यह आश्वासन दिया कि यदि यही कानून उत्तर-दायित्वपूर्ण शासन की धारा-सभा में स्वीकृत हो जाय तो बड़ी सरकार उसे नामंजूर नहीं करेगी। पर जबतक ट्रान्सवाल

सल्तनती संस्थान रहेगा, तबतक ऐसे कानून के लिए सम्राट् सरकार जिम्मेदार मानी जाती है। और सम्राट् सरकार के शासन विधान में ऐसे भेद भरे कानूनों को स्थान नहीं दिया जाता। इसलिए इस सिद्धान्त के ख्याल से फिलहाल तो मुझे बादशाह को यही सलाह देनी चाहिए कि वह उसे नामंजूर कर दे।

सर रिचर्ड सालोमन को इस बात के लिए तिलमात्र भी आपत्ति नहीं थी, कि अभी नाममात्र के लिए कानून रद्द हो जाय और आगे चलकर गोरों का भी काम अनायास बन जाय और आपत्ति हो भी कैसे सकती है? इस राजनीति के लिए ऊपर मैंने वक्र विशेषण लगाया है पर यदि यथार्थतः इससे भी तीव्र विशेषण लगाया जाता तो मेरे ख्याल से उस राजनीति के संचालकों के प्रति कोई अन्याय न होता। सल्तनती संस्थान के कानूनों के लिए सम्राट् सरकार जिम्मेदार रहती है। उसके विधान में रंग और जातिभेद को स्थान नहीं है। ये दोनों बातें हैं तो बड़ी सुन्दर। यह बात भी समझ में आने योग्य है कि उत्तरदायित्व पूर्ण शासन वाले संस्थान जिन कानूनों को बनावें उन्हें सम्राट् सरकार एकाएक रद्द नहीं कर सकती। पर संस्थानों के राजदूतों के साथ छिपकर सलाह मशविरा करना, उन्हें पहले ही से सम्राट् सरकार के शासन-विधान के प्रतिकूल कानूनों को नामंजूर न करने का वचन देना, क्या इसमें जिनके सत्वों का अपहरण हो रहा हो, उनके साथ दग़ा और अन्याय नहीं होता है? सच पूछा जाय तो लार्ड एल्गिन ने अपने इस वचन द्वारा ट्रान्सवाल के गोरों को भारतीयों के खिलाफ अपनी हलचल शुरू रखने के लिए मानों उत्साहित ही किया। अगर ऐसा ही उन्हें करना था तो भारतीय प्रतिनिधियों

को साफ-साफ कह देना था। यथार्थतः देखा जाय तो उत्तरदायित्वपूर्ण शासन वाले संस्थानों के कानून के लिए भी सम्राट् सरकार अवश्य ही जिम्मेदार है। ब्रिटिश शासन-विधान के मूल सिद्धान्तों को उत्तरदायित्वपूर्ण शासन वाले संस्थानों को भी अवश्य ही मँजूर करना पड़ते हैं, जैसे कि किसी भी उत्तरदायित्वपूर्ण शासन रखनेवाले संस्थान की तरफ से कानूनन् गुलामी की प्रथा का पुनरुद्धार नहीं किया जा सकता है। अगर लार्ड एल्गिन ने खूनी कानून को अयोग्य समझकर ही रद किया हो—और वैसे समझकर ही रद किया जा सकता है—तो उनका यह स्पष्ट कर्त्तव्य था कि वे सर रिचर्ड सालोमन को बुलाकर यह कह देते कि ट्रान्सवाल को उत्तरदायित्वपूर्ण शासन मिलने पर वह कभी ऐसा अन्यायपूर्ण कानून न बनावें, और अगर उसका यही विचार हो कि वह तो ऐसे कानून बनावेगा तब तो उसको वह शासनसत्ता सौंपी जाय नहीं इस बात का सम्राट् सरकार को विचार करना पड़ेगा या उसे वह सत्ता केवल इसी शर्त पर दी जाय कि वह भारतीयो के स्वत्वो की रक्षा करें। यह न करते हुए लॉर्ड एल्गिन ने ऊपर से तो भारतीयों की हिमायत करने का ढोंग रचा और उसी समय भीतर से सच्ची-सच्ची सहायता ट्रान्सवाल सरकार की ही की। और जो कानून स्वयं रद किया उसीको फिर पास करने के लिए उन्हें उत्तेजित किया। ऐसी वक्र राजनीति का यह पहला ही या एकमात्र उदाहरण नहीं। जिसने ब्रिटिश शासन-प्रणाली का साधारण भी अध्ययन किया है वह और भी कितने ही ऐसे कानून बता सकता है।

इसलिए जोहान्सबर्ग में हमने केवल यही बात सुनी कि लार्ड एल्गिन ने और सम्राट् सरकार ने हमारे साथ धोखा किया। हमें तो मदिरा में जितना आनन्द हुआ था उतना ही दक्षिण अफ्रीका

में निराशा हुई। तथापि इस वक्रता का तात्कालिक परिणाम तो यह हुआ कि कौम में और भी जोश उत्पन्न हो गया। अब सभी कहने लग गये कि हमें क्या परवाह है? हम कब सम्राट् सरकार की सहायता के लिए ठहरने वाले हैं? हमें तो अपने बल पर और जिसके लिए प्रतिज्ञा की उस परमात्मा के आधार पर लड़ना है। और अगर हम सच्चे बने रहे तो वह टेढ़ी राजनीति भी सीधी हो जायगी।

ट्रान्सवाल में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की स्थापना हो गयी। उसका पहला कदम था बजट और दूसरा वही "खूनी कानून"। एक दो शब्दों को इधर उधर छोड़कर वह वैसा ही पास हुआ जो कि पहले बनाया गया था और पास हुआ था। इन शब्दों के रद्दोबदल का कानून की सख्ती के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था। वह तो जैसी थी वैसी ही रही। अर्थात् कानून का रद्द होना तो मात्र स्वप्न सृष्टि की बात रह गयी। भारतीयो ने रिवाज के अनुसार अर्जियाँ वगैरा तो कीं पर इनकी तूती की आवाज कौन सुनता? उस कानून के अनुसार नवीन परवाने लेने के लिए उसी साल के (१६०७) अगस्त की पहली तारीख का दिन निश्चित किया गया। इतनी लम्बी मीयाद रखने का कारण यह नहीं था कि भारतीयों के साथ कोई रियायत की जाय, बल्कि यह था कि शासन-विधान के अनुसार सम्राट् सरकार की भी सम्मति लेना बाक़ी था। उसके लिए अवश्य ही कुछ समय लगता। दूसरे उसके परिशिष्ट के अनुसार कई पत्रक, किताबें, परवाने वग़ैरा कई चीजें तैयार करवानी थीं। स्थान-स्थान पर परवानों के दफ्तर खोलना आदि काम के लिए भी कुछ समय की आवश्यकता थी। इन पाँच-छः महीनों का समय ट्रान्सवाल सरकार ने अपनी ही सुविधा के लिए दिया था।

अहमद मुहम्मद काछलिया

डेप्युटेशन जब विलायत जा रहा था तब दक्षिण अफ्रीका में रहे हुए एक अँग्रेज ने मेरे मुँह से ट्रान्सवाल के कानून की बात सुनी और साथ ही जब हमारा विलायत जाने का कारण भी सुना तब वह बोल उठा—"आप कुत्ते का पट्टा (डॉग्स कॉलर) पहनने से इन्कार करना चाहते हैं।" उस अंग्रेज ने ट्रान्सवाल के परवाने का यह नाम रक्खा था। यह बात तो मैं उस समय और उस घटना का उल्लेख करते समय अभी तक भी नहीं समझा कि उसने ये वचन अपने पट्टे के लिए खुश होकर तथा भारतीयों के प्रति तिरस्कार बताते हुए कहा था या उनकी अवस्था के प्रति सहानुभूति दिखाते हुए कहा था। तथापि इस सुनीति का अनुसरण करते हुए कि किसी भी मनुष्य के कहने का अर्थ इस तरह नहीं करना चाहिए कि जिससे उसके साथ कोई अन्याय हो, मैं उस अँग्रेज के शब्दों का अर्थ यही समझता हूँ कि उसने वे हमारी स्थिति का यथार्थ बोध देनेवाले शब्द हमारे साथ हमदर्दी दिखाने के लिए ही कहे

थे। एक ओर से ट्रान्सवाल सरकार हमें यह पट्टा पहनाने की कोशिश कर रही थी, दूसरी ओर से कौम इस बात की तैयारियाँ कर रही थी कि वह अपने निश्चय पर किस प्रकार कायम रह सकती है तथा वहाँ की सरकार की कुनीति का सामना कैसे किया जा सकता है। इँग्लैंड और भारत के मित्रों को पत्र वगैरा लिखकर वर्तमान परिस्थिति से परिचित रखने का काम तो जारी ही था। पर सत्याग्रह का युद्ध बाह्योपचारों पर बहुत कम निर्भर होता है। उसकी विजय भीतरी उपचारों पर ही निर्भर हुआ करती है। इससे कौम के तमाम अंग ताजे और तेज-तर्रार रहते हैं। नेताओं का समय इन उपायों में ही नष्ट होता था।

अब कौम के सामने एक महत्व का प्रश्न खड़ा होगया और वह यह कि सत्याग्रह का काम किस मण्डल के द्वारा लिया जाये? ट्रान्सवाल ब्रिटिश एसोसियेशन में तो बहुत से सदस्य थे। उसकी स्थापना के समय सत्याग्रह का जन्म भी नहीं हुआ था। उस मण्डल को एक नहीं अनेक कानूनों के साथ झगड़ना पड़ता था और अब भी झगड़ना था। इसके अतिरिक्त भी उसे कई सामाजिक और राजनैतिक काम करने थे। दूसरे, यह बात भी नहीं थी कि उस मण्डल के तमाम सभासदों ने प्रतिज्ञा ली हो। साथ ही उस मण्डल को अन्य बाहरी जिम्मेदारियों का भी खयाल रखना जरूरी था। फिर सत्याग्रह के आन्दोलन को ट्रान्सवाल सरकार राजद्रोही माने तो? साथ ही इस आन्दोलन का संचालन करनेवाली संस्थाओं को भी वह राजद्रोही ठहरा दे तो? इस संस्था के जो सदस्य सत्याग्रही न हों उनका क्या हो? सत्याग्रह के पहले से जिन्होंने उस संस्था को पैसे दे रक्खे हों उनके पैसे का क्या किया जायगा? इन सब बातों पर विचार

कर लेना जरूरी था। अन्त में सत्याग्रही का यह दृढ़ निश्चय था कि जो लोग अश्रद्धा, कमजोरी या अन्य किसी कारण से सत्याग्रह में सम्मिलित न हो सकें उनके प्रति वे द्वेषभाव न रक्खें यही नहीं, बल्कि उनके साथ जिस स्नेह भाव से अभी तक रहते आये हैं, उसमें कोई भी परिवर्तन न होने दिया जाये। और सत्याग्रह को छोड़कर अन्य हलचलों में उनसे मिल-जुलकर ही काम-काज किया जाय।

इन विचारों के कारण कौम इस निश्चय पर पहुँची कि किसी भी वर्तमान संस्था के द्वारा सत्याग्रह का संचालन न किया जाये। अन्य संस्थायें जितनी सहायता कर सकें करें, और सत्याग्रह को छोड़कर इस खूनी कानून के खिलाफ जितने उपायों का अवलम्बन किया जा सके वे करें। इसलिए "पेसिव रेजिस्टेन्स एसोसियेशन" अथवा 'सत्याग्रह-मण्डल' नामक एक नवीन संस्था की स्थापना सत्याग्रहियों ने की। अँग्रेजी नाम से पाठक इस बात का पता लगा सकते हैं कि जिस समय उपर्युक्त संस्था की स्थापना हुई उस समय तक 'सत्याग्रह' शब्द का जन्म नहीं हुआ था। जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे कौम को यह अनुभव होने लगा कि नवीन संस्था की स्थापना द्वारा हर प्रकार से उसे फायदा ही हुआ है और अगर ऐसा हम न करते तो शायद उस आन्दोलन को हानि ही पहुँचती। इस नवीन संस्था के सदस्य भी बहुत से लोग हुए और खुले हाथों से उन्होंने उसकी आर्थिक सहायता भी की।

मेरा अनुभव तो मुझसे यह कह रहा है कि कोई भी हलचल केवल धनाभाव से न तो गिरती, न अटकती या निस्तेज ही होती है। इसका मतलब यह नहीं कि कोई भी हलचल संसार में बिना रुपयों के ही चल सकती है। बल्कि उसका अर्थ यह जरूर

है कि जहाँ पर सच्चे संचालक होते हैं, वहाँ रुपया अपने आप चला आता है। इसके विपरीत मेरा यह भी अनुभव है कि जिस संस्था को खूब धन मिल जाता है उसकी अवनति उसी समय से शुरू हो जाती है इसलिए मेरे अनुभव से मैंने यह एक सिद्धान्त भी स्थिर कर लिया है कि बहुत-सा धन इकट्ठा करके उसके सूद से किसी सार्वजनिक संस्था का संचालन करना पाप है यह कहते हुए मेरी हिम्मत नहीं पड़ती, इसलिए अनुचित है यही कहता हूँ। सार्वजनिक सस्था का कोष तो जनता ही है। जहाँतक जनता चाहे तभी तक ऐसी संस्था को जीवित रहना चाहिए। कोष इकट्ठा करके उसके सूद पर चलनेवाली संस्थायें सार्वजनिक नहीं रहतीं। वे स्वतन्त्र और स्वामी बन जाती हैं। सार्वजनिक टीका-टिप्पणी के आगे वे सिर नहीं झुकातीं। सूद पर चलनेवाली कितनी ही साँसारिक तथा पारमार्थिक संस्थाओं में जो बुराइयाँ घुस बैठी हैं, उन्हें यहाँ पर लिखने की आवश्यकता नहीं। वह तो लगभग स्वयसिद्ध जैसी ही बात है।

फिर हम मूल विषय को लें। छोटी छोटी तुच्छ दलीलें तथा मामूली बातों पर नुक्ताचीनी करने का ठेका केवल वकीलों ने या अंग्रेजी पढ़े-लिखे सुधारकों ने नहीं ले रक्खा है। मैंने तो यह देखा है कि दक्षिण अफ्रीका के अपढ़ भारतीय भी बहुत सूक्ष्म दलील कर सकते हैं। कितनों ही ने यह दलील ढूंढी कि पहले खूनी कानून के रद्द होते ही थियेटर में ली गयी प्रतिज्ञायें भी रद्द हो गयीं। कमजोरी के कारण कितनों ही ने इस दलील का आश्रय लिया। यह नहीं कहा जा सकता कि दलील बिल्कुल ही व्यर्थ थी। पर जो लोग उस कानून का प्रतिकार समझकर नहीं, बल्कि उसके अन्दर छिपे हुए तत्त्व के खिलाफ लड़ रहे थे, उनपर तो यह दलील कोई असर नहीं कर सकती

थी। फिर भी बतौर सावधानी के और जनता में अधिक जाग्रति उत्पन्न करने के लिए और यह देखने के लिए भी कि जनता में अगर कुछ कमजोरी घुस गयी हो तो वह कितनी गहरी है फिर से प्रतिज्ञा लिवाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसीलिए स्थान स्थान पर सभायें भरकर लोगों को परिस्थिति समझायी गयी और फिरसे प्रतिज्ञा लिवायी गयी। पर कहीं भी यह देखने में नहीं आया कि जनता का उत्साह जरा भी कम हुआ है।

इधर जुलाई का महीना नजदीक आता जा रहा था। इसी समय ट्रान्सवाल की राजधानी प्रिटोरिया में एक विराट सभा करने का निश्चय हुआ था। अन्य शहरों से भी प्रतिनिधि निमन्त्रित किये गये थे। सभा प्रिटोरिया की मस्जिद के सामने के मैदान में करने का निश्चय हुआ था। सत्याग्रह शुरू होने पर तो इतने आदमी उसमें आने लगे कि मकानों के अन्दर सभायें करना हमारे लिए असम्भव हो गया। ट्रान्सवाल में भारतीयों की संख्या १३,००० से अधिक न होगी। उसमें से १०,००० तो जोहान्सबर्ग और प्रिटोरिया में ही बंट गये थे। इनमें से भी पांच हजार लोगों का सभा में आना यह एक ऐसी बात थी जो संसार के किसी भी हिस्से में बहुत बड़ी और अत्यन्त सन्तोषजनक कही जा सकती है। सार्वजनिक सत्याग्रह अन्य किसी शर्त पर लड़ा भी नहीं जा सकता। जिस युद्ध का मुख्य आधार केवल अपनी ही शक्ति है उसमें यदि उस विषय को सार्वजनिक शिक्षा न दी जा सके तब तो वह युद्ध चल ही नहीं सकता। इसलिए हमें कार्यकर्त्ताओं की इतनी उपस्थिति देखकर जरा भी आश्चर्य न होता था। हमने पहले ही से यह निश्चय कर लिया था कि सार्वजनिक सभायें मैदान में ही की जायें। इससे एक तो खर्च कुछ न लगता था और, दूसरे स्थानाभाव के कारण

किसी भी मनुष्य को निराश होकर वापिस नहीं लौटना पड़ता था। यहाँ पर यह भी कह देना आवश्यक है कि ये सभी सभायें प्रायः अत्यन्त शान्तिपूर्वक होती थीं। आनेवाले सभी ध्यान से सुनते थे। अगर कोई बहुत दूर खड़े रहते और उन्हें भाषण सुनाई न पड़ता तो वे जोर से बोलने के लिए सूचना कर देते थे। पाठकों को यह कहने की आवश्यकता तो नहीं होगी कि इन सभाओं में कुर्सी वगैरा की व्यवस्था बिल्कुल नहीं रक्खी जाती थी। सभी जमीन पर बैठते थे। केवल अध्यक्ष, वक्ता और दो-चार दूसरे आदमी अध्यक्ष के आस पास बैठ सकें इतना बड़ा मंच रक्खा जाता था। ऊपर एक छोटी सी मेज और दो चार कुर्सियाँ या स्टूल, बस।

प्रिटोरिया की इस सभा के अध्यक्ष एसोसिएशन की प्रिटोरिया शाखा के प्रधान सेठ तैयब हाजी खान मुहम्मद थे। खूनी कानून के अनुसार परवाना निकालने के दिन नजदीक आते जा रहे थे। भारतीयों में खूब उत्साह था पर फिर भी वे चिंतातुर थे। उसी प्रकार उधर जनरल बोथा और स्मट्स भी उनकी सरकार के पास अमोघ बल होते हुए भी चिंताग्रस्त हो रहे थे। एक सारी कौम पर बलप्रयोग करके उसे झुकाना, इसे तो कोई भी अच्छी बात नहीं समझ सकता। इसलिए जनरल बोथा ने मि० हास्किन को हमें समझाने के लिए इस सभा में भेजा। मि० हास्किन का परिचय मैं पिछले एक अध्याय में दे चुका हूँ। सभा ने उनका स्वागत किया। उन्होंने अपने भाषण में कहा—

"मैं आपका मित्र हूँ। आप यह जानते भी हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि आपके साथ मेरी सहानुभूति है। अगर मेरे बस की बात होती तो मैं आपकी माँग को मंजूर करा देता। पर यहाँ के सर्वसाधारण गोरे समाज के विरोध के विषय में

आपको आज नवीन चेतावनी देने की आवश्यकता नहीं है। आज मैं आपके पास जनरल बोथा का भेजा आ रहा हूँ। उन्होंने मुझे इस सभा में उनका संदेश सुनाने की आज्ञा की है। वे भारतीयों का सम्मान करते हैं। आपके भावों को समझते हैं। पर वे कहते हैं मैं लाचार हूँ। ट्रान्सवाल के सभी गोरे उस कानून को माँगते हैं। स्वयं मैं भी उसकी आवश्यकता देखता हूँ। ट्रान्सवाल सरकार की शक्ति से भारतीय भलीभाँति परिचित हैं। इस कानून में सम्राट् सरकार की भी सम्मति है। भारतीयों को जितना करना चाहिए था वे कर गुजरे और उन्होंने अपने स्वाभिमान की रक्षा की। पर जिस हालत में आपका विरोध सफल नहीं हुआ और कानून पास हो ही गया उस हालत में आपको चाहिए कि अब आप उसे मानें और अपनी वफादारी तथा शांतिप्रियता का परिचय दें। इस कानून के अनुसार जो धारायें बनायी गयी हैं उनमें अगर कोई छोटा सा फेरफार कराना हो और उसके विषय में कुछ कहना हो तो जनरल स्मट्स आपका कहना अवश्य ध्यान से सुनेंगे।"
इस प्रकार सन्देश सुनाकर मि० हास्किन ने कहा—'मैं भी आपको यही सलाह दूँगा कि आप जनरल बोथा के सन्देश को मान लें। मैं जानता हूँ कि ट्रान्सवाल की सरकार इस कानून के विषय में बड़ी दृढ़ है, उसका सामना करना मानों दीवाल से अपना सिर टकराना है। मैं चाहता हूँ कि आप उसका सामना करके बर्बाद न हों और व्यर्थ के कष्टों को निमन्त्रण न दें।"
इस भाषण के एक-एक अक्षर का अनुवाद करके कौम को समझा दिया गया। मैंने अपनी ओर से भी चेतावनी दे दी, और मि० हास्किन करतल ध्वनि के बीच वहाँ से बिदा हो गये।

भारतीयों के भाषण शुरू हुए। इस प्रकार के, और सच पूछा जाये तो इस इतिहास के नायक का परिचय तो मुझे अभी देना ही बाकी है। जो वक्ता खड़े हुए उनमें स्वर्गीय अहमद मुहम्मद काछलिया भी थे। उन्हें तो मैं एक मवक्किल और दुभाषिये की हैसियत से जानता था। वे अभीतक किसी आंदोलन में आगे होकर भाग नहीं लेते थे। उनका अँग्रेजी भाषा का ज्ञान काम चलाऊ था। पर अनुभव से उन्होंने उसे यहाँ तक बढ़ा लिया कि जब वे अँग्रेज वकीलों के यहाँ अपने मित्रों को ले जाते तब दुभाषिये का काम वे स्वयं ही करते थे। वैसे उनका पेशा दुभाषिये का नहीं था। यह काम तो वे बतौर मित्र के ही करते थे। पहले वे कपड़े की फेरी लगाते थे। बाद में उन्होंने अपने भाई के हिस्से में छोटे पैमाने पर व्यापार शुरू किया। वे सूरती 'मेमन थे। उनका जन्म सूरत जिले में हुआ था। सूरती मेमनों में उनकी खासी प्रतिष्ठा थी। गुजराती का ज्ञान भी मामूली ही था। हाँ, अनुभव से उन्होंने उसे खूब बढ़ा लिया था। पर उनकी बुद्धि इतनी तेज थी कि वे चाहे जिस बात को बड़ी आसानी से समझ लेते थे। मामलों की उलझन इस प्रकार स्पष्ट करते कि मैं तो कई बार चकित हो जाता। वकीलों के साथ कानूनी दलीलें करने में भी जरा न हिचकते थे। उनकी कई दलीलें तो ऐसी होती कि वकीलों को भी विचार करना पड़ता।

बहादुरी और एकनिष्ठा में उनसे बढ़कर आदमी मुझे न तो दक्षिण अफ्रीका में मिला और न भारत में। 'कौम के लिए उन्होंने अपने सर्वस्व की आहुति दे दी थी। उनके साथ जितनी बार मुझे काम पड़ा उन सब प्रसंगों पर मैंने उन्हें एक वचनी ही पाया। स्वयं चुस्त मुसलमान थे। सूरती मेमन-मसजिद

के मुतवल्लियों में वे भी एक थे । पर साथ ही वे हिन्दू और मुसलमानों के लिए समदर्शी थे। मुझे ऐसा एक भी प्रसंग याद नहीं आता कि जब उन्होंने धर्मान्ध बनकर हिन्दुओं के खिलाफ किसी बात की खींचातानी की हो। वे बिलकुल निडर और निष्पक्ष थे। इसलिए मौके पर हिन्दू और मुसलमानों को भी उनका दोष दिखाते समय उन्हें जरा भी संकोच न होता था। उनकी सादगी और निरभिमानता अनुकरणीय थी। उनके साथ मेरा जो बरसों का सम्बन्ध रहा, उससे मुझे यह दृढ़ विश्वास हो चुका है कि स्वर्गीय अहमद मुहम्मद काछलिया जैसा पुरुष कौम को फिर मिलना कठिन है।

प्रिटोरिया की सभा में बोलनेवालों में एक पुरुष यह भी थे। उन्होंने बहुत ही छोटा भाषण किया। वे बोले-'इस खूनी कानून को हरएक हिन्दुस्तानी जानता है। उसका अर्थ हम सब जानते हैं। मि० हास्किन का भाषण मैंने खूब ध्यान लगाकर सुना। आपने भी सुना। मुझपर तो उसका परिणाम यही हुआ है कि मैं अपनी प्रतिज्ञा पर और भी दृढ़ हो गया हूँ। ट्रान्सवाल सरकार की ताकत को हम जानते हैं। पर इस खूनी कानून से और अधिक किस बात का डर सरकार हमें बता सकती है? जेल भेजेगी, जायदाद बेंच देगी, हमें देश से बाहर कर देगी—फाँसी पर लटका देगी। यह सब हम बरदाश्त कर सकते हैं? पर इस कानून के आगे सिर नहीं झुका सकते। मैं देखता था कि यह सब बोलते हुए अहमद मुहम्मद काछलिया बड़े उत्तेजित होते जा रहे थे। उनका चेहरा लाल हो रहा था। सिर और गर्दन की रगें जोश के मारे बाहर उभड़ आयी थी। बदन काँप रहा था। अपने दाहिने हाथ की उँगलियाँ गर्दन पर रखकर वे गरजे—"मैं खुदा की कसम खाकर कहता हूँ कि मैं कत्ल हो जाऊँगा

पर इस कानून के आगे कभी अपना सर नहीं झुकाऊँगा। और मैं चाहता हूँ कि यह सभा भी यही निश्चय करे।" यह कहकर वह बैठ गये। जब उन्होंने गर्दन पर हाथ रक्खा तब मंच पर बैठे हुए कितने ही लोगोंके मुँह पर मुसकराहट दिखायी दी। मुझे याद है कि मैं भी उसमें था। जितने जोर के साथ काछलिया सेठ ने ये शब्द कहे थे उतना जोर अपनी कृति में वे दिखा सकेंगे या नहीं इस बात का मुझे जरा सन्देह था। पर जब-जब वह सन्देह-वाली बात मुझे याद आती है तो आज यह लिखते समय भी मुझे अपने ऊपर लज्जा मालूम होती है। इस महान् युद्ध में जिन बहुत से आदमियों ने अपनी प्रतिज्ञा का अक्षरशः पालन किया था, काछलिया सेठ उनमें अग्रगण्य थे। मैंने कभी उन्हें अपना रंग पलटते हुए नहीं देखा।

सभा ने तो इस भाषण का करतल-ध्वनि से स्वागत किया। मेरी अपेक्षा अन्य सभासद उन्हें इस समय बहुत अधिक जानते थे, क्योंकि उनमें से अधिकांश को इस 'गुदड़ी के लाल' से व्यक्तिगत परिचय भी था। वे जानते थे कि काछलिया जो करना चाहते हैं, वही करते हैं और जो कहते हैं उसे अवश्य ही पूरा करते हैं। और भी कई जोशीले भाषण हुए। काछलिया सेठ के भाषण को उनमें से इसीलिए छाँट लिया कि उनकी बाद की कृति से उनका यह भाषण भविष्यवाणी साबित हुआ। जोशीले भाषणों के करनेवाले सभी अन्त तक नहीं टिक सके। इस पुरुष-सिंह की मृत्यु अपने देश-भाइयों की सेवा करते-करते ही सन् १६१८ में (?) अर्थात् यह युद्ध खतम होने पर चार साल बाद, हुई।

उनका एक और स्मरण है। उसे और कहीं नहीं दिया जा सकता, इसलिए यहीं पर लिख देता हूँ। पाठक आगे चलकर

टॉल्स्टॉय फार्म का किस्सा पढ़ेंगे। उसमें सत्याग्रहियों के कुटुम्ब रहते थे। वहाँ आपने अपने पुत्रों को भी बतौर उदाहरण के तथा सादगी और जाति-सेवा का पाठ पढ़ने के लिए रक्खा था। और इसीको देखकर अन्य मुसलमान माता-पिताओं ने भी अपने बच्चे इस फार्म पर भेजे थे। जवान काछलिया का नाम अली था। उम्र १०-१२ साल की होगी। अली नम्र, चपल, सत्यवादी और सरल लड़का था। लड़ाई के बाद, पर काछलिया सेठ के पहले उसे भी फिरिश्ते खुदा के दरबार में ले गये। पर मुझे विश्वास है कि यदि वह भी जीता रहता तो अपने पिता की कीर्ति को और भी पल्लवित करता।

(१७)

पहली फूट

१९०७ का जुलाई का महीना बीत चला। परवाने जारी करने के दफ्तर खुले। कौमी हुक्म था कि हरएक दफ्तर पर खुले तौर पर पहरा दिया जाय अर्थात् इन दफ्तरों पर जानेवाले रास्तों पर स्वयंसेवक खड़े रहें और वे परवाना लेने के लिए जानेवाले लोगों को सावधान करें। हरएक स्वयंसेवक को एक प्रकार का विशेष चिह्न देकर यह अच्छी तरह समझा दिया गया था कि परवाना लेनेवाले किसी भी भारतीय के साथ वह असभ्यता का बर्ताव न करे। वह उसका नाम पूछे, अगर वह न बतावे तो स्वयंसेवक किसी प्रकार का बल-प्रयोग या असभ्य व्यवहार न करे। उस कानून से भारतीयों को हानि होती थी वह एक कागज पर छपा ली गयी थी और वे कागज प्रत्येक स्वयसेवक को देकर उसे कह दिया था कि वह एशियाटिक आफिस में जानेवाले हरएक भारतीय को एक-एक कागज दे दे और उसमें लिखी बातें भी समझा दे। स्वयंसेवक पुलिस से भी अदब के साथ बर्ताव करें। पुलिस गालियाँ दे, मारे, पीटे

तो उसे भी सह लें। अगर वह मार भी न सह सकता हो तो वहाँसे चल दे। अगर पुलिस पकड़े तो खुशी से अपनेको उसे सौंप दे। अगर कहीं जोहान्सबर्ग जैसी जगह हो तो स्वयं मुझे खबर करे। अन्य स्थानों पर अपने-अपने स्थानीय नेताओं को खबर करे, और वे जैसा कहें उसी प्रकार करे। हरएक टुकड़ी का एक-एक मुखिया था। आज्ञा यह थी कि मुखिया के हुक्म के अनुसार मातहत पहरेदार पहरा दें।

कौम के लिए इस किस्म का यह पहला ही अनुभव था। बारह साल से अधिक उम्रवाले व्यक्ति को ही पहरेदार चुना जाता था। इसलिए बारह से लेकर अठारह साल तक की उम्र-वाले कई लड़कों ने अपने नाम लिखाये थे। पर ऐसे व्यक्ति को कभी नहीं लिया जाता था, जिसे स्थानीय कार्यकर्ता न पहचानते हों। इतनी सावधानी लेने पर भी हरएक सभा में और अन्य रीति से भी लोगों से यह कह दिया गया था कि जो अपनी आर्थिक हानि का भय अथवा अन्य किसी कारण से परवाना लेना तो चाहते हों पर पहरों के भय के कारण ऐसा न कर सकते हों, उनके साथ नेता एक स्वयं-सेवक कर देंगे जो उन्हें ठेठ एशियाटिक आफिस मे छोड़ आवेगा, और उनका काम होते ही फिर उन्हें स्वयंसेवकों के पहरे के बाहर लाकर छोड़ देगा। कितनो ही ने इससे लाभ उठाया भी था। हरएक स्थान पर स्वयंसेवकों ने बड़ी ही उमंग के साथ काम किया। वे हमेशा अपने काम में तत्पर और जागरूक रहते। सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि पुलिस ने उन लोगों को अधिक सताया। जहाँ कहीं थोड़ी बहुत तकलीफ दी वहाँ स्वयंसेवकों ने उसे सह लिया।

इस काम में स्वयंसेवकों ने हास्य-विनोद से भी खूब काम किया। कभी-कभी तो इसमें पुलिस भी शरीक हो जाती।

स्वयंसेवक कई प्रकार के लटके और निर्दोष बात कहकर अपना दिल बहलाते थे। एक बार रास्ता रोकने का अपराध लगाकर उन्हें गिरफ्तार भी किया गया था। यहाँके सत्याग्रह में असहयोग शामिल नहीं था। अतएव यह कोई नियम न था कि अदालतों में अपना बचाव न किया जाय। फिर भी यह सामान्य नियम जरूर था कि कौम के धन से वकील करके कोई अपना बचाव न करे। अदालत में उन स्वयंसेवकों को निरपराध कहकर छोड़ दिया। इससे उनका उत्साह और भी बढ़ा।

इस प्रकार यद्यपि जो भारतीय परवाना लेना चाहते थे उनके साथ आम तौर से तथा स्वयं-सेवकों की ओर से भी किसी प्रकार का अविवेक या बलात्कार तो नहीं किया जाता था, फिर भी मुझे यह तो अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि इस युद्ध के कारण एक दूसरे प्रकार का भी दल खड़ा हो गया था। इस दल के लोग स्वयंसेवक नहीं बनते थे। पर वे गुप्त रूप से परवाना लेने-वालों को मारपीट की धमकियाँ देते एवं अन्य किसी तरह उनका नुकसान करते। यह तो दुःख की बात थी। इसकी खबर लगते ही फौरन उसे दबाने के लिए प्रयत्न किया गया। फलतः धमकियाँ शीघ्र ही लगभग अदृश्य हो गयीं, पर उनका बिल्कुल अंत नहीं हुआ। धमकियों का कुछ कुछ असर भी कायम रह गया, और मैंने देखा कि उतने ही परिमाण में युद्ध को हानि भी पहुँची। जिन्हें भय था, उन्होंने फौरन सरकार की सहायता माँगी और उन्हें यह मिली भी। इस प्रकार कौम में विष घुसा, और जो कमजोर थे वे और भी अधिक कमजोर बने। इससे विष और भी बढ़ा, क्योंकि कमजोरी का स्वाभाविक गुण है बदला लेना। धमकियों का असर उतना नहीं था। पर लोकमत, और स्वयंसेवकों की उप-

स्थिति के कारण परवाने लेनेवालों के नाम प्रकट होने का डर इन दो बातों का परिणाम बहुत गहरा हुआ। मैं ऐसे एक भी आदमी को नहीं जानता जो मानता हो कि खूनी कानून के सामने सिर झुकाना अच्छी बात है। जो लोग परवाने लेने के लिए गये थे केवल इसलिए गये कि वे कष्ट और आर्थिक नुकसान बरदाश्त नहीं कर सकते थे। इसलिए उन्हें वहाँ जाते शर्म भी मालूम होती थी।

अन्त में बड़े व्यापारवाले भारतीयों को एक तरफ से शर्म और दूसरी ओर से अपने व्यापार को हानि पहुँचने का डर इन दो कठिनाइयों में से बाहर निकलने का रास्ता कितने ही भारतीय अगुआओं ने ढूँढ ही तो निकाला। एशियाटिक आफिस में जाकर उन्होंने इस बात का प्रबन्ध कर दिया कि वहाँका एक अधिकारी रात के नौ दस बजे के बाद एक मकान पर जाकर उनको परवाने दे दे। उनको यह विश्वास था कि इस प्रबन्ध के कारण कितने ही समय तक लोगों को यह पता तक नहीं लगेगा कि फलाँ-फलाँ आदमियों ने खूनी कानून को मान लिया है। दूसरे, उन्होंने यह भी सोचा कि चूँकि वे अगुआ थे, इसलिए उन्हें देख-देखकर दूसरे भी कानून को मान लेंगे। इससे और कुछ नहीं तो कम से कम लज्जा का भार तो बँट जायगा। बाद में अगर पोल खुल गयी तो भी चिन्ता की बात नहीं।

पर स्वयंसेवकों का प्रबन्ध इतना अच्छा था कि पल-पल की खबर हम सबको मिल जाया करती थी। ठेठ एशियाटिक आफिस में भी तो एक ऐसा व्यक्ति अवश्य था जो सत्याग्रहियों को ऐसी खबरें फौरन भेज दिया करता। दूसरे, ऐसे भी कई लोग थे जो स्वयं तो कमजोर थे, पर यह नहीं देख सकते थे कि उनमें से बड़े-बड़े लोग इस कानून के सामने सर झुका दें। वे

यह सोचकर श्रद्धापूर्वक सत्याग्रहियों को खबर कर देते कि अगर वे लोग दृढ़ बने रहें तो वे भी रह सकेंगे। इस प्रकार एक बार इस दक्षता के कारण कौम को यह खबर फौरन मिल गयी कि रात को अमुक दुकान पर अमुक आदमी परवाने लेने वाले हैं। इसलिए ऐसे लोगों से मिलकर पहले हम लोगों ने उन्हें ठीक-ठीक तरह से समझ लेने का यत्न किया। उस दुकान पर पहरा भी लग गया। पर आखिर आदमी अपनी दुर्बलता को कहाँ तक दबा सकता है? रात के दस-ग्यारह बजे कितने ही मुखियाओं ने परवाने ले लिये। वीणा का संगीत विसवादी हो गया। दूसरे ही दिन कौम ने उनके नाम प्रकट कर दिये। पर लज्जा की भी हद होती है न। जब स्वार्थ का सवाल आ खड़ा होता है तब आदमी शर्म-वर्म सब भूल जाता है, और वह गिर पड़ता है। इस पहली फूट के कारण करीब पाँच सौ आदमियों ने परवाने लिये। कितने ही दिन तक तो परवाने लेने का काम खानगी मकानों में ही किया गया। पर जैसे-जैसे शर्म कम होती गयी वैसे-वैसे इन पाँच सौ में से कितने ही लोग खुले आम एशियाटिक आफिस में अपना नाम लिखाने के लिए जाने लगे।

पहला सत्याग्रही कैदी

बहुत-कुछ प्रयत्न करने पर भी जब एशियाटिक आफिस को ५०० से अधिक नाम नहीं मिल सके, तब अधिकारीगण इस निश्चय पर पहुँचे कि अब किसी को पकड़ना चाहिए। पाठक जर्मिस्टन नाम से परिचित हैं। वहाँ पर बहुत-से भारतीय रहते थे। उनमें रामसुन्दर नामक एक मनुष्य भी था। यह बड़ा वाचाल और बहादुर दीखता था। कुछ-कुछ श्लोक भी जानता था। उत्तरी भारत का रहनेवाला अर्थात् थोड़े-बहुत दोहे-चौपाई तो अवश्य ही उसे याद होने ही चाहिएं। और तिसपर पण्डित कहा जाता था। इसलिए वहाँ के लोगों में उसकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। उसने कई जगह भाषण भी दिये थे। भाषण काफी जोशीले होते थे। वहाँके कितने ही विघ्नसन्तोषी भारतीयों ने एशियाटिक आफिस में यह खबर पहुँचायी कि अगर रामसुन्दर पण्डित को गिरफ्तार कर लिया गया तो जर्मिस्टन के बहुत से भारतीय परवाना ले लेंगे। अधिकारीगण इस लालच को कदापि रोक नहीं सकते थे। रामसुन्दर पण्डित गिरफ्तार हुए। अपने ढङ्ग का यह पहला ही मामला था। इसलिए सरकार और

भारतीयों में भी बड़ी हलचल मच गयी। जिस रामसुन्दर पण्डित को केवल जर्मिस्टन के लोग ही जानते थे, उसे अब क्षण भर में सारे दक्षिण अफ्रीका के लोग जानने लग गये। एक महान् पुरुष का मामला चलते समय जिस प्रकार सबकी नजर वहीं दौड़ती है ठीक उसी तरह रामसुन्दर पण्डित की ओर सबका ध्यान आकृष्ट हुआ। शांति-रक्षा के लिए किसी प्रकार की तैयारी करने की आवश्यकता नहीं थी। तथापि सरकार ने अपनी ओर से वह इन्तजाम भी कर लिया था। अदालत में भी रामसुन्दर का वैसा ही आदर-सत्कार किया गया जैसा कि कौम के प्रतिनिधि और एक असामान्य अपराधी का होना चाहिए था। अदालत उत्सुक भारतीयों से खचाखच भर गयी थी। रामसुन्दर को एक महीने की सादी कैद की सजा हुई। उसे जोहान्सबर्ग की जेल में रक्खा गया। उसको यूरोपियन वार्ड मे अलग एक कमरा दिया गया था। उससे मिलने-जुलने में जरा भी कठिनाई नहीं होती थी उसका खाना बाहर से भेजा जाता था और भारतीय उसके लिए नित्य नये अच्छे-अच्छे पकवान पकाकर भेजते थे। वह जिस बात की इच्छा करता, वह फौरन ही पूरी कर दी जाती। कौम ने उसका जेल-दिन बड़ी धूमधाम से मनाया। कोई हताश नहीं हुआ। उत्साह और भी बढ गया। सैकड़ों जेल जाने के लिए तैयार थे। एशियाटिक आफिस की आशा सफल न हुई। जर्मिस्टन के भारतीय भी परवाना लेने के लिए नहीं गये। इस सजा का फायदा कौम को ही हुआ। महीना खतम हुआ। रामसुन्दर छूटे, और उन्हें बड़ी धूम-धाम से गाजे-बाजे के साथ जुलूस बना कर सभास्थान पर ले गये। कई उत्साहप्रद भाषण हुए। रामसुन्दर को फूलों से ढँक दिया। स्वयंसेवकों ने उनके सत्कार में उनकी दावत की। सैकड़ों भारतीय अपने मन में कहने लगे

कि "अरे, हम भी गिरफ्तार हो जाते तो कितना आनंद आता !" और रामसुन्दर पण्डित से मधुर ईर्षा करने लगे।

पर रामसुन्दर कड़वी बादाम साबित हुए। उनका जोश झूठी सती का सा था। एक महीने के पहले तो जेल से निकल ही नहीं सकते थे, क्योंकि वे अनायास पकड़े गये थे। जेल में उन्होंने इतना ऐशोआराम किया कि बाहर से भी अधिक। फिर भी स्वच्छन्दी और व्यसनी आदमी जेल के एकांतवास को और अनेक प्रकार के खान-पान के होते हुए भी वहाँके संयम को कदापि बर्दाश्त नहीं कर सकता। यही हाल रामसुन्दर पण्डित का हुआ। कौम और अधिकारियों से मनमानी सेवा लेने पर भी उन्हें जेल कड़वी मालूम हुई और उन्होंने ट्रान्सवाल और युद्ध दोनों को अन्तिम नमस्कार करके अपना रास्ता लिया। हरएक कौम में खिलाड़ी तो रहते ही हैं। वही हाल युद्धों का भी होता है। लोग रामसुन्दर को अच्छी तरह जानते थे। तथापि ऐसे भी आदमी कभी-कभी काम देते हैं, यह समझकर उन्होंने रामसुन्दर का छिपा हुआ इतिहास उसकी पोल खुलने पर भी कई दिनों तक नहीं सुनाया था। पीछे से मुझे मालूम हुआ कि रामसुन्दर तो अपना गिरमिट पूरा किये बिना ही भागा हुआ गिरमिटिये था। उसके गिरमिटिया होने की बात को मैं घृणा से नहीं लिख रहा हूँ। गिरमिटिया होना कोई ऐब नहीं है। पाठक आगे चलकर देखेंगे कि युद्ध की सच्ची शोभा बढ़ानेवाले तो गिरमिटिये ही थे। युद्ध की जीत में भी उन्हीं का सबसे बड़ा हिस्सा था। पर गिरमिट से भाग निकलना अवश्य ही एक दोष है।

रामसुन्दर का यह इतिहास मैंने उसका ऐब बताने के हेतु से नहीं, बल्कि उसमें जो रहस्य है वह दिखाने के हेतु से लिखा है। हर एक पवित्र आन्दोलन या युद्ध के संचालकों को चाहिए

कि वे शुद्ध मनुष्यों को ही उसमें शामिल करें। तथापि आदमी कितना ही सावधान क्यों न हो अशुद्ध मनुष्य को बिलकुल रोक देना असम्भव है। फिर भी यदि संचालक निडर और सच्चे हों तो अज्ञानत. अशुद्ध आदमियों के घुस आने पर भी युद्ध को अन्त में नुकसान नहीं पहुँच सकता। रामसुन्दर पण्डित की पोल खुलते ही उसकी कोई कीमत नहीं रही। वह तो बेचारा अब रामसुन्दर पण्डित नहीं कोरा रामसुन्दर ही रह गया। कौम उसे भूल गयी। पर युद्ध को तो उससे शक्ति ही मिली। युद्ध के लिए मिली हुई जेल बट्टे-खाते नहीं गयी। उसके जेल जाने से कौम में जो नवीन शक्ति आयी वह तो कायम ही रही। बल्कि उसके उदाहरण का भी यही असर हुआ कि अन्य कितने ही कमजोर आदमी अपने आप युद्ध से अलग हो गये। और भी कितने ही ऐसे उदाहरण हुए। पर मैं यहाँपर उन सबका इतिहास देना नहीं चाहता, क्योंकि उससे कोई फायदा नहीं है। कौम की मजबूती या कमजोरी पाठकों से छिपी नहीं रह सकती। इसलिए यहाँपर मैं यह भी कह देना चाहता हूँ रामसुन्दर जैसे केवल वे ही नहीं थे। पर मैंने तो यह देखा कि सभी रामसुन्दरों ने आन्दोलन की सेवा ही की।

पाठक रामसुन्दर को दोष न दें। इस संसार में मनुष्यमात्र अपूर्ण है। जब हम किसी मनुष्य में अधिक अपूर्णता देखते हैं, तब हम उसकी ओर अँगुली दिखाते हैं। पर सच पूछा जाय तो यह भूल है। रामसुन्दर जानबूझ कर दुर्बल नहीं बना था। मनुष्य अपने स्वभाव की स्थिति को बदल सकता है उसको अपने वश में कुछ हद तक कर सकता है पर उसे जड़ से कौन बदल सकता है? जगत्कर्त्ता ने मनुष्य को यह स्वतन्त्रता नहीं दे रक्खी है। शेर अगर अपने चमड़े की विचित्रता को बदल सकता हो

तो मनुष्य भी अपने स्वभाव की विचित्रता को बदल सकता है। हमें यह कैसे मालूम हो सकता है कि भाग निकलने के बाद रामसुन्दर को कितना पश्चाताप हुआ? अथवा क्या उसका भाग निकलना ही पश्चाताप का एक दृढ़ प्रमाण नहीं माना जा सकता? अगर वह बेशर्म होता तो उसे भागने की क्या पड़ी थी? परवाना लेकर खूनी कानून के अनुसार वह हमेशा जेल-मुक्त रह सकता था। यही नहीं बल्कि वह चाहता तो एशियाटिक आफिस का दलाल बनकर दूसरों को धोखा दे सकता था और सरकार का प्रिय बन सकता था। यह सब न करते हुए अपनी कमजोरी कौम को बताने में वह शरमाया और उसने अपना मुँह छिपा लिया। अपने इस कार्य के द्वारा भी उसने कौम की सेवा ही की, ऐसा उदार अर्थ हम क्यों न लगावें?

'इंडियन ओपीनियन'

सत्याग्रह-युद्ध के भीतरी और वाहरी दोनों साधनों को पाठकों के सामने रख देना चाहिए। इसलिए 'इंडियन ओपीनियन' नामक जो अखबार दक्षिण अफ्रीका में अबतक निकल रहा है; उसका परिचय भी पाठकों को करा देना आवश्यक है। दक्षिण अफ्रीका में पहला छापाखाना स्थापित करने का यश मदनजीत व्यावहारिक नामक एक गुजराती गृहस्थ को है। कुछ साल तक उन्होंने बड़ी कठिनाई से इस छापाखाने को चलाया और बाद यह स्थिर किया कि वहाँ से कोई सामयिक पत्र निकाला जाय। इसपर उन्होंने स्वर्गीय मनसुखलाल नाजर की और मेरी सलाह ली। पत्र डर्बन से निकाला गया। श्री मनसुखलाल नाजर उसके अवैतनिक संपादक हुए। पर पत्र में पहले ही से घटी आने लगी। अन्त में यह तय हुआ कि उसमें कामकरने वालों को भागीदार अथवा बतौर भागीदार बनाकर एक खेत खरीदा जाय और उन लोगों को वहाँ बसाकर वहीं 'इंडीयन ओपीनियन' निकाला जाय। यह खेत डर्बन से १३ मील की दूरी पर एक सुन्दर टेकड़ी पर है।

सबसे नजदीकी स्टेशन 'फिनिक्स' वहांसे ३ मील पर है। पत्र का नाम पहले ही से 'इंडियन ओपीनियन' है। एक समय वह अंग्रेजी, गुजराती, तामिल और हिन्दी में प्रकाशित होता था। पर तामिल और हिन्दी भी भारप्रद मालूम होने लगी। दूसरे, इन दोनों भाषाओं के ऐसे लेखक नहीं मिलते थे, जो खेत पर रह सकें और न उन लेखों पर कोई अंकुश ही रह सकता था। इसलिए दोनों भाषाओं को बन्द करके केवल अंग्रेजी और गुजराती विभाग ही कायम रक्खा गया। सत्याग्रह के आरम्भ के समय पत्र इसी प्रकार चल रहा था। संस्था में गुजराती, हिन्दुस्तानी, तामिल और अंग्रेजी सभी थे। मनसुखलाल नाजर की अकाल मृत्यु के बाद एक अंग्रेज मित्र हर्बर्ट किचन उसके सम्पादक हुए। उनके बाद कुछ समय तक स्वर्गीय जोसेफ डोक नामक एक पादरी सज्जन रहे। बाद हेनरी पोलक तो बरसों तक उसके सम्पादक रहे। इस अखबार के द्वारा कौम को सप्ताह की सभी खबरें दी जा सकती थी। जो भारतीय गुजराती नहीं जानते थे, उन्हें अंग्रेजी विभाग द्वारा आन्दोलन की कुछ-कुछ शिक्षा मिल जाया करती थी। और भारत, इंग्लैंड तथा दक्षिण अफ्रीका के अंग्रेजों के लिए तो 'इंडियन ओपीनियन' एक साप्ताहिक समाचार पत्र का काम देता था। मैं यह मानता हूँ कि युद्ध की हस्ती आंतरिक बल पर स्थित है। वह बिना अखबार के भी लड़ा जा सकता है। पर साथ ही मेरा यह भी अनुभव है कि 'इण्डियन ओपीनियन' के कारण जो सुविधायें पैदा हो गयी, कौम को अनायास जो शिक्षा दी जा सकी, दुनिया के तमाम हिस्सों में बसनेवाले भारतीयों के पास जो समाचार फैलाये जा सकें, वे अन्य किसी प्रकार शायद नहीं किये जा सकते थे। इसलिए यह तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है

कि युद्ध के साधनों में 'इण्डियन ओपीनियन' भी एक बड़ा उपयोगी और प्रबल साधन था।

युद्ध की प्रगति तथा अनुभव ज्ञान के कारण कौम में जैसे-जैसे परिवर्तन होते गये, ठीक उसी प्रकार 'इण्डियन ओपीनियन' में भी हुए। इस पत्र मे पहले विज्ञापन लिये जाते थे। छापाखाने में बाहर की छपाई का काम भी किया जाता था। मैंने देखा कि इन दोनों कामों में अच्छे-से-अच्छे आदमियों को रुके रहना पड़ता है। हमेशा ऐसे भी धर्मसंकट पैदा होते कि यदि विज्ञापन लेना ही है तो कौन-से लिये जावें और कौन-से न लिये जावें। फिर यदि यह तय हो कि अमुक विज्ञापन न लिया जाय पर विज्ञापनदाता कौम का कोई अगुआ हो तो इस डर से कि उसका दिल न दुःख जाय विज्ञापन जबरदस्ती लेना पड़ता था। इस विभाग के बन्दोबस्त के लिए भी एक अच्छे से अच्छे आदमी को अपना समय खराब करना पड़ता, खुशामदें करनी पड़तीं, सो अलग ही। दूसरे यह भी खयाल हुआ कि पत्र यदि धन के लिए नहीं बल्कि कौम की सेवा के लिए ही चलाया जा रहा है, तो वह सेवा जबर्दस्ती से नहीं बल्कि उसकी इच्छानुसार ही होनी चाहिए। कौम की इस इच्छा का सबूत तो यही हो सकता है कि जितनी घटी हो रही है उसे वह अच्छी संख्या में ग्राहक होकर दूर करदे। तीसरे, यह भी विचार किया कि पत्र का खर्च निकालने के उद्देश्य से थोड़े से व्यापारियों के सेवाभाव को जाग्रत करके पत्र में अपना विज्ञापन देने के लिए समझाने की अपेक्षा जनता को पत्र के ग्राहक होने के लिए समझाना जनता और अगुआओं के लिए भी बड़ी हितकर शिक्षा होगी। विचार स्थिर होते ही फौरन उसपर अमल करना भी शुरू किया। फल यह हुआ कि जो लोग विज्ञापन के झंझट में पड़े हुए थे

वे ही अब अखबार को अच्छा बनाने के उद्योग में लगे । कौम फौरन समझ गयी कि 'इण्डियन ओपीनियन' तो उसका पत्र है और उसे चलाने की जिम्मेदारी भी उसीके सिर पर है। हम सब कार्यकर्ता निश्चिन्त हो गये। कौम अगर पत्र माँगे तो अब केवल उसके लिए पूरी-पूरी मेहनत करने की चिन्ता ही हमें करनी थी। हर किसी भारतीय का हाथ पकड़ कर उसे 'इंडियन ओपीनियन' लेने के लिए कहने में हमारे लिए अब किसी सोच-विचार की जरूरत न रही। बल्कि अब तो यह करना हम अपना धर्म समझने लग गये। 'इण्डियन ओपीनियन' का आंतरिक बल और स्वरूप भी बदल गया। वह एक महाशक्ति बन गया। उसकी साधारण ग्राहक-संख्या १२००—१५०० तक थी। पर वह अब दिन-ब-दिन बढ़ने लगी। उसका वार्षिक चन्दा बढ़ाना पड़ा था। तथापि जब लड़ाई ने उग्र रूप धारण किया उस समय ३५०० तक ग्राहक संख्या बढ़ गयी। उसका पाठक वर्ग २०००० से अधिक न होगा। पर उसमें भी ३००० से अधिक प्रतियों का बिकना आश्चर्यजनक प्रचार कहा जा सकता है। कौम ने उस समय इस पत्र को यहाँ तक अपना लिया था कि यदि जोहान्सबर्ग में वह नियत समय पर न पहुंच पाता तो मुझ पर शिकायतों की झड़ी लग जाती। वह प्रायः रविवार की सुबह को जोहान्सबर्ग पहुँच जाता था। मुझे याद है कि पत्र पहुँचते ही कितने ही लोग अपना काम अलग रखकर पहले उसका गुजराती विभाग पढ़ जाते। एक मनुष्य पढ़ता और पाँच पचीस आदमी उसके आसपास बैठ कर सुनते। हम लोग गरीब ठहरे, इसलिए कितने ही लोग इस पत्र को आपस में चन्दा करके भी मँगाते थे।

प्रेस में बाहर का काम न लेने के विषय में भी मैं

लिख चुका हूँ। उसे बन्द करने के कारण भी प्रायः वे ही थे जो विज्ञापनों के लिए बताये गये हैं। बाहर की छपाई का काम बन्द करने पर कम्पोजीटरो का जो समय बचा उसे हमने पुस्तक प्रकाशित करने की ओर लगाया। कौम इस बात को जानती थी कि इसमे हमारा हेतु धन-संचय कदापि न था। पुस्तकें बतौर युद्ध की सहायता के ही छापी जाती थीं इसलिए उनकी भी अच्छी बिक्री होती थी। इस प्रकार पत्र और प्रेस दोनो ने युद्ध मे अपना काम किया। और जैसे-जैसे कौम मे सत्याग्रह की जड जमती गयी, ठीक उसी परिमाण में सत्याग्रह की दृष्टि से पत्र और छापाखाने में भी प्रगति होती जा रही है यह स्पष्टतया मालूम हो सकता था।

पकड़-धकड़

यह हम देख चुके कि रामसुन्दर की गिरफ्तारी से सरकार को जरा भी फायदा नहीं हुआ। इधर कौम का उत्साह दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ता जा रहा था। अधिकारी गण यह देखकर दंग रह गये। एशियाटिक विभाग के अधिकारी तो अवश्य ही 'इण्डियन ओपीनियन' के लेख ध्यान पूर्वक पढ़ते थे। युद्ध के विषय की एक भी बात छिपायी नहीं जाती थी। कौम की शक्ति, दुर्बलता वगैरा सब कुछ शत्रु, मित्र, और तटस्थ जो कोई भी जानना चाहता था अखबार पर से जान सकता था। अधिकारी लोग इस बात को पहले ही से समझ चुके थे कि जिस युद्ध का हेतु दुष्ट नहीं है, जहाँ छल-कपट को स्थान नहीं है, और जिस युद्ध की विजय केवल सच्ची आंतरिक शक्ति पर निर्भर है उसमें छिपाने लायक कुछ हो ही नहीं सकता। कौम का स्वार्थ ही इस बात की शिक्षा देता है कि यदि दुर्बलतारूपी रोग को दूर करना है, तब तो वह जहाँ कहीं हो, उसकी जाँच करके उसे प्रकाश में लाना चाहिए। जब उन्होंने देखा कि पत्र उसी उद्देश्य से चल रहा है, तब तो वह उनके लिए भारतीयों के वर्तमान इतिहास अर्थात् आइने का काम देने

लग गया। इसपर से उन्होंने यह तय किया कि जबतक वे कुछ खास-खास अगुआओं को गिरफ्तार नहीं करवा लेते तब तक युद्ध का बल तोड़ा नहीं जा सकता। इसलिए १६०७ के दिसम्बर में कितने ही अगुआओं को अदालत में हाजिर होने के नोटिस मिले। यह मुझे कुबूल करना चाहिए कि अधिकारियों ने अपने इस व्यवहार से अपनी सभ्यता का ही परिचय दिया था अगर वे चाहते तो अगुआओं को वारंट से भी गिरफ्तार कर सकते थे। इसके बजाय केवल नोटिस भेजकर उन्होंने अपनी सभ्यता के साथ-साथ यह भी विश्वास प्रकट कर दिया कि अगुआ अपने को स्वेच्छापूर्वक सौंप देंगे। नियत समय पर नोटिस मिले और वे लोग अदालत उपस्थित हुए।

इनमें क्वीन नामक एक व्यक्ति जोहान्सबर्ग में रहनेवाले चीनी लोगों के अगुआ भी थे। जोहान्सबर्ग में उनकी संख्या कोई ३००-४०० होगी। वे सभी व्यापार या छोटी-मोटी खेती का काम करते थे। भारत कृषिप्रधान देश है। पर मेरा यह विश्वास है कि चीनी लोगों ने खेती को जितना बढ़ाया है उतना हम लोगों ने नहीं। अमेरिका आदि देशों में खेती की जो प्रगति हुई है वह आधुनिक है और उसका तो वर्णन ही नहीं हो सकता। उसी प्रकार पश्चिमी खेती को मैं अभी प्रयोगावस्था में मानता हूँ। पर चीन तो हमारे ही जैसा प्राचीन देश है। और वहाँ प्राचीन काल से ही खेती में तरक्की की गयी है। इसलिए चीन और भारत की तुलना करें तो हमें उससे कुछ शिक्षा मिल सकती है। जोहान्सबर्ग के चीनियों की खेती देखकर और उनकी बातें सुनकर तो मुझे यही मालूम हुआ कि चीनियों का ज्ञान और उद्योग भी हम लोगों से बहुत बढ़कर है। जिस ज़मीन को हम ऊसर समझकर छोड़ देते हैं, उसीमें वे अपने खेती के

सूक्ष्म ज्ञान के कारण बीज बोकर अच्छी फसल पैदा कर सकते हैं। यह उद्यमशील और चतुर कौम भी उस खूनी कानून की श्रेणी में आती थी। इसलिए उसने भी भारतीयों के साथ युद्ध में शामिल होना उचित समझा। तथापि शुरू से आखिर तक दोनों कौमों का हर एक व्यवहार अलग-अलग होता था। दोनों अपनी-अपनी संस्थाओं के द्वारा झगड़ रही थीं। इसका शुभ फल यह होता है कि जबतक दोनों जातियाँ अपने निश्चय पर दृढ़ रहती हैं तबतक तो दोनों को फायदा होता है। पर आगे चलकर यदि एक फिसल भी जाय तो इससे दूसरी जाति को कोई हानि की संभावना नहीं रहती। वह गिरती तो हरगिज नहीं। आखिर बहुत से चीनी तो फिसल गये, क्योंकि उनके नेता ने उन्हें धोखा दिया। नेता कानून के वश तो नहीं हुए पर एक दिन किसी ने आकर मुझसे कहा कि वे बिना हिसाब-किताब समझाये ही कहीं भाग गये। नेता के चले जाने के बाद अनुयायियों का दृढ़ रहना तो हमेशा मुश्किल ही पाया गया है। फिर नेता में किसी मलिनता के पाये जाने पर तो निराशा दूनी बढ़ जाती है। पर जिस समय पकड़ा-धकड़ी शुरू हुई उस समय तो चीनी लोगों में बड़ा जोश फैला हुआ था। उनमें से शायद ही किसीने परवाने लिये हों। इसीलिए भारतीय नेताओं के साथ चीनियों के कर्ता-धर्ता मि० क्वीन भी पकड़ा गया। इसमें शक नहीं कि कुछ समय तक तो उन्होंने बहुत अच्छी तरह काम किया था।

गिरफ्तार किये गये जिन अन्य नेता का मैं यहाँ परिचय देना चाहता हूँ वह हैं थंबी नायडू। थंबी नायडू तामिल सज्जन थे। उनका जन्म मारिशस में हुआ था। उनके माता-पिता मद्रास इलाके से वहाँ आजीविका के लिए गये हुए थे। श्री

नायडू एक सामान्य व्यापारी थे। उन्होंने कोई भी शिक्षा पाठशाला में नहीं पायी। पर उनका अनुभव ज्ञान बड़े ऊँचे दर्जे का था। अंग्रेजी अच्छी तरह बोल और लिख भी सकते थे, हालाँकि भाषा-शास्त्र की दृष्टि से उसमें वे अवश्य गलतियाँ करते थे। तामिल भाषा का ज्ञान भी अनुभव से ही प्राप्त किया था। हिन्दुस्तानी अच्छी तरह समझ लेते और बोल भी सकते थे। तेलगू का भी कुछ ज्ञान रखते थे। पर हिन्दी और तेलगू की लिपियों का ज्ञान उन्हें जरा भी न था। मारीशस की भाषा भी,-जिसका नाम क्रीओल है और जो अपभ्रष्ट फ्रेंच कही जा सकती है उन्हें बहुत अच्छी तरह अवगत थी। इतनी भाषाओं का ज्ञान दक्षिण अफ्रीका में कोई आश्चर्यजनक बात न थी। दक्षिण अफ्रीका में आपको ऐसे सैकड़ों भारतीय मिलेंगे जिन्हें इन सभी भाषाओं का मामूली ज्ञान है। और इन सबके अतिरिक्त हबशियों की भाषा का ज्ञान तो उन्हें अवश्य ही होता है। इन सभी भाषाओं का ज्ञान वे अनायास प्राप्त करते हैं और कर भी सकते हैं। इसका कारण मैंने यह देखा कि विदेशी भाषा के द्वारा शिक्षा प्राप्त करते करते उनके दिमाग थके हुए नहीं होते। उनकी स्मरण-शक्ति तीव्र होती है। उन भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी के साथ बोल-बोलकर और अवलोकन करके ही वे उन भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। इससे उनके दिमाग को जरा भी कष्ट नहीं होता, बल्कि इस रोचक व्यायाम के कारण उनकी बुद्धि का स्वाभाविक विकास ही होता है। यही हाल थंबी नायडू का हुआ उनकी बुद्धि भी बड़ी तीव्र थी। नवीन प्रश्नों को वे बड़ी फुर्ती के साथ समझ लेते। उनकी हाजिर जबाबी आश्चर्यजनक थी। भारत कभी नहीं आये थे पर फिर भी उनका उस पर अगाध प्रेम था। स्वदेशाभिमान उनकी नस-नस में भरा हुआ था।

उनकी दृढ़ता चेहरे पर ही चित्रित था। उनका शरीर बड़ा मज़-बूत और कसा हुआ था। मेहनत से कभी थकते ही न थे। कुर्सी पर बैठकर नेतापन करना हो तो उस पद की भी शोभा बढ़ा दें। पर साथ ही हरकारे का काम भी उतनी ही स्वाभाविक रीति से वे कर सकते थे। सिर पर बोझा उठाकर बाजार से निकलने में थंबी नायडू जरा भी न शरमाते थे। मेहनत के समय न रात देखे न दिन। कौम के लिए अपने सर्वस्व की आहुति देने के लिए हर किसी के साथ प्रतिस्पर्धा कर सकते थे। अगर थंबी नायडू हद से ज्यादा साहसी न होते और उनमें क्रोध न होता तो आज वह वीर पुरुष ट्रान्सवाल में काछलिया की अनु-पस्थिति में आसानी से कौम का नेतृत्व ग्रहण कर सकता था। ट्रान्सवाल के युद्ध के अन्त तक उनके क्रोध का कोई विपरीत परिणाम नहीं हुआ था, बल्कि तबतक उनके अमूल्य गुण जवाहिरों के मुआफिक चमक रहे थे। पर बाद में मैंने देखा कि उनका क्रोध और साहस प्रबल शत्रु साबित हुए, और उन्होंने उनके गुणों को छिपा दिया। पर कुछ भी हो, दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह युद्ध में थम्बी नायडू का नाम हमेशा पहले ही वर्ग में रहेगा।

हम सबको अदालत में एक साथ ही हाजिर होना था। पर सबके मुकदमे अलग अलग चलाये गये थे। हमें किसीको अपना बचाव तो करना ही न था। सब अपना-अपना अपराध कुबूल करनेवाले थे। मैंने अदालत में अपना कोई लिखित बयान भी पेश नहीं किया। केवल इसी भावार्थ के कुछ शब्द कहे कि विचारपूर्वक और अपना धर्म समझकर ही मैं इस खूनी कानून का सामना कर रहा हूँ। इसके लिए मुझे जो सजा मिलेगी उसे सहन करना मैं अपना सम्मान समझूँगा। दो महीने की सादी

कैद की सजा मुझे मिली। जिस अदालत में मैं सैकड़ों बार वकील की हैसियत से खड़ा रहता था, वकीलों के साथ बैठता था, वहींपर आज मैं मुलज़िम के पींजड़े में खड़ा हूँ यह विचार कुछ विचित्र जरूर मालूम हुआ, पर यह तो मुझे अच्छी तरह याद है कि वकीलों के साथ बैठने में मैं अपना जो सम्मान समझता था उसकी अपेक्षा कहीं अधिक सम्मान आज मैंने उस पींजड़े में खड़ा रहने ही में माना। मुझे याद नहीं आता कि उसमें पैर रखते हुए मेरे दिल में जरा भी क्षोभ हुआ हो। अदालत में तो सैकड़ों हिन्दुस्तानी भाई वकील-मित्र वगैरा के सामने मैं खड़ा था। परन्तु सजा के सुनाते ही फौरन कैदियों को जिस दरवाजे से बाहर ले जाते हैं, उससे ले जाने के पहले जहाँ रक्खा जाता है वहाँ एक सिपाही मुझे ले गया।

उस समय मैंने देखा कि आस-पास सन्नाटा-सा छा गया है। कैदियों के बैठने के लिए वहाँ एक बेंच पड़ी थी उसपर बैठने के लिए मुझे कहकर पुलिस अधिकारी दरवाजा बन्द करके चला गया। यहाँ मेरे दिल में जरूर क्षोभ पैदा हुआ। मैं गहरे विचार-सागर में गोते लगाने लगा। घरबार कहाँ है? वकालत कहाँ गयी? और कहाँ हैं वे सभायें? क्या यह सब स्वप्न था और आज मैं कैदी हो गया हूँ? इन दो महीनों में क्या होगा? क्या पूरे दो महीने काटने होंगे? यदि लोग बराबर एक-के-बाद एक आते रहें तब तो दो महीने यहाँ रहना ही न पड़े! पर यदि न आवें तो ये दो महीने कैसे कटेंगे? यह लिखते हुए मुझे जितना समय लग रहा है उसके शतांश से भी कम समय में ये और ऐसे कितने ही विचार मेरे दिल में आ गये। पर उनके आते ही मैं शरमाया। "अरे, यह कैसा मिथ्याभिमान! मैं तो जेल को महल बता रहा था! 'खूनी कानून का सामना करते हुए जो कुछ

मुसीबतें आवें, उन्हें दुःख नहीं, सुख समझना चाहिए, उसका सामना करते हुए जानोमाल भी अर्पण कर देना यही तो सत्याग्रह की पूर्णता है' यह सब ज्ञान कहाँ चला गया ?" बस, यह विचार आते ही मैं फिर होश में आया और अपनी मूर्खता पर आप ही हँसने लगा। अब 'दूसरे भाइयों को कैसी सजा दी जायगी, उन्हें मेरे साथ ही रक्खेंगे या अलग' आदि व्यवहारिक विचारों में मैं पड़ा, इस प्रकार गोते लगा ही रहा था कि दरवाजा खुला। पुलिस अधिकारी ने मुझे अपने पीछे आने के लिए कहा। मैं रवाना हुआ कि मुझे आगे करके वह पीछे हो गया और जेल की बन्द गाड़ी के पास मुझे ले गया और उसमें बैठने के लिए कहा। मेरे बैठते ही गाड़ी जोहान्सबर्ग की जेल के तरफ बढ़ी।

जेल में आने पर मेरे कपड़े निकलवाये। मैं जानता था कि जेल में क़ैदियों को नंगा किया जाता है। सबने यह निश्चय कर लिया था कि जहाँ तक जेल के नियत व्यक्तिगत अपमान करनेवाले अथवा धर्म के खिलाफ न हों वहाँतक उनका स्वेच्छा से पालन किया जाय। हमने इसे सत्याग्रही का धर्म समझा था। पहनने के लिए जो कपड़े मिले वे बहुत मैले थे। उन्हें पहनते समय तो जरा भी अच्छा न लगा। खूब मन को रोकना पड़ा और बड़ा ही दुःख हुआ। पर यह सोचकर कि अभी तो और भी कितनी ही अस्वच्छता को बर्दाश्त करना होगा, चित्त को थामा। नाम-धाम लिखकर मुझे एक विशाल कमरे में ले गये। कुछ देर तक वहाँ रक्खा होगा कि इतने ही में मेरे साथी भी हँसते-हँसते और बातचीत करते हुए आ पहुँचे और मेरे बाद उनका मुकदमा कैसे चला आदि सब हाल उन्होंने कह सुनाया। मेरा मुकदमा खतम होने पर लोगों ने काले झंडे हाथों में ले लेकर एक जुलूस निकाला। कोई उत्तेजित भी हो गये थे। पुलिस

आयी, दो चार को मार भी पड़ी, आदि हाल सुने। हम सबको एक ही जेल और एक ही कमरे में रक्खा गया, इसलिए हम सब बड़े प्रसन्न हुए।

छः बजे हमारे कमरे का दरवाजा बन्द कर दिया गया। वहाँ की जेल की कोठड़ियों के दरवाजों में लोहे की छड़ें नहीं होतीं। ठेठ ऊपर दीवाल में एक झरोखा हवा के लिए रक्खा जाता है। इसलिए हमें तो यही मालूम हुआ कि हम तो मानों सन्दूक में बन्द हैं। अधिकारियों ने जो आदर सत्कार रामसुन्दर का किया था वह हमारा नहीं किया। पर इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं था। रामसुन्दर पहला सत्याग्रही क़ैदी था। इसलिए अधिकारियों को इस बात का ख़याल न था कि उसके साथ किस प्रकार का बर्ताव किया जाय। हमारी संख्या तो पहले ही से काफी थी। सरकार और भी लोगों को पकड़ना चाहती थी। इसलिए हमें हबशी जेलखाने में रक्खा गया। दक्षिण अफ्रीका में दो विभाग ही होते हैं गोरा और काला (हबशी)। भारतीय क़ैदी की गिनती भी हबशियों के विभाग में की जाती है। मेरे साथियों को भी मेरे जितनी ही सादी क़ैद की सजा हुई थी। दिन निकलते ही हमें यह मालूम हुआ कि सादी क़ैदवालों को अपनी ही पोशाक पहनने का हक़ रहता है। और अगर वह उसे न पहना चाहें तो सादी क़ैदवालों के लिए जो खास पोशाक रहती है वह उन्हें दी जाती है। हम सबने यही निश्चय किया कि घर की अपनी पोशाक यहाँ पहनना तो ठीक नहीं। अतः जेल की ही पोशाक पहननी चाहिए। अधिकारियों को हमने इस बात की सूचना भी कर दी। इसलिए हमें सादी क़ैदवाले क़ैदियों की पोशाक दी गयी। पर इस प्रकार के सादी क़ैदवाले क़ैदी दक्षिण अफ्रीका में सैंकड़ों

संख्या में होते ही नहीं । इसलिए ज्योंही सादी कैदवाले क़ैदी अधिक आने लगे त्यों ही जेल के कपड़े ख़त्म हो गये । हमें इस विषय में कोई शिकायत तो करनी ही नहीं थी, इसलिए कड़ी क़ैदवाले क़ैदियों के कपड़े पहनने में भी हमने कोई उज्र नहीं किया। पीछे से आये हुए कितने ही भाइयों ने इन कपड़ों की अपेक्षा अपने ही कपड़े पहने रहना पसन्द किया । मुझे यह अच्छा नहीं मालूम हुआ। पर इस विषय में आग्रह करना भी अनुचित समझा।

दूसरे या तीसरे ही दिन से सत्याग्रही क़ैदियों के झुण्ड आने लगे। वे तो जानबूझकर गिरफ्तार होते थे। उनमें से अधिकाँश तो फेरीवाले थे। दक्षिण अफ्रीका मे हरएक फेरीवाले को, फिर वह गोरा हो या काला, फेरी का परवाना लेना पड़ता है, जो उसे हमेशा अपने पास रखना पड़ता है और जब पुलिस माँगे तब उसे बता देना पड़ता है। अक्सर कोई न कोई पुलिस का आदमी तो परवाना मांग ही बैठता था और अगर नहीं मिला तो किया उस आदमी को गिरफ्तार। हमारी गिरफ्तारी के बाद कौम ने जेल को भर देने का निश्चय कर दिया था । फेरीवाले इस काम में आगे बढ़े और उनके लिए गिरफ्तार होना भी आसान था। फेरी का परवाना नहीं बताया कि हुए गिरफ्तार । इस प्रकार गिरफ्तारियां होते-होते एक सप्ताह के अन्दर कोई १०० सत्याग्रही कैदी हो गये। और भी आ रहे थे। इसलिए हमें तो बिना ही अखबार के मानों अखबार मिल जाया करते थे। ये भाई नित्य नई खबरें लाते । जब बहुत से सत्याग्रही गिरफ्तार होने लगे तब या तो न्यायाधीश थक गया, या जैसा कि हमने सोचा था सरकार की ओर से न्यायाधीश को सूचना मिली होगी कि आइंदा सत्याग्रहियों को सादी नहीं, सख्त कैद

की सजा दी जाये। जो हो, पर अब सत्याग्रहियों सख्त क़ैद की सजा मिलने लगी। आज भी मुझे यही मालूम होता है कि कौम का अनुमान ही सच्चा था। क्योंकि पहले पहल जिन मामलों में सादी कैद की सजा दी गयी थी, उसके बाद न तो उस युद्ध में और न आगे युद्ध छिड़ने पर, स्त्रियों को अथवा पुरुषों को ट्रान्सवाल या नाताल की एक भी अदालत में सादी कैद की सजा मिली। अगर सब मैजिस्ट्रेटों को एक ही प्रकार का हुक्म न मिला हो तो हर एक मैजिस्ट्रेट का प्रत्येक बार प्रत्येक पुरुष और स्त्री को सख्त मजदूरी की ही सजा देना केवल संयोग ही हो तो सचमुच यह एक बड़ा भारी चमत्कार है।

जेल में सादी कैद के कैदियों को सुबह मक्की का दलिया मिलता था। दलिया में कभी नमक नहीं रहता था। नमक हरएक कैदी को ऊपर से दे दिया जाता था। दोपहर को बारह बजे पावभर भात, थोड़ा नमक और आधी छटांक घी के साथ पाव भर डबलरोटी भी मिलती थी। शाम को मक्की के आटे की राब, और थोड़ी आलू की तरकारी मिलती। आलू अगर छोटे होते तो दो और बड़े होते तो एक मिलता था। इससे किसीका पेट नहीं भरता था। चावल चिकने पकाये जाते। यहां के डाक्टर से कुछ मसाला मांगा गया। उसे यह भी सूचित किया कि मसाला भारत की जेलों में भी दिया जाता है। डाक्टर ने कड़ककर उत्तर दिया "यह हिन्दुस्तान नहीं है। कैदी को स्वाद कैसा? मसाला नहीं मिल सकता। खैर तब दाल मांगी गयी, क्योंकि जो भोजन हमें दिया जाता था उसमें स्नायुओं का पोषक द्रव्य एक भी नहीं था। इस पर डाक्टर साहब ने उत्तर दिया—"कैदियों को डाक्टरी दलीलें नहीं करनी चाहिएं। तुम लोगों को स्नायु-पोषक खुराक भी दी जाती है क्योंकि सप्ताह में दो बार मक्की

के बदले शाम को मटर दी जाती है सप्ताह अथवा पखवाड़े में भिन्न २ गुणवाली खुराकें भिन्न २ समय पर एक साथ लेकर यदि मनुष्य का जठर उसके सत्व को आकर्षित कर सकता हो तब तो डाक्टर की दलील ठीक थी। बात यह थी कि डाक्टर किसी प्रकार हमारी बात सुनना ही नहीं चाहता था। पर सुपरिन्टेन्डेन्ट ने हमारी इस सूचना को मंजूर किया कि हम अपना भोजन खुद ही पका लिया करें। थम्बी नायडू को हमने अपना पाकशास्त्री बनाया। चौके में उन्हें कितने ही झगड़े करने पड़ते थे। साग अगर कम मिलता तो और माँगते। यही हाल दूसरी वस्तुओं का भी था पर हमारे जिम्मे केवल दोपहर का भोजन पकाना किया गया था। यह स्वतन्त्रता मिलने पर भोजन कुछ-कुछ सन्तोषजनक मिलने लगा।

पर ये सुविधायें मिलें या न मिलें, हमने तो यही निश्चय किया था कि इस जेल की सजा को सुखपूर्वक ही बितावें। सत्याग्रही कैदियों की संख्या बढ़ते-बढ़ते १५० से भी ऊपर चली गयी। हम सादी कैदवाले थे इसलिए हमें अपनी कोठड़ी वगैरा साफ रखने के अतिरिक्त कोई काम न था। इसलिए हमने काम माँगा। सुपरिन्टेन्डेन्ट ने कहा अगर मैं आपको काम बताऊँ तो वह एक अपराध समझा जायेगा, इसलिए मैं लाचार हूँ। स्वच्छता रखने में ही आप मनमाना समय लगा सकते हैं। फिर ड्रिल वगैरा कसरत करने की आज्ञा चाही क्योंकि हम देखते थे कि सख्त कैदवाले हबशी कैदियों को भी ड्रिल दी जाती थी। इसपर यह उत्तर मिला कि यदि आपके वार्डर को समय मिले और वह कसरत कराना मंजूर करे तो मैं उसका विरोध नहीं करूँगा, पर मैं उसे बाध्य भी नहीं करूँगा। उसे बहुत काम रहता है। और आपकी संख्या बेतरह बढ़ जाने के कारण उसका काम और

भी बढ़ गया है। वार्डर बड़ा भला आदमी था। वह तो केवल इस आज्ञा की राह देख रहा था उसने बड़े उत्साह के साथ हमें रोज सुबह ड्रिल सिखाना शुरू किया। ड्रिल तो हमारी कोठरी के सामनेवाले छोटे से आँगन में ही हो सकती थी। इसलिए घूम-फिर कर हमें वहीं चक्कर काटने पड़ते थे। कभी-कभी इस वार्डर की आज्ञा से एक पठान भाई नवाबखान उसकी अनुपस्थिति में ड्रिल कराते और अंग्रेजी शब्दों के अपने उर्दू उच्चारों से हमें खूब हँसाते। 'स्टैंड एंट ईज' को वे 'हैंटलीज' कहते। कुछ रोज तक यही हमारी समझ में नहीं आया कि यह कौन-सा हिन्दुस्तानी शब्द है। बाद में अकल दौड़ायी तो खयाल आया कि अरे, यह तो नवाबखानी अँग्रेजी है।

(२१)

पहला समझौता

इस प्रकार १५ दिन बीते होंगे कि नये आनेवाले लोग खबर लाने लगे कि सरकार के साथ सुलह की कोई बातचीत चल रही है। दो तीन दिन बाद जोहान्सबर्ग के 'ट्रान्सवाल लीडर' नामक दैनिक के सम्पादक अलबर्ट कार्टराइट मुझसे मिलने के लिए आये। उस समय जोहान्सबर्ग में जितने दैनिक थे, वे सब सोने की खानवाले किसी न किसी गोरे के हाथों में थे। अतः उनके खास स्वार्थ को छोड़कर सम्पादक लोग अन्य सब प्रश्नों पर अपने स्वतन्त्र विचार जाहिर कर सकते थे। इन पत्रों के सम्पादक हमेशा विद्वान् और विख्यात पुरुष ही चुने जाते थे। 'स्टार' नामक एक दैनिक के सम्पादक एक समय लार्ड मिलनर के खास मन्त्री थे। वे 'स्टार' को छोड़कर 'टाइम्स' के सम्पादक मि० बकल का स्थान लेने के लिए विलायत गये थे। अलबर्ट कार्टराइट बड़े चतुर और अतिशय उदार हृदय सज्जन थे। वे अपने अग्रलेखों तक में अक्सर भारतीयों का ही पक्ष लिया करते। मेरे और उनके बीच गहरा स्नेह-सम्बन्ध हो गया था और मेरे जेल जाने के

बाद वह जरनल स्मट्स से भी मिले थे। जरनल स्मट्स ने उन्हें संधिकर्ता स्वीकार किया तब मि० कार्टराइट कौम के अगुओं से मिले। पर उन्होंने यही उत्तर दिया कि हम लोग कानून की बारीकियों को नहीं जानते। गांधी जेल में हैं, जब तक वह छोड़ नहीं दिये जाते इस विषय में कोई सलाह—मशविरा करना हम अनुचित समझते हैं। हम सुलह तो चाहते हैं पर यदि हमारे आदमियों को बिना छोड़े ही सरकार सुलह करना चाहती हो तो गांधी जाने। आप गांधी से मिलें। वह जो कहेगा हम सब मन्जूर करेंगे। इस पर अलबर्ट कार्टराइट मुझसे मिलने के लिए आये। साथ ही जरनल स्मट्स का बनाया—अथवा पसन्द किया हुआ समझौते का मसविदा भी लाये थे। उसकी भाषा गोलमाल थी। वह मुझे पसन्द नहीं आयी। तथापि एक जगह कुछ दुरुस्ती करने पर मैं उसपर दस्तखत करने के लिए तैयार हो गया। पर मैंने कहा कि मेरे बाहरवाले यदि इसे मानलें तो भी मैं इस पर तबतक दस्तखत नहीं कर सकता जबतक जेल के साथियों की आज्ञा अथवा सम्मति भी मैं प्राप्त नहीं कर लेता। समझौते का सार इस प्रकार था। "भारतीय स्वेच्छापूर्वक अपने परवाने बदलवा लें। उनपर कानून का कोई अधिकार न होगा। नवीन परवाना भारतीयों की सलाह से सरकार बनावे। और यदि इसे भारतीय स्वेच्छापूर्वक ले लें तब तो खूनी कानून रद्द हो ही जायगा और स्वेच्छापूर्वक लिये गए नवीन परवानों को कानूनन, करार देने के लिए सरकार एक नया कानून बनालेगी।" खूनी कानून को रद्द करने की बात इस मसविदे में स्पष्ट नहीं लिखी गयी थी। उसे स्पष्ट करने के लिए मैंने अपनी समझ के अनुसार एक सुधार की सूचना की। पर अलबर्ट कार्टराइट ने उसे पसन्द नहीं किया। उन्होंने कहा "जनरल स्मटस का

यह आखिरी मसविदा है। स्वयं मैंने भी इसे पसन्द किया है। और यह तो मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि अगर आप सब परवाने ले लें तब तो यह खूनी कानून रद हुआ ही समझिए।" मैंने कहा समझौता हो या न हो, लेकिन आपकी इस सहानुभूति और इस समझौते की कोशिश के लिए हम आपके सदा के लिए अनुग्रहीत होंगे। मैं एक भी अनावश्यक फेर-फार करना नहीं चाहता। जिस भाषा से सरकार की प्रतिष्ठा की रक्षा होती हो उसका मैं ख्वामख्वाह विरोध नहीं करूँगा। पर जहाँ अर्थ के विषय में स्वयं मुझे शंका है वहाँ तो मुझे अवश्य ही कुछ स्पष्टीकरण की सूचना करनी चाहिए। और अन्त में यदि समझौता करना ही है तो दोनों पक्षों को कुछ परिवर्तन करने का अधिकार तो जरूर ही होना चाहिए। जनरल स्मट्स पिस्तौल दिखाकर उसके बल पर कोई समझौता हमसे मन्जूर कराने की व्यर्थ की कोशिश न करें। खूनी कानून रूपी एक पिस्तौल तो पहले ही से हमारे सामने है। अब इस दूसरे पिस्तौल का असर हम पर और क्या हो सकता है? मि० कार्टराइट इसके उत्तर में कुछ न कह सके। उन्होंने यह मंजूर किया कि मैं आपका बताया यह परिवर्तन जनरल स्मट्स के सामने पेश कर दूँगा। मैंने अपने साथियों से भी मशविरा किया। भाषा तो उन्हे भी पसन्द नहीं आयी। पर यदि उतने परिवर्तन के साथ जनरल स्मट्स समझौता करते हों, तो हम भी उसे मन्जूर कर लें यह बात उन्हे पसन्द थी। बाहर से लोग आये थे, वे भी अगुआओं का यह सन्देश लाये कि यदि उचित समझौता हो रहा हो तो कर लेना चाहिए। हमारी सम्मति की राह न देखी जाय। इस मसविदे पर मैंने मि० क्वीन और थम्बी नायडू के भी दस्तखत लिये और तीनों दस्तखतोंवाला मसविदा कार्टराइट को सौंप दिया।

दूसरे या तीसरे दिन जोहान्सबर्ग का पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट आया और मुझे जनरल स्मट्स के पास ले गया। उनकी मेरी बहुत-सी बातें हुईं। उन्होंने मुझे यह भी कहा कि मि० कार्टराइट के साथ मैंने चर्चा की थी। मेरे जेल जाने पर कौम डट रही इसके लिए मुझे उन्होंने मुबारकबाद दिया और कहा—"आप लोगों के विषय में मेरा कोई व्यक्तिगत दुर्भाव नहीं है। आप जानते ही हैं कि मैं एक बैरिस्टर हूँ। मेरे साथ कितने ही भारतीय पढ़े भी हैं। मुझे तो यहाँ केवल अपना कर्तव्य करना है। गोरे लोग इस कानून को चाहते हैं। आप यह भी स्वीकार करेंगे उनमें भी अधिकांश बोअर नहीं, अँग्रेज ही हैं। आपने जो सुधार किया उसे मैं मन्जूर करता हूँ। जनरल बोथा के साथ भी मैं बातचीत कर चुका हूँ और मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि यदि आपमें से अधिकाश लोग परवाने ले लेंगे, तो एशियाटिक एक्ट को रद्द कर दूँगा। स्वेच्छापूर्वक लिये जाने वाले परवाने को मन्जूर करनेवाले कानून का मशविदा तैयार करने पर उसकी एक नकल आपके पास नोट के लिए भेजूँगा। मैं नहीं चाहता कि यह आन्दोलन फिर से जागे। आपके भावों का मैं सम्मान करता हूँ।" इस प्रकार बातचीत होने पर जनरल स्मट्स उठे। मैंने कहा—"अब मुझे कहाँ जाना चाहिए? और मेरे साथ वाले अन्य कैदियों का क्या होगा?" उन्होंने हँसकर कहा-"आप तो इसी क्षण से स्वतंत्र हैं। साथियों को कल सुबह छोड़ने के लिए टेलीफोन करता हूँ। पर आपसे मेरी यह सलाह है कि आप लोग अधिक जुलूस वगैरा न निकालें। अगर प्रदर्शन करेंगे तो सरकार की स्थिति जरा विचित्र हो जायगी। मैंने कहा—"आप विश्वास रखिए। यों एक भी जुलूस आदि के प्रदर्शन न होने दूँगा पर समझौता किस प्रकार हुआ, वह क्या है, और अब भारतीयों के सिर

पर कितनी भारी जिम्मेदारी आ गयी है इत्यादि समझाने के लिए मुझे सभायें अवश्य ही करनी होंगी!" जनरल स्मट्स ने कहा— हाँ, ऐसी सभायें तो जितनी चाहें उतनी करें। मेरी बात आप समझ गये यही काफी है।"

इस समय शाम के सात बजे होंगे। मेरे पास तो एक पाई भी न थी। जनरल स्मट्स के सेक्रेटरी ने जोहान्सबर्ग तक जाने का किराया दिया। यह मशवरा प्रिटोरिया में हुआ था,। प्रिटोरिया के भारतीयों के पास ठहरकर वहाँ समझौता प्रकट करना आवश्यक नहीं था। खास-खास आदमी जोहान्सबर्ग में ही थे। केन्द्र भी जोहान्सबर्ग था। जोहान्सबर्ग जानेवाली आखिरी गाड़ी जाने को थी। वह मुझे मिल भी गयी।

(२२)

समझौते का विरोध—मुझपर हमला

रात के नौ बजे होंगे मैं जोहान्सबर्ग पहुँचा और सीधा अध्यक्ष ईसप मियाँ के यहाँ चला गया। वे जान गये थे कि मुझे प्रिटोरिया ले गये हैं। इसलिए शायद मेरी राह भी देख रहे होंगे। तथापि मुझे अकेला आते देखकर सभी को आश्चर्य और आनन्द हुआ। मैंने कहा जितने आदमी इकट्ठे हो सकें सबको इकट्ठा करके इसी समय सभा होनी चाहिए। ईसप मियाँ वगैरा मित्रों को भी यह सूचना उचित मालूम हुई। बहुत से भारतीय एक ही मुहल्ले में रहते थे, इसलिए उनको खबर करना कोई मुश्किल बात नहीं थी। अध्यक्ष का मकान मसजिद के नजदीक ही था और सभायें मसजिद के आंगन में ही होती थीं। इसलिए कोई भारी प्रबन्ध भी करना नहीं था। मंच पर सिर्फ एक बत्ती की जरूरत थी। ११–१२ बजे सभा हुई। समय बहुत कम मिला था। पर फिर भी लगभग १००० आदमी इकट्ठे हो गये थे।

सभा होने से पहले ही खास-खास लोगों को जोकि वहाँ थे, मैं समझौते की शर्तें समझा चुका था। कोई-कोई

उसका विरोध भी करते थे। पर इस मण्डल के सभी सज्जन मेरी दलीलें सुन लेने पर समझौते का यथार्थ स्वरूप समझ गये थे। पर एक शक तो सबके दिल में बराबर बना रहा था। "अगर जनरल स्मट्स विश्वासघात करें तो? खूनी कानून को भले ही वह कार्य में परिणत न करें। पर उसका भूत तो हमारे सिर पर हमेशा सवार रहेगा न? और यदि हम स्वेच्छापूर्वक परवाने लेकर अपने हाथ काट डालें, तब तो उसके प्रतिकार के लिए हमारे पास जो एक मात्र महान् शस्त्र है, उसे भी अपने हाथों से गँवा बैठेंगे। यह तो जान-बूझकर दुश्मन की जाल में अपने को फँसा लेना है। सच्चा समझौता तो वह कहा जा सकता है कि जब पहले तो खूनी कानून रद हो जाय और तब हम लोग स्वेच्छापूर्वक परवाने लें। इस दलील से मैं बड़ा खुश हुआ। दलील करनेवालों की तीक्ष्ण बुद्धि और उनकी हिम्मत देखकर मुझे बड़ा अभिमान हुआ। और मैंने दिल में कहा कि सत्याग्रही ऐसे ही होने चाहिएँ। इसके उत्तर मे मैंने कहा— "आपकी दलील बढ़िया है, विचारणीय है। खूनी कानून रद होने पर ही हम स्वेच्छापूर्वक परवाने लेंगे। इससे बढ़िया और क्या हो सकता है? पर मैं इसे समझौते का लक्षण नहीं कहता। समझौते का तो अर्थ ही यह है कि जहाँ सिद्धान्त को बाधा न पहुँचती हो, वहाँ दोनों पक्ष दे-लेकर झगड़ा निपटा लें। हमारा सिद्धान्त यह है कि खूनी कानून के डर से तो हम वह कार्य भी न करें जिसे साधारण हालत में करने के लिए हमें कोई उज्र न हो। बस इस सिद्धान्त का अवलंबन हमें करना है। सरकार का सिद्धान्त यह है कि किसी झूठे बहाने से भारतीय ट्रान्सवाल में प्रवेश न पा सकें इसलिए ट्रान्सवाल के अधिकांश भारतीय ऐसे परवाने ले-लें जिनमें निशानियाँ दर्ज की हुई होती हैं तथा

जो अदले-बदले न जा सकें। गोरों के सन्देह को दूर करके उन्हें निर्भय करें। सरकार इस सिद्धान्त को नहीं छोड़ सकती। और हमने अपने आजतक के व्यवहार में इसे मंजूर भी किया है। इसलिए यदि उसका हम विरोध भी करना चाहें, तो भी जबतक इसके लिए नवीन कारण पैदा नहीं होते तबतक हम उसके प्रतिकूल नहीं जा सकते। हमारा यह युद्ध उस सिद्धान्त को तोड़ने के लिए नहीं, बल्कि कानून का कलंक दूर करने के लिए है। इसलिए हमारी कौम में आज जो नवीन शक्ति प्रकट हो गयी है, उसका उपयोग करने के लिए एक बिल्कुल नयी बात को आगे रख दें तब तो सत्याग्रही सत्य को कलंक लगेगा। इसलिए यदि सच पूछा जाय तो इस समझौते को अस्वीकार करना अनुचित होगा। अब इस बात पर विचार करें कि खूनी कानून रद होने के पहले ही से हम अपने हाथ क्यों काट डालें? क्यों अपने शस्त्र छोड़ बैठें? इसका उत्तर तो बहुत सरल है। सत्याग्रही डर को तो सौ कोस पर रखता है। इसलिए वह किसी भी बात का विश्वास करने में कभी न डरेगा। अगर बीस बार उसके साथ विश्वासघात हो जाय तो फिर भी इक्कीसवीं बार वह विश्वास करने को तैयार हो जायगा, क्योंकि सत्याग्रही अपनी नाव विश्वास के ही सहारे पर चलाता है। इसलिए इस समय यह कहना कि समझौते का स्वीकार करना अपने हाथ काटना है सत्याग्रह का अज्ञान प्रकट करना है। मान लीजिए कि हम सब नये परवाने ले लें, और बाद में सरकार विश्वासघात करे अर्थात् खूनी कानून को रद न करे तो, क्या उस समय हम फिर सत्याग्रह नहीं कर सकेंगे? अगर हम परवाने ले भी लें पर जब वे माँगे जावें तब अगर उनके बताने से इन्कार कर दें तो उन परवानों का महत्त्व ही क्या रहा? और अगर ऐसा करते हुए

हजारों भारतीय ट्रान्सवाल में गुप्तरूप से घुस आवें तो सरकार के पास उनकी और हमारी क्या पहचान रहेगी ! इसलिए अगर कानून हो और न हो तो भी सरकार बिना हमारी सहायता के हमपर अधिकार नहीं जता सकती। कानून का मतलब तो सिर्फ यही है कि सरकार हमपर जो नियन्त्रण रखना चाहती है, उसे अगर हम न मानें तो सजा के पात्र समझे जावेंगे और साधारणतया होता भी यही है कि मनुष्य प्राणी अक्सर सजा के भय से किसी भी नियन्त्रण को स्वीकार कर लेता है। पर सत्याग्रही इस सामान्य नियम का उल्लंघन करता है। अगर वह किसी कानून को मानता है तो वह उसके दण्ड के भय से नहीं बल्कि स्वेच्छापूर्वक और यह समझकर कि उससे जनता का कल्याण होगा। और यही स्थिति आजकल हमारे इन परवानों की है। सरकार धोखा देकर भी इस परिस्थिति को नहीं बदल सकती। इस स्थिति के उत्पन्नकर्ता हम हैं और उसे हम ही बदल सकते हैं। जबतक सत्याग्रह का हथियार हमारे हाथों में है, तबतक हम स्वतन्त्र हैं, निर्भय हैं। और मुझे यदि कोई कहे कि आज कौम में जो उत्साह है वह फिर से नहीं आ सकता तो मैं उन्हें कहूँगा कि आप सत्याग्रही नहीं हैं, आपने सत्याग्रह को समझा ही नहीं। उनके कहने का मतलब तो यह होगा कि आज जो शक्ति दिखाई दे रही है, वह सच्ची नहीं, शराब के नशे जैसी झूठी और क्षणिक है। यदि यह बात सच हो तो हम जीत नहीं सकते। इतने पर भी अगर जीत हुई तो हम जीती हुई बाजी को गँवा देंगे। मान लीजिए कि यदि सरकार खूनी कानून को रद्द कर दे, और बाद में हम स्वेच्छापूर्वक परवाने लें, और यदि सरकार फिर खूनी कानून पास कर दे और फिर इन्हीं परवानों को लेने के लिए हमें मजबूर करे तब सरकार को कौन रोकेगा ?

यदि आज हमें अपने बल के विषय में शंका हो तो क्या उस समय भी ऐसी ही दुर्दशा न होगी ? इसलिए इस समझौते को चाहे जिस दृष्टि से देखिए उसको मंजूर करने में हमारी किसी प्रकार की हानि नहीं। उल्टे कौम तो मजबूत ही होगी। मेरा तो यह भी विश्वास है कि हमारी न्यायबुद्धि, तथा नम्रता देखने पर हमारे विरोधी भी अपने विरोध को मन्द कर देंगे।" इस प्रकार इस छोटी-सी बैठक में जिन एक दो आदमियों ने समझौते का कुछ विरोध किया था उनको मैंने सन्तुष्ट कर दिया। पर आधी रात को होनेवाली बड़ी सभा में जो गड़बड़ होनेवाली थी उसका तो मुझे खयाल तक न था। मैंने सभा को पूरा समझौता पढ़ सुनाया और समझाते हुए कहा—"इस समझौते से कौम की जिम्मेदारी बहुत अधिक बढ़ जाती है। यह बताने के लिए कि हम छल-कपट से एक भी बाहरी भारतीय को ट्रांसवाल में लेना नहीं चाहते, हमे स्वेच्छापूर्वक परवाने लेने होंगे। जो लोग परवाने न लें उन्हे अभी कोई सजा नहीं दी जायगी पर उसका भी यह अर्थ जरूर होगा कि कौम समझौते को मंजूर नहीं करती। इसलिए अब यह आवश्यक है कि आप अपने हाथ ऊँचा करके यह कह दें कि आप समझौते को मानते हैं। यही मैं चाहता भी हूँ। साथ ही आपकी इस स्वीकृति का यह अर्थ होगा—कम से कम मैं तो उसका यही अर्थ करूँगा, कि आप हाथ ऊचे करनेवाले, नये परवाने लेने की व्यवस्था होते ही फौरन् उन्हें ले लेंगे और आज तक आप जो यह समझाने के लिए स्वयसेवक बन रहे थे कि परवाने न लिये जाएँ सो अब उसके बदले आप स्वयसेवक बनकर परवाना लेने के लिए लोगों को समझावें। जिस काम को हमें इस समय करना जरूरी है उसे अगर हम कर डालेंगे तभी इस जीत का सच्चा-सच्चा फल हमें मिलेगा।

मैंने भाषण समाप्त किया कि एक पठान भाई खड़े हुए और उन्होंने मुझ पर सवालों की झड़ी लगा दी।

"इस समझौते के अनुसार हमें अपनी दसों अँगुलियों की छाप देनी पड़ेगी न?"

"हाँ, और नहीं भी। मेरी तो यही सलाह है कि सभी दसों अँगुलियों की निशानी दे दें। पर जिन्हें यह करने में धार्मिक आपत्ति हो अथवा अपमान मालूम होता हो वे अगर न भी दें तो कोई हानि नहीं।"

"आप खुद क्या करेंगे?"

"मैं तो पहिले ही से अपनी दसों अँगुलियों की छाप देने का निश्चय कर चुका हूँ। यह तो मुझ से कदापि नहीं हो सकता कि जो मैं न करूँ वह करने की सलाह आपको दूँ।"

"आप तो इन छापों के विषय में बहुत लिखते थे। यह सिखानेवाले भी तो आप ही हैं कि ऐसी निशानी तो केवल मुजरिमों से ही ली जाती है। आप यह भी सिखाया करते थे कि यह युद्ध दस अँगुलियों का है। वे सब बातें आज कहाँ गयीं?"

"दस अँगुलियों के विषय में मैंने पहिले जो कुछ भी लिखा है उसपर मैं आज भी दृढ़ हूँ। यह बात तो मैं आज भी कहूँगा कि भारत में केवल जुर्म करनेवाली जातियों से ही दस अँगुलियों की निशानी ली जाती है। मैंने तो यह भी कहा है और आज भी कहता हूँ कि खूनी कानून के डर से अँगुलियों की छाप तो क्या दस्तखत देना भी पाप है। दस अँगुलियों वाली बात पर मैंने बहुत जोर दिया है और मैं जानता हूँ कि मैंने उसमें कोई बुराई नहीं की, भलाई ही की है। मैंने अनुभव से देखा कि कौम को खूनी कानून की बारीकियाँ समझाने के बदले दस अँगुलियों के जैसी मोटी और नयी बात पर जोर देना बहुत आसान है।

अगर उन बारीकियों को देखा करते तो वे आजतक भी पूरी न होतीं। मेरे उस उपाय से कौम भी फौरन समझ गयी। पर आज की स्थिति जुदी है। मैं जोर देकर कहना चाहता हूँ कि जो बात कल अपराध थी वही आज नवीन परिस्थिति में भलमनसाहत और शील का चिन्ह हो गयी है। अगर आप मुझे बलपूर्वक सलाम करने के लिए मजबूर करें और मैं उसे मान लूँ तो आपकी तथा स्वयं मेरी दृष्टि में मैं गिर जाऊँ। पर यदि इसके विपरीत मैं आपको अपना भाई अथवा इन्सान, समझकर खुशी से सलाम करूँ तो इससे मेरी नम्रता और खानदानी जाहिर होगी और खुदा के दरबार में भी यह बात मेरे पक्ष में लिखी जायगी। यही दलील मैं दस अँगुलियों वाली बात के लिए भी पेश करता हूँ।"

"हमने सुना है कि आपने कौम को धोका दिया है और १५००० पौंड लेकर उसे जनरल स्मट्स के हाथ बेंच दिया है। हम कभी अपनी अंगुलियों की निशानी नहीं देंगे और न किसी को देने देंगे। मैं खुदा की कसम खाकर कहता हूँ कि जो आदमी एशियाटिक आफिस में जाने को आगे बढ़ेगा उसे मैं जान से मार डालूंगा।"

"पठान भाइयों के भावों को मैं समझ सकता हूँ। मुझे विश्वास है कि इस बात को तो कोई नहीं मान सकता कि मैं रिश्वत लेकर कौम को बेंच दूँगा। जिन्होंने इस बात की कसम खाली हो कि हम दसों अंगुलियों की छाप नहीं देंगे, वे भले ही न दें। उन्हें कोई मजबूर नहीं कर सकता। यह बात तो मैं पहले ही समझा चुका हूँ। और जो कोई—फिर वे पठान हों या और कोई अपनी अगुलियों की छाप बिना दिये परवाने लेना चाहते हों, उनकी पूरी सहायता स्वयं मैं करूंगा। मैं विश्वास

दिलाता हूँ कि बिना ही निशानियों के वे स्वेच्छापूर्वक परवाने ले सकते हैं। पर मुझे स्वीकार करना होगा कि जान लेने की धमकी मुझे नहीं रुचती। मेरा यह भी खयाल है कि किसी की जान लेने की कसम खुदा का नाम लेकर नहीं ली जा सकती। इसलिए मैं तो यही समझूंगा कि इस भाई ने गुस्से के आवेश में ही जान लेने की कसम खाई है। वह इस कसम पर अमल करें या न करें। पर यह समझौता करनेवालों में एक मुख्य मनुष्य तथा कौम के सेवक की हैसियत से मेरा कर्त्तव्य तो स्पष्ट है। मुझे अपनी अंगुलियों की छाप देने के लिए सबसे आगे जाना चाहिए। परमेश्वर से भी मैं यही प्रार्थना करूँगा कि वह मुझे सबसे पहले यह काम करने का मौक़ा दे। मरना तो सबको है। फिर रोग या अन्य किसी कारण से मरने की अपेक्षा मैं अपने किसी भाई के हाथों मरूँ तो इससे मुझे जरा भी दुःख नहीं हो सकता। और अगर मृत्यु के समय भी मैं किसी पर क्रोध न करूँ अथवा मुझे मारनेवाले का द्वेष न करूं तो मेरा भविष्य तो अवश्य सुधर जायगा। साथ ही मारनेवाले को भी पीछे से विश्वास हो जायगा कि मैं निर्दोष था।"

अब यह समझा देना जरूरी है कि उपर्युक्त प्रश्न क्यों किये गये? यद्यपि कानून को माननेवाले भारतीयों के प्रति कोई द्वेषभाव न रक्खा गया था, तथापि उस कार्य के विषय में तो बहुत-कुछ और सो भी सख्त शब्दों में कहा और इंडियन ओपीनियन में लिखा गया था। इसलिए उनका जीवन जरा भारी हो गया था। उन्हें यह जरा भी विश्वास न था कि कौम का इतना बड़ा हिस्सा अपनी बात पर कायम रहेगा, और इतना शक्तिशाली हो जायगा कि सरकार को समझौता करने की नौबत पहुँच जाय। पर जब १५० से भी अधिक सत्याग्रही जेल चले गये और

समझौते की बातचीत होने लगी तब उन लोगों को और भी बुरा मालूम होने लगा जो खूनी कानून को मानते थे। उनमें ऐसे भी कई निकले जो यह कदापि बर्दाश्त नहीं कर सकते थे कि समझौता हो जाय, बल्कि अगर वह हो रहा हो तो चाहते थे कि वह असफल हो जाय। ट्रान्सवाल में बहुत कम पठान रहते थे। मेरा खयाल है कि सब मिलकर ५० से अधिक न होंगे। उनमें से अधिकाँश लड़ाई के समय सिपाही बनकर आये थे और जिस प्रकार युद्ध के लिए आये हुए गोरे वहीं बस गये, ठीक उसी प्रकार पठान और अन्य कितने ही भारतीय भी वहीं रह गये। इनमें से कई मेरे मवक्किल थे। यों तो और भी अन्य प्रकार से मैं उन लोगों को अच्छी तरह जानता था। वे बड़े भोले होते हैं। बहादुर तो अवश्य ही हैं। मारना-मरना उनके लिए एक साधारण बात है। जब वे किसीसे बिगड़ जाते हैं, तब उसे पीट देते–अथवा उन्हींकी भाषा में कहना चाहें तो उसकी पीठ खूब गर्म कर देते हैं, और कभी-कभी तो जान से भी मार डालते हैं; इसमें उनका कोई दुष्ट हेतु नहीं होता। सगे भाई के साथ भी वे इसी प्रकार का बर्ताव करते हैं। वहाँ यद्यपि पठान इतनी कम तादाद में रहते थे, तथापि जब कभी उनमें झगड़ा हो जाता है तब वे अक्सर मार-पीट कर बैठते थे। कई बार ऐसे झगड़ों में पडकर उन्हें मुझे निबटाना पड़ा है। विश्वास-घात की बात सुनते ही अपना गुस्सा रोकना उनके लिए असम्भव हो जाता है। न्याय प्राप्त करने के लिए सबसे बढ़िया उपाय उनके पास मारपीट ही है। पठान लोग इस युद्ध में काफी भाग लेते थे। उनमें से एक भी आदमी ने उस कानून के आगे सिर नहीं झुकाया था। उनको बहकाना एक आसान बात थी। दस अँगुलियोंवाली बात के विषय में उनमें गलतफहमी का होना

एक ऐसी बात है जो किसी भी आदमी की समझ में आ सकती है। उन्हें उस बात पर उकसाना जरा भी मुश्किल नहीं था। पठानों के दिल में सन्देह पैदा करने के लिए यह कह देना काफी था कि अगर मैंने रिश्वत नहीं ली है तो क्यों मैं दसों अंगुलियों की छाप देने की बात कहता? इसके अलावा एक दूसरा पक्ष भी ट्रान्सवाल में था। इसमें दो प्रकार के लोग थे, एक तो वे जो ट्रान्सवाल में बिना परवाना लिये गुप्त रूप से आये हुए थे। और दूसरे वे जिन्होंने उनकी सहायता की या स्वयं अपनी ओर से लाये थे। इस पक्ष का स्वार्थ इसी बात में था कि समझौता न हो। जबतक युद्ध चलता हो तबतक किसीको परवाने दिखाने कोई मतलब नहीं था। इसलिए यह पक्ष तबतक अपना व्यवहार निर्भयरूप से चला सकता था। और युद्ध के बन्द होने तक तो यह पक्ष अपने को जेल से भी बचा सकता था। अर्थात् इनके लिए जितनी लड़ाई अधिक चलती उतना ही भला था। इसलिए ये लोग भी पठानों को समझौते के खिलाफ उत्तेजित कर सकते थे। अब पाठक समझ सकते हैं कि पठान लोग एकाएक इस प्रकार क्यों उत्तेजित हो गये?

पर इस आधीरात के उद्गारों का असर सभा पर बिल्कुल नहीं हुआ। मैंने सभा से समझौते पर मत देने के लिए कहा। सभापति और दूसरे खास-खास लोग तो दृढ़ थे। इस संवाद के बाद सभापति ने एक भाषण किया जिसमें उन्होंने समझौते को स्पष्टतया फिर समझाया और उसको मंजूर करने के लिए जनता से कहा। फिर सभा का मत लिया। दो-चार पठानों को छोड़ कर (जो उस समय उपस्थित थे) सबने समझौते को मंजूर कर लिया। मैं रातके २-३ बजे घर पहुँचा। सोने के लिए तो समय ही कहाँ था? क्योंकि मुझे सुबह जल्दी उठकर दूसरे साथियों

को छुड़ाने के लिए जाना जरूरी था। सात बजे मैं जेल पर पहुँच गया। सुपरिन्टेन्डेन्ट को टेलीफोन से हुक्म मिल गया था। वह मेरी राह ही देख रहे थे। एक घण्टे भर के अन्दर तमाम सत्याग्रही कैदी छोड़ दिये गये। हमारी कमिटी के सभापति वगैरा कई खास-खास लोग उन्हें लेने के लिए आये थे। जेल से हमारा जुलूस पैदल सभास्थान पर गया। वहाँ सभा हुई। वह दिन और उसके बाद के दो-चार दिन यों ही दावतों आदि में तथा लोगों को समझाने में लग गये। जैसे-जैसे समय बढ़ता गया वैसे-वैसे एक ओर तो समझौते का रहस्य-महत्व अधिकाधिक लोग समझने लगे और दूसरी ओर गलतफहमी भी बढ़ती गयी। उत्तेजना के कारणों को तो हम देख ही चुके हैं। उनके अतिरिक्त जनरल स्मट्स के लिखे पत्र में भी गलतफहमी के लिए काफी मसाला था। उसके फलस्वरूप जो दलीलें पेश की जातीं उन्हें समझाने में मुझे बड़ा कष्ट हुआ। उसके मुकाबले में वह कष्ट कुछ भी न था जो मुझे, युद्ध चल रहा था तब, सहन करना पड़ा था। युद्ध के समय तो एक कठिनाई होती है कि जिसे हमने अपना दुश्मन मान लिया उसके साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाय? पर उसे हम आसानी से पार कर जाते हैं, क्योंकि उस समय आपस के झगड़े, अविश्वास वगैरा बिल्कुल नहीं अथवा बहुत कम परिमाण में होते हैं। पर युद्ध के बाद बाह्य आपत्ती के अदृश्य होते ही भीतरी भेदभाव आदि फिर प्रबल हो जाते हैं। यद्यपि लड़ाई का अन्त सन्तोषजनक हुआ हो तो भी उसमें दोष निकलना सदा आसान होता है, और इस काम को कई लोग उठा लेते हैं। और यह जहाँ शासन व्यवस्था प्रजासत्तात्मक होती है वहाँ सबके—छोटे बड़ों के सवालों का उत्तर देना पड़ता है। अपने मित्रों की गलतफहमी

दूर करने में जितना अनुभव मनुष्य को प्राप्त होता है उतना शत्रु के साथ लड़ते हुए नहीं प्राप्त हो सकता। प्रतिपक्षी के साथ लड़ते हुए आदमी को एक प्रकार का नशा चढ़ जाता है और उसमें वह मस्त रहता है। पर जब मित्रों में ग़लतफहमी अथवा विरोध पैदा हो जाता है तब वह एक असाधारण बात मानी जाती है, और हमेशा दुःख ही देती है। तथापि मनुष्य की परीक्षा ऐसे ही समय पर होती है। मेरा तो यही अनुभव है बल्कि मुझे यह विश्वास है कि मैं अपनी तमाम आन्तरिक शक्ति ऐसे ही मौकों पर प्राप्त कर सकता हूँ। जो लोग युद्ध का सच्चा स्वरूप लड़ते-लड़ते भी नहीं समझ पाये थे, वे समझौते के समय और कितने ही समझौते के बाद समझे। पठानों से मेरा विरोध आगे नहीं बढ़ा।

इस प्रकार दो-तीन महीने में एशियाटिक आफिस ऐच्छिक परवाने देने को तैयार हो गया। परवाने का रूप बिल्कुल बदल गया था। उसका मसविदा बनाते समय सत्याग्रही मण्डल से मशविरा लिया गया था।

१० फरवरी १९०८ के दिन हम कितने ही लोग परवाना लेने के लिए जाने को तैयार हुए। लोगों को खूब समझा दिया गया था कि वे अपने आप ही परवाने लें। यह भी तय हो चुका था कि पहले दिन खास-खास लोग ही परवाने लें। उसके तीन कारण थे। एक तो यह कि लोगों के दिल से भय को भगा दें, दूसरे यह उद्देश्य था कि एशियाटिक आफिस के लोग काम को सफाई से करते हैं या नहीं और तीसरा, कौम की देखभाल भी करना। मेरा दफ्तर ही सत्याग्रह आफिस था। मैं वहाँ पहुँचा कि मैंने आफिस की दीवार के बाहर मीर आलम और उसके मित्रों को देखा। मीर आलम मेरा पुराना मवक्किल था। अपने

तमाम कामों में वह मेरी सलाह लेता था। कितने ही पठान ट्रान्सवाल में घास और बालों के गद्दे बनवाने का काम करते थे। उसमें वे अच्छा फायदा उठाते थे। मजदूरों से वे गद्दे बनवा लेते और काफी नफा लेकर बेच देते थे। मीर आलम भी यही काम करता था। वह छः फुट से अधिक ऊँचा जवान था। शरीर भी दुहेरा था। आज मैंने मीर आलम को पहले पहल ही आफिस के बाहर इस प्रकार खड़ा हुआ देखा। वह अक्सर अन्दर आकर बैठ जाया करता था। हमारी आँखें मिलीं। पर उसने आज पहली ही मर्तबा सलाम नहीं किया। मेरे सलाम करने पर उसने भी किया। अपने रिवाज के अनुसार मैंने पूछा "कैसे हो?" मुझे अधूरी-सी याद है कि उसने उत्तर में कहा "अच्छा हूँ।" पर आज उसका चेहरा हमेशा की तरह प्रसन्न नहीं था। मैंने यह देखा और अपने दिल में नोट कर लिया। उसी समय यह भी सोच लिया कि आज ज़रूर कुछ गोलमाल है। मैं आफिस के अन्दर घुसा। शीघ्र ही ईसप मियाँ और अन्य मित्र भी आ पहुँचे और हम एशियाटिक आफिस की ओर रवाना हुए। मीर आलम और उसके साथी पीछे-पीछे हो लिये। मेरे आफिस से एशियाटिक आफिसवाला मकान एक मील से भी कम फासले पर था। वह एक विशाल मैदान में था। वहाँ आते हुए हमें एक बड़ी सड़क पर होकर जाना पड़ता था। आफिस पाँच कदम रहा होगा कि मीर आलम मेरी बगल में आ पहुँचा और उसने पूछा—'कहाँ जा रहे हो?' मैंने उत्तर दिया—"दस अँगुलियों की छाप देकर परवाना निकलवाना चाहता हूँ; अगर तुम भी चलोगे तो तुम्हें अँगुलियों की छाप नहीं देना होगी। तुम्हारा परवाना पहले निकलवाकर फिर बाद को मैं अपनी अँगुलियों की छाप देकर मेरा परवाना निकलवाऊँगा।" यह मैं

कही रहा था कि इतने में पीछे से मेरी खोपड़ी पर एक लाठी गिरी। मैं तो बेहोश होकर औंधे मुंह गिर पड़ा। इसके बाद क्या हुआ सो मैं नहीं जानता। पर मीरआलम और उसके साथियों ने और भी लाठियाँ और लातें मुझे मारीं। कितनी ही ईसप मियाँ और थम्बी नायडू ने अपने ऊपर झेलीं। इसलिए ईसप मियां और थम्बी नायडू दोनों को थोड़ी थोड़ी चोट आयी। इतने में तो चारों ओर शोर मच गया। राहगीर गोरे इकट्ठा हो गये। मीर आलम और उसके साथी भागे, पर गोरों ने उन्हें पकड़ लिया। तबतक पुलिस भी आ पहुंची। वे पुलिस के सिपुर्द कर दिये गये। बगल में ही एक गोरे का आफिस था, वहाँ मुझे उठाकर ले गये। थोड़ी देर में जब मुझे होश आया तब मैंने अपने चेहरे पर झुके हुए रेवरेंड डोक को देखा। उन्होंने पूछा—"अब कैसे हो?" मैंने हंसकर कहा—"मैं तो ठीक हूँ पर मेरे दांत और पसलियों में दर्द है। मीर आलम कहाँ हैं?" उत्तर मिला वह और उसके साथी गिरफ्तार हो गये। मैंने कहा "वे तो छूटने चाहिएँ। डोक ने उत्तर दिया—"यह सब होता रहेगा। यहाँ तो आप एक अपरिचित गृहस्थ के आफिस में पड़े हुए हैं, आपका होंठ फट गया है, पुलिस अस्पताल ले जाना चाहती है। पर अगर आप मेरे यहाँ चलें तो मिसेज और मैं अपनी शक्तिभर आपकी शुश्रूषा करेंगे। मैंने कहा—"मुझे तो आप ही के यहाँ ले चलो। पुलिस की मेहरबानी के लिए मेरी ओर से उनका अहसान मान लीजिएगा। उन लोगों को कहिएगा कि मैं आपके यहाँ आना चाहता हूँ।" इतने में एशियाटिक आफिस के अधिकारी भी आ पहुँचे। एक गाड़ी में डालकर मुझे इन पादरी सज्जन के मकान पर ले गये। डाक्टर को भी बुलाया गया। पर इसके बीच ही मैंने एशियाटिक अधिकारी मि० चमनी से कहा:—"मैं

तो यह उम्मीद करता था कि आपके दफ्तर में जाकर दसों अंगु- लियों की छाप देकर सबसे पहले अपना परवाना लूं। पर ईश्वर को यह मंजूर न था। पर अब कृपया यहीं पर अपने कागज मँगाकर मुझे रजिस्टर कर लीजिए। मैं आशा करता हूँ कि आप मेरे पहले किसीको रजिस्टर न करेंगे।" उन्होंने कहा— "ऐसी कौन जल्दी पड़ी है? अभी डाक्टर साहब आते हैं। आपको जरा तसल्ली हो जाने दीजिए फिर सब होता रहेगा। दूसरों को परवाने अगर दूँगा तो भी आपका नाम सब में पहले रक्खूंगा।" मैंने कहा "यह नहीं हो सकता। मेरी तो यह प्रतिज्ञा है कि अगर जिन्दा रहा और परमात्मा ने चाहा तो मैं ही सबसे पहले परवाना लूंगा। इसलिए तो मैं इतना आग्रह कर रहा हूँ। आप कागज ले आइए।" वे गये। मेरा दूसरा काम यह था कि अटर्नी जनरल अर्थात् सरकारी वकील को यह तार कर दूँ कि मीर आलम और उसके साथियों ने मुझपर जो हमला किया है उसके लिए मैं उन्हें दोषी नहीं समझता। चाहे जो हो मैं यह चाहता हूँ कि उनपर फौजदारी मुकदमा दायर न किया जाय। मैं आशा करता हूँ कि आप उन्हें मेरे लिए मुक्त कर देंगे। इस तार के फलस्वरूप मीर आलम और उसके साथी छोड़ दिये गये।

पर जोहान्सबर्ग के गोरों ने अटर्नी जनरल को नीचे लिखे अनुसार एक सख्त पत्र लिखा:—

"मुलजिमों को सजा देने न देने के विषय में गांधी के चाहे जो विचार हों, वे यहाँपर नहीं चल सकते। खुद उसीको मारा है इसलिए वह भले ही उनका कुछ न करे। पर मुलजिमों ने उसे उसके घर में लेजाकर नहीं मारा है। जुर्म आम रास्ते पर हुआ है। यह एक सार्वजनिक अपराध है। कितने ही अंग्रेज इस

ाव का सबूत दे सकते हैं। मुलजिमों को फिर गिरफ्तार करना रूरी है।"

इस हलचल के कारण सरकारी वकील ने मीर आलम और उसके साथियों को फिर गिरफ्तार करवाया, और उन्हें छः छः महीने की सजा हुई। हाँ मुझे गवाह बनाकर नहीं बुलाया गया।

अब घायल के कमरे में चलें। मि० चमनी कागज वगैरा लेने को गये तबतक डाक्टर आ पहुँचे। उन्होंने मेरे शरीर को जाँचा। मेरा होंठ फट गया था उसे जोड़ा। पसलियों की जाँच कर मालिश करने को दवा दी। और होंठ के टाँके टूटने न पावें इस तरह केवल धीरे-धीरे बोलने की इजाजत दी। खाने के लिए सिवा तरल पदार्थ के सब मना कर दिया। "आपको कहीं अधिक चोट नहीं पहुँची है। आठ दिन के अन्दर आप बिस्तर छोड़कर साधारण हालत में रह सकेंगे। सिर्फ एक दो महीने कोई शारीरिक परिश्रम न करें।" आदि कहकर वे चले गये। मेरा बोलना बंद होगया। केवल हाथ हिला सकता था। इसलिए कौम के नाम एक छोटा-सा पत्र गुजराती में लिखकर अध्यक्ष के द्वारा प्रकाशित करने के लिए भेज दिया। वह इस प्रकार है—

"मेरी हालत अच्छी है। मि० और मिसेज डोक मुझ पर जान दे रहे हैं। मैं बहुत जल्दी अपना काम संभालने लायक हो जाऊँगा। हमला करनेवालों पर मुझे कोई रोष नहीं है। उन्होंने यह अज्ञान के कारण किया है। उन पर कोई मामला न चलाया जाय। अगर और सब भाई शांत रहेंगे तो यह घटना भी हमारे लिए लाभदायक सिद्ध होगी।

"हिन्दू लोग अपने दिल में जरा भी-नाराज न हों। मैं चाहता हूँ कि इस घटना के कारण हिन्दू-मुसलमानों के बीच वैमनस्य

नहीं, प्रेम बढ़े। परमात्मा से मेरी यही प्रार्थना है।

"मुझे मार खानी पड़ी। और भी खानी पड़े तो भी मैं तो यही सलाह दूँगा कि सब मिलकर यही प्रयत्न कीजिए कि हममें से अधिकाँश मनुष्य अपनी दसों अँगुलियों की छाप दें। कौम का और गरीबों का इसीमें भला है, उनकी रक्षा इसीसे होगी।

"अगर हम सच्चे सत्याग्रही होंगे तो मार की या भविष्य में विश्वासघात होने की आशका से जरा भी नहीं डरेंगे।

"जो दस अँगुलियोंवाली बात पर ही अडे हुए हैं वे गलती कर रहे हैं।

"मैं परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ और माँगता हूँ कि वह कौम का भला करे, उसे सत्य मार्ग पर ले चले, और हिन्दू तथा मुसलमानों को मेरे खून से एक करे।"

मि० चमनी लौटे। बड़ी मुश्किल से मैंने अपनी अँगुलियों की छाप दी। उस समय मैंने उनकी आँखों में आँसू देखे। उनके खिलाफ तो मुझे बडे सख्त लेख लिखने पड़े थे। पर उस समय मेरी आँखों के सामने इस बात का चित्र खड़ा हो गया कि मौका पड़ने पर मनुष्य-हृदय कितना कोमल हो सकता है। पाठक स्वयं सोच सकते हैं कि इस विधि में बहुत समय नहीं लगा। फिर भी मि० डोक और उनकी धर्मपत्नी बड़े अधीर रहे थे कि मैं शीघ्र शान्त और स्वस्थ हो जाऊँ? चोट के बाद मेरी मानसिक प्रवृत्ति के कारण उन्हें दुःख हो रहा था। उन्हें यह भय था कि कहीं मेरे स्वास्थ्य पर इसका विपरीत असर न हो। इसलिए संकेत द्वारा तथा अन्य युक्ति से वे पलंग के पास से सबको दूर ले गये और मुझे लिखने वगैरा की मनाही कर दी। मैंने चाहा (और उसे लिख कर प्रकट किया) कि सोने से पहले और चित्त शांति के लिए उनकी लड़की ओलिव, जो उस समय बालिका

थी, मुझे मेरा प्रिय अंग्रेजी भजन सुना दे। नरसिंहराव ने इस का गुजराती अनुवाद किया। उस पर से बहुत से गुजराती इस भजन का अर्थ जानते हैं। उसकी पहली लाइन इस प्रकार है:—

Lead kindly light;

मेरी इस इच्छा को डोक ने खूब पसन्द किया। अपने इस भाव को मधुर हास्य द्वारा प्रकट करते हुए ओलिव को बुलाया और दरवाजे के बाहर खड़ी रहकर मन्द स्वर में वह भजन गाने के लिए उससे कहा। यह लिखते समय वह पूरा दृश्य मेरी आँखों के सामने खड़ा हो रहा है। और ओलिव की वे दिव्य तानें अब भी मेरे कानों में गूँज रही हैं।

इस प्रकरण में मैं कई ऐसी बातें लिख गया, जिन्हें स्वयं मैं और पाठक अनावश्यक मानेंगे। तथापि मैं एक और स्मरणीय प्रसंग यहाँ लिखे बिना नहीं रह सकता। उस समय के स्मरण मेरे लिए इतने पवित्र हैं कि मैं उन्हें छोड़ नहीं सकता। डोक और उनके कुटुम्बियों ने उन दिनों मेरी जो सेवा की उसका वर्णन मुझसे कैसे हो सकता है? जोसेफ डोक बॅाप्टिस्ट संप्रदाय के पादरी थे। दक्षिण अफ्रीका में आने से पहले वे न्यूजीलैण्ड में थे। इस घटना के छः महीने पहले की बात है, एक दिन वह मेरे दफ्तर में आये और अपना कार्ड भेजा। उसमें 'रेवरेण्ड' विशेषण का उपयोग किया गया था। इस पर से मैंने झूठमूठ ही यह कल्पना कर ली कि जिस प्रकार अन्य कितने ही पादरी मुझे ईसाई बनने का उपदेश करने या आन्दोलन बन्द करने को कहने के लिए आते हैं, उसी प्रकार अथवा बुजुर्ग बनकर मेरे साथ सहानुभूति दिखाने के लिए वह आये होंगे। पर ज्योंही मि० डोक अन्दर आए और बातचीत करने लगे त्योंही कुछ मिनटों में ही मैंने अपनी भूल को समझ लिया और दिल

की दिल ही में मैंने उनसे क्षमा माँग ली। उस दिन से हम बड़े मित्र बन गए। युद्ध सम्बन्धी तमाम समाचारों से आपने अपने को परिचित बताया और कहा इस युद्ध में आप मुझे अपना मित्र समझिए। मुझसे जो कुछ सेवा बनेगी वह सब मैं अपना धर्म समझ कर करने की इच्छा रखता हूँ। ईसा के जीवनादर्श का चिंतन-मनन करके मैंने तो यही सीखा है कि आपत्काल में दीन-दुखियों का साथ देना चाहिए। यह हमारा पहला परिचय था। इसके बाद दिनोंदिन हमारा स्नेह-सम्बन्ध बढ़ता ही गया। पाठक इस इतिहास में डोक का नाम आगे भी कई स्थानों पर पढ़ेंगे। पर डोक-कुटुम्ब ने मेरी जो सेवा की, उसका वर्णन करने से पहले उनका थोड़ा बहुत परिचय दे देना भी आवश्यक था। रात हो या दिन कोई न कोई मेरे पास जरूर बैठा रहता था। जबतक मैं उनके घर में रहा तबतक उनका मकान केवल एक धर्मशाला ही बन गया था। भारतीयों में फेरीवाले लोग भी थे। उनके कपड़े मजदूरों के जैसे और मैले भी रहते। उनके साथ में एक गठरी या टोकरी भी अवश्य रहती। जूतों पर सेर भर धूल भी। मि० डोक के मकान पर ऐसे लोगों से लगाकर अध्यक्ष तक के सभी दरजे के लोगों की एक भीड़ लगी रहती। सब मेरा हाल पूछने और डाक्टर की आज्ञा मिलने पर मुझे मिलने के लिए चले आते। सभी को वे समान भाव से और सम्मानपूर्वक अपने दीवानखाने में बैठाते और जबतक मैं उनके यहाँ रहा तबतक उनका सारा समय मेरी शुश्रूषा में और मुझ से मिलने के लिए आनेवाले सैंकड़ों सज्जनों के आदर सत्कार ही में जाता। रात को भी दो-तीन बार मि० डोक चुपचाप मेरे कमरे में आकर जरूर देख जाते। उनके घर पर मुझे एक दिन भी ऐसा खयाल नहीं हुआ कि यह मेरा घर

नहीं है, या मेरे सम्बन्धी होते तो इससे अच्छी सेवा करते। पाठक यह भी ख़याल न कर लें कि इतने जाहिरा तौर पर भारतीय आन्दोलन का पक्ष ग्रहण करने तथा मुझे अपने घर में स्थान देने के कारण उन्हें कुछ सहना न पड़ा होगा। वे अपने पन्थ के गोरों के लिए एक गिरजाघर चला रहे थे। उनकी आजीविका इन पन्थवालों के हाथों में थी। सभी लोग तो उदार दिल के होते नहीं हैं। उन लोगों के दिल में भी भारतीयों के खिलाफ कुछ भाव थे ही। पर डोक ने इसकी कोई परवाह नहीं की। हमारे परिचय के आरम्भ ही में एक दिन मैंने इस नाजुक विषय पर चर्चा छेड़ी थी। उनका उत्तर यहाँ लिख देने योग्य है। उन्होंने कहा—'मेरे प्यारे दोस्त, ईसा के धर्म को आपने क्या समझ रखा है? मैं उस पुरुष का अनुयायी हूँ जो अपने धर्म के लिए फांसी पर लटक गया और जिसका प्रेम विश्वव्यापी था। जिन गोरों के मुझे छोड़ देने का आपको डर है, उनकी आँखों में ईसा के अनुयायी की हैसियत से जरा भी मैं शोभा पाना चाहूँ तो मुझे जाहिरा तौर से अवश्य ही इस युद्ध में भाग लेना चाहिए और इसके फलस्वरूप यदि वे मेरा त्याग भी करदें तो मुझे इसमें जरा भी बुरा न मानना चाहिए। इसमें शक नहीं कि मेरी आजीविका का आधार उनपर है पर आप यह कदापि न समझ बैठें कि आजीविका के लिए मैंने उनसे यह संबंध किया है या वे ही मेरी रोजी देनेवाले हैं। मेरी रोजी का देनेवाला तो परमात्मा है। यह है केवल निमित्तमात्र। मेरा उनका सम्बन्ध होते समय हमारा उनका यह ठहराव हो चुका है कि मेरी धार्मिक स्वतन्त्रता में कोई हस्तक्षेप न करेगा। इसलिए आप मेरी ओर से निश्चिन्त रहें। मैं भारतीयों पर अहसान करने के लिए इस युद्ध में सम्मिलित नहीं हो रहा हूँ। मैं तो इसे अपना

धर्म समझकर ही इसमें भाग ले रहा हूँ। पर असल बात यह है कि मैंने हमारे गिरजा के डीन के साथ बातचीत करके भी इस बात का खुलासा कर लिया है। मैंने उन्हें यह स्पष्ट कह दिया है कि अगर मेरा भारतीयों से सम्बन्ध रखना आपको पसन्द न हो तो आप खुशी से मुझे रुखसत दे सकते हैं, और दूसरा पादरी तलाश कर सकते हैं। पर उन्होंने इस विषय में मुझे बिल्कुल निश्चिन्त कर दिया है, बल्कि और उत्साहित किया है। आपको यह कदापि नहीं समझ लेना चाहिए कि सभी गोरे आपकी तरफ एकसी तिरस्कार की नजर से ही देखते हैं। आप नहीं जानते कि अप्रत्यक्ष रूप से आपके विषय में वे कितना सद्भाव रखते हैं। इसे तो मैं ही जान सकता हूँ और आपको भी यह कुबूल करना होगा।"इतनी स्पष्ट बातचीत होने पर फिर मैंने इस नाजुक विषय पर कभी बातचीत नहीं छेड़ी। इसके कुछ साल बाद रे० डोक रोडेशिया में अपने धर्म की सेवा करते हुए स्वर्ग-वासी हो गये। तब हमारा युद्ध समाप्त नहीं हुआ था। उनकी मृत्यु के समाचार प्राप्त होने पर उनके पंथवालों ने अपने गिरजा घर में एक सभा निमन्त्रित की थी। उसमें काछलिया तथा अन्य भारतीयों के साथ-साथ मुझे भी बुलाया गया था। मुझे वहाँ भाषण भी देना पड़ा था।

अच्छी तरह चलने-फिरने लायक होने में मुझे करीब दस-ग्यारह दिन लगे होंगे। ऐसी स्थिति होते ही मैंने इस प्रेमी कुटुम्ब से बिदा माँगी। वह वियोग हम दोनों के लिए बड़ा दुःखदायी था।

(२३)

गोरे सहायक

इस युद्ध में इतने गोरों ने—जिनमें कई प्रतिष्ठित भी थे, भारतीयों का साथ दिया कि यदि मैं यहाँ पर उनका एक साथ परिचय दे दूँ तो अनुचित न होगा। बल्कि इससे कई फायदे भी हैं। एक तो यह कि आगे चलकर स्थान स्थान पर जब उनका उल्लेख आवेगा तब पाठकों को वे अपरिचित नहीं मालूम होंगे, और दूसरे, कथा-प्रवाह में मुझे उनका परिचय देने के लिए बीच ही में रुकना नहीं पड़ेगा। पाठक उनकी प्रतिष्ठा का और उनकी सहायता की कीमत का अंदाज नीचे दिये उनके परिचय के क्रम से न लगावें। जिस क्रम से मेरा उनसे परिचय हुआ उसे तथा युद्ध के जिन-जिन विभागों में उन्होंने सहायता दी उसे ध्यान मे रखकर मैं यहाँ पर उनका परिचय दे रहा हूँ।

सबसे पहले अल्बर्ट वेस्ट का नाम उल्लेखनीय है। कौम के साथ तो उनका सम्बन्ध युद्ध के पहले ही से हो गया। पर मुझसे इससे भी पहले उनका परिचय हुआ था। जब मैंने जोहान्सबर्ग में अपना दफ्तर खोला उस समय मेरे साथ में बालबच्चे नहीं थे। पाठकों को याद होगा कि दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों का

तार मिलते ही मैं एकदम रवाना हो गया था। और सो भी एक साल में लौट आने के विचार से। जोहान्सबर्ग में एक निरामिष भोजन-गृह था। उसमें मैं नियम से सुबह-शाम भोजन के लिए जाता था। वेस्ट भी वहीं आते थे। वहीं मेरा उनका परिचय हुआ। वह एक दूसरे गोरे के भागीदार बनकर एक छापाखाना चला रहे थे। सन् १९०४ में जोहान्सबर्ग के भारतीयों में भीषण प्लेग का प्रकोप हुआ था। मैं रोगियों की सेवा शुश्रूषा में लगा और उसके कारण उस भोजन-गृह का मेरा जाना अनियमित हो गया। जब कभी जाता तो इस खयाल से कि मेरे संसर्ग का भय दूसरे गोरे को न हो, मैं सबके पहले ही भोजन कर लेता था। जब लगातार दो दिन तक उन्होंने मुझे नहीं देखा तो वह घबड़ा गये। तीसरे दिन सुबह जब मैं हाथ-मुँह धो रहा था वेस्ट ने मेरे कमरे का दरवाजा खटखटाया। दरवाजा खोलते ही मैंने वेस्ट का प्रसन्न चेहरा देखा।

उन्होंने हँसकर कहा—आपको देखते ही मेरे दिल को तसल्ली हुई। आपको भोजन-गृह में न देखकर मैं घबड़ा गया था। अगर मुझसे आपकी कोई सहायता हो सकती हो तो जरूर कहें।

मैंने हँसते हुए उत्तर दिया—"रोगियों की सुश्रूषा करोगे?"
"क्यों नहीं? जरूर, मैं तैयार हूँ।"

इस विनोद के बीच मैंने कुछ सोच लिया मैंने कहा—"आप से मैं दूसरे प्रकार के उत्तर की अपेक्षा ही नहीं करता था। पर इस काम के लिए तो मेरे पास बहुत से सहायक हैं। आपसे तो मैं इससे भी कठिन काम लेना चाहता हूँ। मदनजीत यहीं पर रुका हुआ है। 'इण्डियन ओपीनियन' और प्रेस निराधार है। मदनजीत को मैंने —— काम के लिए रख छोड़ा है। आप

अगर डर्बन जाकर उस काम को संभाल लें तो सचमुच यह बड़ी भारी सहायता होगी। पर मैं आपको अधिक नहीं दे सकूँगा। सिर्फ १० पौण्ड मासिक वेतन। हाँ, अगर प्रेस में कुछ लाभ हो तो उसमें आपका आधा हिस्सा रहेगा।"

"काम अवश्य जरा कठिन है। मुझे अपने भागीदार की आज्ञा लेनी होगी। कुछ उगाही भी बाक़ी है। पर कोई चिंता की बात नहीं। आज शाम तक की मोहलत आप मुझे दे सकते हैं?"

"अवश्य, हम लोग छः बजे शाम को पार्क में मिलेंगे।"

"जरूर, मैं भी आ पहुँचूँगा।"

छः बजे शाम को हम मिले। भागीदार की आज्ञा भी मिल गई। उगाही काम को मेरे जिम्मे करके दूसरे दिन शाम की ट्रेन से मि० वेस्ट रवाना हो गये। एक महीने के अन्दर उनकी यह रिपोर्ट आयी — "इस छापेखाने में नफा तो नाम को भी नहीं है। नुकसान ही नुकसान है। उगाही बहुत बाकी है लेकिन हिसाब का कोई ठिकाना नहीं है। ग्राहकों के नाम भी पूरे नहीं लिखे गये हैं। मैं यह शिकायत करने के खयाल से नहीं लिखता। आप विश्वास रखिए, मैं लाभ के लालच से यहाँ नही आया हूँ। अतः इस काम को भी नहीं छोड़ूँगा। पर मैं आपको यह तो सूचित किये ही देता हूँ कि बहुत दिन तक आपको घटी-पूर्ति करनी होगी।"

ग्राहकों को बढ़ाने तथा मेरे साथ कुछ बातचीत करने के लिए मदनजीत जोहान्सबर्ग आये थे। मैं हर महीने थोड़े-बहुत पैसे देकर घटी की पूर्ति किया ही करता था। इसलिए मैं निश्चयरूप से यह जानना चाहता था कि और कितना गहरा इस काम में मुझे उतरना होगा? पाठकों से मैं यह तो पहले ही कह चुका हूँ कि मदनजीत को छापेखाने का कोई अनुभव

नहीं था। इसलिए मैं इस बात के विचार ही में था कि किसी अनुभवी आदमी को उनके साथ में रख दिया जाय तो बड़ा अच्छा हो। यह विचार मैं कर रहा था कि इधर प्लेग का प्रकोप शुरू हो गया। इस काम में तो मदनजीत बड़े कुशल और निर्भय आदमी थे इसलिए मैंने उनको यहीं रख लिया। इसलिए वेस्ट के स्वाभाविक प्रश्न का उपयोग मैंने कर लिया। और उन्हें समझा दिया कि प्लेग के कारण ही नहीं बल्कि मुस्त-किल तौर पर उन्हें यहाँ रहना होगा। इसलिए उन्होंने उपयुक्त रिपोर्ट भेजी। पाठक जानते ही हैं कि इसलिए छापेखाने को तथा पत्र को भी फिनिक्स ले जाना पड़ा। वेस्ट के १० पौण्ड मासिक वेतन के बदले फिनिक्स में ३ पौण्ड हो गये। पर इन परिवर्तनों में वेस्ट की पूरी सम्मति थी। मुझे तो एक दिन भी ऐसा अनुभव नहीं हुआ कि उन्हें कभी यह विचार ही पैदा हुआ हो कि मेरी आजीविका कैसे चलेगी। धर्म का अभ्यास न होने पर भी वह एक अत्यन्त धार्मिक मनुष्य हैं। वह बड़े ही स्वतन्त्र स्वभाव के मनुष्य हैं। जो वस्तु उन्हें जैसी दीखे उसे वैसी ही कहनेवाले हैं। काले को कृष्णवर्णी नहीं काला ही कहेंगे। उनकी रहन-सहन बड़ी सीधीसादी थी। हमारे परिचय के समय वह ब्रह्मचारी थे। मैं जानता हूँ कि वह ब्रह्मचर्य का पालन भी करते थे। कितने ही साल बाद वह इग्लैंड गये और अपने माता-पिता का क्रिया-कर्म कर के अपनी शादी भी कर लाये। मेरी सलाह से अपने साथ में स्त्री, सास, और कुँवारी बहन को भी ले आये। वे सब फिनिक्स में ही बड़ी सादगी के साथ रहते थे और हर प्रकार से भारतीयों में मिल जाते थे। मिस वेस्ट अब ३५ वर्ष की हुई होंगी। पर अब भी कुमारी हैं। वह अपना जीवन बड़ी पवित्रता के साथ व्यतीत कर रही हैं। उन्होंने कोई

कम सेवा नहीं की। फिनिक्स में रहनेवाले बालशिष्यों को रखना, उन्हें अंग्रेजी पढ़ाना, सार्वजनिक पाकशाला में रसोई करना, मकानों को साफ रखना, किताबें सँभालना, छापाखाने में टाइप जमाना (कम्पोज करना), तथा छापखाने का अन्य काम करना आदि सब काम वे करती थीं। इन कामों में से कभी एक काम के लिए भी इस महिला ने आनाकानी नहीं की। आजकल वह फिनिक्स में नहीं हैं। पर इसका कारण यह है कि मेरे भारतवर्ष लौट आने पर उनका हल्का-सा भार भी छापखाना नहीं उठा सकता था। वेस्ट की सास की अवस्था इस समय ८० वर्ष से भी अधिक की होगी। वह सिलाई का काम बहुत अच्छा जानती हैं। और ऐसे काम में इतनी वयोवृद्धा महिला भी पूरी सहायता करती थी। फिनिक्स में उन्हें सब दादी (मैनी) कहते थे और उनका बड़ा सम्मान करते थे। मिसेज वेस्ट के विषय में तो कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं है। जब फिनिक्स में से बहुत से आदमी जेल चले गये तब वेस्ट-कुटुम्ब ने मगनलाल गांधी के साथ मिल कर फिनिक्स का सब कामकाज सँभाल लिया था। पत्र और छापखाने का बहुत-सा काम वेस्ट करते थे। मेरी तथा अन्य लोगों की अनुपस्थिति में गोखले को तार वगैरा भेजना होता तो वेस्ट ही भेजते। अन्त में वेस्ट भी पकड़े गये (पर वे फौरन ही छोड़ दिये गये थे) तब गोखले घबराये। और एन्ड्रयूज तथा पियर्सन को उन्होंने भेजा।

दूसरे हैं रिच। उनके विषय में पहले लिख चुका हूँ। वे भी युद्ध के पहले ही मेरे दफ्तर में आ गये थे। मेरे बाद मेरा काम सँभालने के उद्देश्य से वे बैरिस्टर होने के लिए विलायत गये थे। वहाँ पर कमिटी की तमाम जिम्मेदारी उन्हींके सिर पर थी।

तीसरे मित्र पोलक हैं। वेस्ट की तरह इनके साथ भी मेरा

परिचय भोजन-गृह में हुआ। वह ट्रान्सवाल के "क्रिटिक" के उप-सम्पादक की जगह छोड़कर 'इंडियन ओपीनियन' में आये थे। सब कोई जानते हैं कि उन्होंने युद्ध (सत्याग्रह) के लिए इग्लैंड और सारे भारतवर्ष में भ्रमण किया था। रिच विलायत गये कि मैंने उन्हें फिनिक्स में अपने दफ्तर में बुला लिया। वहाँ आर्टिकल्स दिये और ये भी वकील बन गये। बाद में उन्होंने शादी की। मिसेज़ पोलक को भी भारतवर्ष जानता है। इस महिला ने भी अपने पति की युद्ध के काम में बड़ी सहायता की थी। एक दिन भी उसमें विघ्न नहीं डाला। और यद्यपि आज वे दोनों असहयोग में हमारा साथ नहीं दे रहे हैं, तथापि वह यथाशक्ति भारत की सेवा अब भी किया ही करते हैं।

अब हर्मन कैलनबैक का परिचय सुनिए। इनसे भी मेरा परिचय युद्ध के पहले ही हुआ था। वह जर्मन हैं। और यदि जर्मन-अंग्रेजों का युद्ध न हुआ होता तो वह आज भारत में होते। उनका हृदय विशाल है। वह बेहद भोले हैं। उनकी भावनायें बड़ी तीव्र हैं। वह शिल्प का धंधा करते हैं। ऐसा एक भी काम नहीं कि जिसे करते हुए उन्होंने ना-हां की हो। जब मैंने जोहान्सबर्ग से अपना घरबार उठा लिया, तब हम दोनों एक साथ ही रहते थे। मेरा खर्चा भी वही ही उठाते थे। घर तो खुद उन्हींका था। खाने वगैरा का खर्च देने की बात जब मैं निकालता तब वह बहुत चिढ़ कर कहते कि उन्हें फिजूल-खर्ची से बचानेवाला तो मैं ही था और मुझे मना करते। उनके इस कथन में कुछ सार अवश्य था। पर गोरों के साथ मेरा जो व्यक्तिगत सम्बन्ध था, उसका वर्णन यहाँ नहीं किया जा सकता। गोखले दक्षिण अफ्रीका आये तब जोहान्सबर्ग में कैलनबैक के बँगले में ही ठहराये गये थे। गोखले इस मकान से बड़े प्रसन्न हुए। उनको पहुँचाने के लिए

कैलनबैक जंजीबार तक मेरे साथ आये थे। पोलक के साथ वह भी गिरफ्तार हो गये थे और जेल की सैर कर आये थे। अन्त में जब दक्षिण अफ्रीका छोड़कर गोखले से विलायत में मिलकर मैं भारत लौट रहा था तब कैलनबैक भी साथ में थे। पर लड़ाई के कारण उन्हें भारत आने की आज्ञा नहीं मिली। अन्य जर्मनों के साथ इन्हें भी नजर बन्द रक्खा गया था। महायुद्ध के समाप्त होते ही वह फिर जोहान्सबर्ग चले गये हैं और उन्होंने अपना धंधा शुरू कर दिया है। जोहान्सबर्ग में सत्याग्रही कैदियों के कुटुम्बों को एक साथ रखने का विचार जब हुआ, तब मि० कैलन बैक ने अपना ११०० बीघे का खेत कौम को योंही बिना किराया लिये सौंप दिया। इसका विशेष विवरण पाठक आगे चलकर पढ़ेंगे।

अब एक पवित्र बाला का परिचय देता हूँ। गोखले ने उसे जो प्रमाण-पत्र दिया उसको पाठकों के सामने रक्खे बिना मैं नहीं रह सकता। इस बाला का नाम मिस श्लेजीन है। मनुष्यों को पहचानने की गोखले की शक्ति अद्भुत थी। डेलागोआबे से जंजीबार तक बातचीत करने के लिए हमें अच्छा शान्त समय मिल गया था। दक्षिण अफ्रीका के भारतीय तथा अंग्रेज नेताओं से उनका अच्छा परिचय हो गया था। इनमें से मुख्य पात्रों का आपने सूक्ष्म चरित्र-चित्रण कर बताया और मुझे बराबर याद है कि उन्होंने मिस श्लेजीन को भारतीय तथा गोरों में भी सबसे पहला स्थान दिया। 'इसका जैसा निर्मल अंतःकरण, काम के वक्त एकाग्रता, दृढ़ता मैंने बहुत थोड़े लोगों में देखी है। और बिना किसी आशा-प्रलोभन के इसे भारतीय आन्दोलन में इस तरह सर्वार्पण करते हुए देख कर तो मैं आश्चर्य चकित हो गया हूं। इन सभी गुणों के साथ-साथ उसकी होशियारी और फुर्ती-

लापन उसे इस युद्ध में एक अमूल्य सेविका बना रहा है। मेरे कहने की आवश्यकता तो नहीं, पर फिर भी कहे देता हूँ कि तुम इसे मत छोड़ना।" मेरे पास एक स्काच कुमारी शार्टहैंड और टाइपिस्ट का काम करती थी। उसकी भी प्रामाणिकता और नीतिशीलता बेहद थी। मुझे अपने जीवन में यों तो कई कटु अनुभव हुए हैं, पर इतने सुन्दर चारित्र्यवान् अंग्रेज तथा भारतीयों से मेरा सम्बन्ध हुआ है कि मैं तो उसे सदा अपना अहोभाग्य ही मानता आया हूँ। इस स्काच कुमारी मिस डिक के विवाह का अवसर आया और उसका वियोग हुआ। मि० कैलनबैक मिस श्लेज़ीन को लाये और मुझे कहने लगे "इस बाला को इसकी माँ ने मुझे सौंपा है। यह चतुर है, प्रामाणिक है पर इसमें मजाक की आदत और स्वाधीनता हद से ज्यादा है। शायद इसे उद्धत भी कह सकते हैं। आप सँभाल सकें तो इसे आप अपने पास रक्खें। मैं इसे आपके पास तनख्वाह के लिए नहीं रखता।" मैं तो अच्छे शार्टहैंड टाइपिस्ट को २० पौंड मासिक वेतन तक देने के लिए तैयार था। मिस श्लेज़ीन की योग्यता और शक्ति का मुझे कुछ पता नहीं था। मि० कैलेनबैक ने कहा—"अभी तो इसे महीने के छः पौंड दीजियेगा।" मैंने फौरन मजूर कर लिया। शीघ्र ही मुझे उनके विनोदी स्वभाव का अनुभव हुआ। पर एक महीने के अन्दर तो मुझे उसने अपने वश मे कर लिया। रात और दिन जिस समय चाहो काम देती। उसके लिए कोई बात असम्भव या मुश्किल तो थी ही नहीं। इस समय उसकी उम्र १६ वर्ष की थी। मवक्किल तथा सत्याग्रहियों को भी उसने अपनी निस्पृहता तथा सेवाभाव से वश में कर लिया था। यह कुमारी आफिस और युद्ध की एक चौकीदार बन गयी। किसी भी कार्य की नीति

के विषय में उसके हृदय में शंका उत्पन्न होते ही वह स्वतन्त्रता-पूर्वक मुझसे वाद-विवाद करती। और जबतक मैं उसकी नीति के विषय में उसे कायल न कर देता तबतक उसे कभी सन्तोष नहीं होता था। जब हम सब लोग गिरफ्तार हो गये और अगुआओं में से लगभग अकेले काछलिया बाहर रह गये तब इस कुमारिका ने लाखों का हिसाब सँभाला था। भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्यों से काम लिया था। काछलिया भी उसी का आश्रय लेते, उसी की सलाह लेते थे। हम लोगों के जेल में चले जाने पर डोक ने 'इण्डियन ओपीनियन' की जिम्मेदारी अपने हाथों में ली। पर वह वृद्ध पुरुष भी 'इण्डियन ओपीनियन' के लिए लिखे हुए लेख मिस श्लेजीन से पहले पास करा लेते। और मुझे उन्होंने कहा "अगर मिस श्लेजीन नहीं होतीं तो मैं कह नहीं सकता कि अपने काम से मुझे खुद भी सन्तोष होता या नहीं। उसकी सहायता और सूचनाओं की सच्ची कीमत आँकना बहुत मुश्किल है।" और कई बार उसकी सूचनायें उचित ही होंगी यह समझ-कर मैं उन्हें मंजूर भी कर लिया करता। पठान, पटेल, गिरमि-टिया, आदि सब जाति के और सभी उम्र के भारतीयों से वह सदा घिरी हुई रहती थी। वे उसकी सलाह लेते और वह जैसा कहती वैसा ही करते। दक्षिण अफ्रीका में अक्सर गोरे लोग भारतीयों के साथ एक ही डिब्बे में नहीं बैठते। ट्रान्सवाल में तो उनको एक जगह बैठने की मनाई भी करते हैं। वहाँ तो यह भी कानून था कि सत्याग्रही तीसरे ही दर्जे में सफर करें। इतना होते हुए भी मिस श्लेजीन जानबूझ कर भारतीयों के डब्बे में बैठतीं और गार्ड के साथ झगड़ा भी करतीं। मुझे भय था और श्लेजीन को भी इस बात की शंका थी कि वह कहीं गिरफ्तार न हो जाय। पर यद्यपि सरकार को उसकी शक्ति, उसका युद्ध-विषयक ज्ञान

और सत्याग्रहियों के हृदय पर उसने जो अधिकार प्राप्त कर लिया था उसका पता था तथापि उसने मिस श्लेजीन को गिरफ्तार नहीं किया। और इसमें उसने सचमुच बुद्धि और विवेक से ही काम लिया। मिस श्लेजीन ने कभी अपने छः के सवा छः पौंड होने की न तो इच्छा ही की और न कुछ कहा ही। उनकी कितनी ही आवश्यकताओं का जब मुझे पता लगा तब मैंने उनके दस पौंड कर दिये। उन्होंने बड़ी हिचकचाहट के साथ उसको स्वीकार किया पर उससे आगे बढ़ाने का तो उन्होंने साफ इन्कार कर दिया। उन्होंने कहा—"इससे अधिक की मुझे आवश्यक्ता ही नहीं और यदि इतने पर भी ले लूँ तो जिस उद्देश से मैं आपके पास आयी हूँ वही व्यर्थ हो जाय।" इस उत्तर के आगे मैं चुप हो गया। पाठक शायद यह जानने के लिए उत्सुक हो रहे होंगे कि मिस श्लेजीन ने कहाँ तक शिक्षा पायी थी? वे केप यूनीवर्सिटी की इन्टरमीजिएट परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुकी थीं। शार्टहैंड वगैरा में पहले दर्जे के प्रमाणपत्र प्राप्त किये थे। युद्ध से मुक्त होने पर वे उसी यूनीवर्सिटी की ग्रेज्युएट हुईं और इस समय ट्रान्सवाल की किसी कन्या पाठशाला में प्रधानाध्यापिका हैं।

हर्बर्ट किचन एक शुद्ध-हृदय अंग्रेज थे। वे बिजली का काम-काज करते थे। बोअर युद्ध में उन्होंने हमारे साथ काम किया। कुछ समय तक वे 'इण्डियन ओपीनियन' के संपादक भी रहे थे। उन्होंने मृत्यु तक ब्रह्मचर्य का पालन किया था।

ऊपर जिनका परिचय दे चुका वे तो मेरे खास परिचय में आये हुए हैं। उन्हें ट्रान्सवाल के अग्रगण्य गोरों में नहीं गिन सकते। तथापि यह कहा जा सकता है कि उन्होंने बड़ी सहायता की।

प्रतिष्ठा की दृष्टि से हास्किन को अग्रस्थान देना चाहिए। उनका परिचय पहले ही दे चुका हूँ। उनकी अध्यक्षता में सत्याग्रह युद्ध को सहायता करनेवाले गोरों का स्थायी मंडल स्थापित किया गया था। इस मंडल ने अपनी शक्तिभर सहायता की थी। युद्ध का रंग जमने पर स्थानीय सरकार के साथ प्रत्यक्ष सलाह मशवरा तो कैसे किया जा सकता है? इसका मूलभूत हेतु असहयोग नहीं था। पर सरकार ही अपने कानूनों का भंग करनेवाले मनुष्यों के साथ सलाह वगैरा करना पसन्द नहीं करती थी। इसलिए इस समय यह गोरों का मंडल सरकार और सत्याग्रहियों के बीच एक अनुसंधान रूप था।

आलबर्ट कार्टराइट का परिचय भी मैं पहले ही दे चुका हूँ। डोक के ही जैसा संबंध रखनेवाले, और बहुत भारी सहायता करनेवाले एक और पादरी सज्जन थे। उनका नाम था रेवरंड चार्ल्स फिलिप्स। बहुत वर्ष पहले वे ट्रान्सवाल में कांग्रेगेशनल मिनिस्टर थे। उनकी सुशीला स्त्री भी उनकी बड़ी सहायता करती। एक तीसरे ख्यातनामा पादरी भी थे। उन्होंने पादरीपन छोड़कर पत्र का सम्पादन ग्रहण किया था। आप ब्लुम फोंटीन में प्रकाशित होनेवाले 'फ्रैण्ड' नामक दैनिक के सम्पादक रेवेरंड डुडनी हैं। उन्होंने गोरों के द्वारा अपमानित होकर भी अपने पत्र में भारतीयों का पक्ष किया था।। दक्षिण अफ्रीका के प्रसिद्ध वक्ताओं में उनकी गणना होती थी। इसी प्रकार 'प्रिटोरिया न्यूज' के सम्पादक वेरस्टेन्ट भी खुले दिल से भारतीयों की सहायता करते थे। एक बार प्रिटोरिया के टाउनहाल में वहाँ के मेअर की अध्यक्षता में गोरों की एक विराट सभा हुई थी। उसका हेतु था एशिया निवासियों की बुराई और खूनी कानून की हिमायत करना। अकेले वेरस्टेन्ट ने इसका विरोध किया। अध्यक्ष ने उन्हें बैठ जाने

की आज्ञा दी, पर उन्होंने बैठने से साफ इन्कार कर दिया। इसपर गोरों ने उनके बदन पर हाथ डालने की धमकी भी दी तथापि वे टाउनहाल में उसी प्रकार नरसिंह की तरह गरजते रहे। आखिर सभा को अपना प्रस्ताव बिना ही पास किये उठना पड़ा। और भी कई ऐसे गोरों का नाम मैं गिना सकता हूँ, जो किसी संस्था में शामिल तो न थे पर सहायता करने का एक भी अवसर खाली नहीं जाने देते थे। पर अब इस अध्याय को मैं अधिक बढ़ाना ठीक नहीं समझता। केवल तीन स्त्रियों का परिचय देकर अब मैं इसे समाप्त कर देता हूँ।

पहली महिला हैं मिस हाब हाउस। लार्ड हॉब हाउस की वे पुत्री हैं। बोअर युद्ध शुरू हुआ तब यह महिला लार्ड मिलनर के सामने से होकर ट्रान्सवाल पहुँची थी। जब लार्ड किचनर ने अपनी संसारप्रसिद्ध और जगत्प्रसिद्ध कांसेन्ट्रेशन कैंप, ट्रांसवाल और फ्रीस्टेट में बैठायी उस समय यह महिला अकेली बोअर औरतों में घूमती और उन्हें दृढ़ रहने—धीरज रखने के लिए उपदेश करती और उत्साह देती। वह स्वयं मानती थी कि इस युद्ध में अंग्रेजों की ओर न्याय नहीं है, इसलिए स्वर्गीय स्टेड की तरह परमात्मा से प्रार्थना करती थी कि इस युद्ध में अंग्रेजों का पराभव हो जाय। इस प्रकार बोअरों की सेवा करने पर जब उसने देखा कि जिस अन्याय के खिलाफ बोअर लोग लड़े थे, वैसा ही अन्याय अज्ञान के कारण वे ही अब भारतीयों के प्रति कर रहे हैं तब उससे नहीं रहा गया। बोअर जनता उसका बड़ा सन्मान करती थी। और उनपर बहुत प्रेम रखती थी। जनरल बोथा के साथ उसका बहुत निकट संबंध था। उन्हींके यहाँ वह ठहरती थी खूनी कानून रद्द करवाने के लिए उसने अपनी ओर से कुछ उठा न रक्खा।

४. दूसरी महिला हैं ओलिव श्रायनर। इस परिवार के विषय में मैं पाँचवें प्रकरण मे लिख गया हूँ। दक्षिण अफ्रीका के उसी विख्यात श्रायनर कुटुम्ब में उनका जन्म हुआ था। वे बड़ी विदुषी थीं। श्रायनर नाम इतना विख्यात है कि जब उनकी शादी हुई तब उनके पति को श्रायनर नाम ग्रहण करना पड़ा, जिससे ओलिव का श्रायनर कुटुम्ब के साथ सम्बन्ध दक्षिण अफ्रीका के गोरों से लुप्त न हो जाय। यह कोई उनका वृथाभिमान नहीं था। मेरा विश्वास है कि उन महिला के साथ मेरा अच्छा परिचय था। उनकी सादगी और नम्रता उनकी विद्वत्ता के समान ही उनका आभूषण थी। कभी एक दिन भी उनके दिमाग में यह खयाल नहीं आया कि उनके हबशी नौकर और स्वयं उनके बीच कोई अन्तर है। जहाँ-जहाँ अंग्रेजी भाषा बोली जाती है, वहाँ-वहाँ उनकी 'ड्रीम्स' नामक पुस्तक आदर के साथ पढ़ी जाती है। वह गद्य है, पर काव्य की पंक्ति मे रखने योग्य है। और भी उसने बहुत-कुछ लिखा है। इतनी विदुषी, इतनी बड़ी लेखिका होने पर भी अपने घर में रसोई करना, घर साफ-सुथरा रखना तथा बर्तन आदि साफ करना आदि कामों से न तो वह कभी शर्माती और न कभी परहेज करती थी। उनका यह खयाल था कि वह उपयोगी मेहनत उनकी लेखन-शक्ति को मन्द करने के बदले उत्तेजित ही करती थी, और उनके प्रभाव से भाषा में एक प्रकार की मर्यादा और व्यवस्थितता आ जाती थी। इस महिला ने भी दक्षिण अफ्रीका के गोरों में उनका जो कुछ भी वजन था, उसका उपयोग भारतीयों के पक्ष में किया था।

५. तीसरी महिला मिस माल्टीनो थीं। वे दक्षिण अफ्रीका के पुराने माल्टीनो कुटुम्ब की बुजुर्ग महिला थीं। उन्होंने भी अपनी शक्तिभर सहायता की थी।

यदि पाठक पूछें कि इन तमाम गोरों की सहायता का क्या फल हुआ, तो मैं उत्तर दूँगा कि फल-निर्देश के लिए मैंने यह अध्याय नहीं लिखा है। कितनों का काम ही, जिसका वर्णन पहले दिया जा चुका है, फलस्वरूप है। पर यह सवाल जरूर खड़ा हो सकता है कि इतने हितैषी गोरों की सम्पूर्ण प्रवृत्ति का परिणाम क्या हुआ? पर यह युद्ध ही ऐसा था कि उसका परिणाम स्वयं युद्ध में ही समाविष्ट था। यह युद्ध स्वयं काम करने की शक्ति, कष्ट-सहन, त्याग और ईश्वर पर श्रद्धा इन तीन बातों की परीक्षा ही था। गोरे सहायकों के नाम लिखने का यह भी हेतु है कि यदि दक्षिण अफ्रीका के इतिहास में उनकी की हुई सहायता का उल्लेख न किया जाय तो वह इतिहास का एक दोष समझा जायगा। मैंने सभी गोरे सहायकों के नाम तो लिखे ही नहीं। जितने दिये हैं उतने पर से सहायक मात्र के प्रति धन्यवाद प्रकट हो जाता है। इसके अतिरिक्त और भी एक कारण है। मैंने यह एक सिद्धान्त कायम कर रखा है कि हरएक हलचल के तमाम परिणामों को हम नहीं देख सकते। तथापि शुभ कार्य का फल शुभ ही होगा—फिर वह दृश्य हो या अदृश्य। एक सत्याग्रही की हैसियत से इस सिद्धान्त के प्रति मुझे अपनी श्रद्धा भी प्रकट करनी थी। तीसरे मुझे यह दिखाना था, कि सत्य पर आधार रखनेवाली हलचलें इसी प्रकार अनेक शुद्ध और निःस्वार्थ सहायताओं को आकर्षित कर लेती है। अबतक इस अध्याय में यह बात स्पष्ट न हुई तो मैं और भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि, सत्याग्रह के युद्ध में सत्य की ही सर्वोपरि रक्षा करनी चाहिए। यह यदि प्रयत्न समझा जाय तो इसे छोड़कर कोई भी प्रयत्न गोरों की सहायता प्राप्त करने के लिए नहीं किया गया था। युद्ध के आन्तरिक बल से ही ये आकर्षित हुए थे।

(२४)

और भी कई भीतरी कठिनाइयां

इक्कीसवें अध्याय से पाठकों को कुछ भीतरी कठिनाइयों का अन्दाज लग गया होगा। मुझपर हमला हुआ उस समय मेरे बाल-बच्चे तो फिनिक्स में रहते थे। अतः हमले का हाल सुनकर उन्हें चिन्ता होना एक स्वभाविक बात थी। यह तो हो ही नहीं सकता था कि मुझे देखने के लिए फिनिक्स से पैसे खर्च करके वे जोहान्सबर्ग दौड़ आवें। इसलिए अच्छा होने पर मुझे ही वहाँ जाना चाहिए था। नेटाल और ट्रान्सवाल के बीच हर किसी काम-काज से मेरा जाना-आना हुआ ही करता था। समझौते के विषय में नेटाल में भी बहुत गलतफहमियाँ फैली हुई थीं। मेरे पास तथा अन्य मित्रों के पास उधर से पत्र आते थे, उसपर से इन बातों को मैं जानता था। 'इण्डियन ओपीनियन' के पते पर तो कई कटाक्ष-आक्षेप भरे पत्र आते। उनका भी पुट्ठल मेरे पास था। यद्यपि सत्याग्रह तो ट्रान्सवाल के भारतीयों को ही करना था, तथापि इस विषय में नेटाल के भारतीयों की सम्मति लेना भी अभी बाकी था। ट्रान्सवाल के भार-

वीय ट्रान्सवाल के बहाने सारे दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों के लिए झगड़ रहे थे। इस नेटाल की गलतफहमी को दूर करने के लिए भी मुझे डर्बन जाना जरूरी था। इसलिए पहला मौका मिलते ही मैं वहाँ गया।

डर्बन में भारतीयों की एक विराट सभा की गयी। कितने ही मित्रों ने मुझे पहिले ही से सावधान कर रक्खा था। "इस सभा में आपपर हमला होगा। इसलिए या तो आपको सभा में जाना ही नहीं चाहिए या आत्मरक्षा का कुछ उपाय सोचकर जाना चाहिए।" इन दो में से एक भी बात को मैं नहीं कर सकता था। नौकर को मालिक बुलावे और यदि वह डरकर न जाय तो उसका सेवाधर्म कहाँ और यदि वह मालिक की दी हुई सजा से डर गया तो नौकर कैसा? केवल सेवाभाव से सार्वजनिक सेवा करना तलवार की धार पर चढ़ने के समान है। लोकसेवक स्तुति लेने के लिए तो तैयार हो जाता है फिर उसे निन्दा के समय क्योंकर अपना मुँह छिपाना चाहिए? इसलिए मैं तो बराबर नियत समय पर पहुँच गया। समझौता किस प्रकार हुआ आदि समझाया। कुछ सवालों के उत्तर भी दिए। यह सभा रात के करीब आठ बजे शुरू हुई होगी। काम लगभग समाप्त हुआ ही था कि इतने में एक पठान अपनी लाठी लेकर मंच पर चढ़ा। बस उसी समय बत्तियाँ भी गुल हो गयीं। मैं समझ गया। अध्यक्ष सेठ दाऊद मुहम्मद मेज पर चढ़कर समझाने लगे। मेरा बचाव करनेवालों ने मुझे घेर लिया। मैंने आत्मरक्षा का कोई उपाय नहीं किया था। पर मैंने देखा कि सभा करनेवाले तो सब तरह से तैयार हो कर आये थे। उनमें से एक तो अपनी जेब में रिवाल्वर भी लाया था। उसने उसका एक खाली वार भी किया। इधर पारसी रुस्तमजी, हमले के लक्षण देखकर पुलिस सुपरिन्टेडेन्ट

अलैक्जैंडर को बुलाने के लिए चले गये थे। समाचार सुनते ही उन्होंने तुरन्त पुलिस का एक दल भेज दिया। पुलिस आयी और मुझे अपने बीच करके पारसी रुस्तम के मकान पर पहुँचा दियो।

दूसरे दिन पारसी रुस्तमजी ने डर्बन के पठानों को इकट्ठा किया और उन्हें कहा कि आपको गाधी के बारे में जो कुछ शिकायत हो, वह आप प्रत्यक्ष उन्हें यहाँ पर कह दीजिए। मैं उनसे मिला। शांत करन की कोशिश भी कि पर मुझे अब भी विश्वास नहीं होता कि मैं उन्हे शांत कर सका हूँगा। शक की दवा लुकमान हकीम के पास भी नहीं। मैं दलीलों और उदाहरणों से उन्हें सन्तुष्ट नहीं कर सका। उनके दिल में तो यह बात जम गयी थी कि मैंने कौम को धोखा दिया है। अतः मेरा समझाना तबतक व्यर्थ था, जबतक यह खयाल उनके दिल से दूर न हो जाता।

उसी दिन मैं फिनिक्स पहुँचा। जो मित्र पिछली रात को मेरी रक्षा करने के लिए इकट्ठे हो गये थे, उन्होंने मुझे अकेला नहीं जाने दिया। कहा हम भी फिनिक्स चलेंगे। मैंने कहा आप मेरे मना करने पर भी आना चाहेंगे तो मैं आपको रोक नहीं सकता। पर वहाँ तो जगल हैं। वहाँ के निवासी हमें और आपको खाने ही को न देंगे तो आप क्या करेंगे? उनमें से एक ने कहा हमें ऐसा डर न दिखाइए। हम अपनी व्यवस्था खुद कर लेंगे। और जबतक हम सिपाही का काम करेंगे तब तक यदि हम आपके भंडार को लूट भी लें तो हमें कौन रोक सकता है।

इस प्रकार हम विनोद करते हुए फिनिक्स पहुँचे। इस दल का मुखिया जैक मुडली था। भारतीयों में उसका नाम खूब प्रख्यात हो गया था। नेटाल में तामिल माता-पिता से उसका जन्म हुआ था। वह घूँसेबाजी में बड़ा प्रवीण था और उसका तथा उसके साथियों का भी यह खयाल था कि

उस कला में मुडली के सामने क्या काला और क्या गोरा, कोई नहीं टिक सकता। जबतक मैं दक्षिण अफ्रीका में था, तबतक मेरी यह आदत थी कि बरसात के दिनों को छोड़कर हमेशा मैदान में ही सोता था। उस नियम में इस समय परिवर्तन करने के लिए मैं तैयार नहीं था। इसलिए मेरी रक्षा के लिए अपने आप बने हुए इस दल ने मेरे बिस्तर के आस-पास पहरा देना शुरू किया। यद्यपि इस दल के साथ डर्बन में मैंने मजाक किया था तथापि मुझे अवश्य स्वीकार करना चाहिए कि मेरे अन्दर कुछ दुर्बलता तो अवश्य थी, क्योंकि जब उस दल ने पहरा देना शुरू किया तब मुझे कुछ अधिक निर्भयता मालूम हुई। और अपने दिल में यह भी सवाल पैदा हुआ कि यदि वे लोग न आते तो क्या मैं इसी प्रकार निर्भय चित्त से यहाँ सो रहा होता? मुझे यह भी आभास होता है कि कहीं जरा-सी आवाज होते ही मैं चौंक पड़ता था। मेरा विश्वास है कि ईश्वर में मेरी अविचल श्रद्धा है। मेरी बुद्धि इस बात को भी बरसों से कुबूल करती आयी है कि मनुष्य-जीवन में मौत एक बड़ा भारी परिवर्तन है। और वह जब कभी आवे हमेशा स्वागत करने लायक वस्तु ही है। हृदय से मौत तथा अन्य भयों को दूर करने के लिए मैंने महा प्रयत्न भी किये हैं, तथापि अपने जीवन में ऐसे कई प्रसंग मुझे याद आते हैं कि जब मौत की भेंट करने के विचार मात्र से मेरा हृदय उस प्रकार न उछल सका, जैसा एक चिर-वियोगी मित्र से भेंट के विचार से उछल पडता है। इस प्रकार बलवान बनने के लिए महाप्रयत्न करने पर भी मनुष्य कई बार दुर्बल ही बना रहता है, और बुद्धि से प्राप्त किया हुआ ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव के समय उसके लिए बहुत उपयोगी नहीं साबित होता। तिसपर भी जब उसे बाहरी आश्रय

मिल जाता है और जब वह उसको स्वीकार कर लेता है, तब तो वह अपना अधिकांश आंतरिक बल भी खो बैठता है। सत्याग्रही को इस प्रकार के भय से हमेशा बचते रहना चाहिए।

फिनिक्स में मैंने एक ही उद्योग किया। गलतफहमी दूर करने के लिए खूब लिखना शुरू कर दिया। संपादक और शंकाशील पाठक के बीच एक कल्पित संवाद लिख डाला। उसमें जितनी भी शंकायें और आक्षेप मैंने सुने थे उन सबका उत्तर मुझसे जितना विस्तारपूर्वक हो सका, दिया। मेरा खयाल है कि इसका असर भी अच्छा हुआ। यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध हो गया कि उन लोगों में गलतफहमी नहीं फैलाने पायी, जिनमें अगर वह फैल जाती तो उसका परिणाम बहुत बुरा होता। समझौते को मानना न मानना तो केवल ट्रान्सवाल के भारतीयों का काम था। इसलिए उनके कार्यों पर से उनकी और उनके नेता एवं सेवक की हैसियत से मेरी भी सच्ची परीक्षा होने वाली थी। ऐसे बहुत थोड़े भारतीय होंगे कि जिन्होंने स्वेच्छापूर्वक परवाने न लिये हों। एशियाटिक आफिस में परवाना लेने के लिए इतने आदमी जाते कि परवाना देने वालों को दम मारने तक का समय नहीं मिलता था। कौम ने बड़ी ही तेजी और तत्परता से उन सब शर्तों का पालन करके दिखा दिया जो समझौते में व्यक्तियों से सम्बन्ध रखतीं। सरकार को भी यह बात स्वीकार करनी पड़ी थी। मैंने यह भी देखा कि यद्यपि गलतफहमी ने उग्र रूप धारण कर लिया था, फिर भी उसका क्षेत्र बहुत ही मर्यादित था। जब कितने ही पठानों ने कानून को अपने हाथों में ले लेकर उपद्रव मचाना शुरू किया तब तो बड़ी ही खलबली मच गयी। पर इस खलबली का भी जब सूक्ष्म अवलोकन करने लगते हैं, तब यही मालूम होता है कि उसका न सिर होता है न पैर।

कई बार वह केवल क्षणिक ही होती है। फिर भी आज भी संसार मे वह एक शक्ति तो है ही क्योंकि खून-खराबी से हम अभीतक काँप उठते हैं। पर यदि शाति के साथ विचार किया जाय तो मालूम होगा कि काँपने का कोई कारण ही नहीं है। मान लीजिए कि मीर आलम और उसके साथियो की मार से केवल मेरा शरीर घायल होने के बदले प्राण ही निकल जाते, यह भी मान लीजए कि कौम भी बुद्धिपूर्वक शात और निश्चिन्त रही होती, मीर आलम अपनी बुद्धि के अनुसार और कुछ नहीं कर सकता था यह सोचकर उसके प्रति क्षमा-भाव और मित्र भाव भी रक्खा होता, तो इससे कौम को कोई हानि नहीं उठानी पड़ती, बल्कि अत्यन्त लाभ ही होता, क्योंकि कौम में तो गलतफहमी थी ही नहीं। इसलिए वह तो दूने उत्साह से अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहती और अपने कर्तव्य का पालन करती रहती। और मुझ तो केवल लाभ ही लाभ होता, क्योंकि सत्याग्रही के लिए अपने सत्य पर दृढ़ रहते हुए अनायास मृत्यु प्राप्त करने से बढ़कर दूसरा मगल-प्रसग संसार में और कौन हो सकता है? उपर्युक्त दलीलें सत्याग्रह जैसे युद्ध ही के विषय में सत्य हैं, क्योंकि उसमें वैर-भाव को स्थान ही नहीं है। आत्मशक्ति या स्वावलबन ही उसका एक मात्र साधन है। उसमें किसीको भी दूसरे का मुँह ताकते हुए बैठे नहीं रहना पड़ता। यहाँ न कोई नेता है और न कोई सेवक। सभी सेवक और सभी नेता हैं। इसलिए किसी की मृत्यु फिर वह कितने ही बड़े मनुष्य की क्यों न हो उस युद्ध को हानि नहीं पहुँचा सकती। यही नहीं, बल्कि उससे तो सत्याग्रहियों को युद्ध में नवीन शक्ति मिलती है।

यही सत्याग्रह का एक मूल और शुद्ध स्वरूप है। पर व्यवहार में हमें यह देखने को नहीं मिलता, क्योंकि सभी ने वैर

का त्याग नहीं कर दिया है। कितने ही लोग सत्याग्रह का रहस्य भी नहीं जानते। अधिकांश लोग तो कुछ लोगों को देख-देखकर उसका अंधानुकरण मात्र करते हैं। फिर जैसा कि टाल्स्टाय ने कहा था सामुदायिक और सामाजिक सत्याग्रह का तो ट्रान्सवाल का सत्याग्रह पहला ही उदाहरण है। स्वयं मैं शुद्ध सत्याग्रह के ऐतहासिक उदाहरणों को नहीं जानता। मेरा इतिहास-विषयक ज्ञान बहुत कम है। इसलिए मैं इस विषय में कोई निश्चय अभिप्राय नहीं दे सकता। पर सच पूछा जाय तो हमें ऐसे उदाहरणों से भी गरज नहीं। सत्याग्रह के मूल तत्त्वों को ग्रहण कर लीजिए कि आप देखेंगे कि उसका फल वही होगा जो मैंने ऊपर बता दिया है। सत्याग्रह का व्यवहार बहुत कठिन है यह कहकर हमें इस अमूल्य शस्त्र का त्याग नहीं कर देना चाहिए। जमाने से, हजारों बरसों से शस्त्रबल के कितने ही प्रयोग होते चले आये हैं। उनमें जो बुरे परिणाम हुए उन्हें हम स्वयं देख ही रहे हैं। यह भी आशा नहीं की जा सकती कि भविष्य में वह अच्छे फल को देगा। अंधकार में से यदि प्रकाश उत्पन्न किया जा सकता हो तो अवश्य ही वैर से प्रेम-भाव उत्पन्न होने की आशा हम कर सकते हैं।

दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह

[उत्तरार्ध]

: १ :

जनरल स्मट्स का विश्वासघात (?)

आन्तरिक मुसीबतों का दर्शन तो पाठक कुछ-कुछ कर ही चुके। उसमें प्रायः मुझे अपनी आत्म-कथा ही देनी पड़ी। पर यह अनिवार्य था। क्योंकि सत्याग्रह से सम्बन्ध रखने वाली मेरी मुसीबतें ही सत्याग्रहियों की मुसीबतें भी बन गई। अब हम फिर बाहरी मुसीबतों का अवलोकन करें। इस प्रकरण का शीर्षक लिखते हुए मुझे बड़ी लज्जा मालूम हुई और, यह अध्याय लिखते हुए भी मुझे उतनी ही शर्म मालूम हो रही है। क्योंकि इसमें मनुष्य स्वभाव की वक्रता का वर्णन है। जनरल स्मट्स सन् १९०८ मे भी कम से कम दक्षिण अफ्रिका मे तो सबसे अधिक होशियार नेता माने जाते थे और आज अगर संसार में नहीं, तो कम से कम ब्रिटिश साम्राज्य मे तो जरूर ही वह ऊँचे दर्जे के कार्यकुशल पुरुष गिने जाते हैं। मुझे इसमे जरा भी सन्देह नहीं कि उनकी शक्ति बहुत बढ़ी हुई है। वह जितने कुशल वकील हैं, उतने ही कुशल सेना-नायक है और उतने ही कुशल राज्य-प्रबन्धक पुरुष भी वह है। दक्षिण अफ्रिका मे कई राज्य-प्रबंधक आये और चले गये। पर १९०७ से आज तक दक्षिण अफ्रिका के शासन सूत्रों को उन्होंने अपने हाथों ही में

रक्खा है, और आज भी समस्त दक्षिण अफ्रिका में ऐसा एक भी पुरुष नहीं है, जो उनके मुकाबले में खड़ा रह सके। यह लिखते समय मुझे दक्षिण अफ्रिका छोड़े नौ साल हो गये। इसलिए मैं नहीं जानता कि आज दक्षिण अफ्रिका उन्हें किस विशेषण से पहचानता है। जनरल स्मट्स का निजी नाम जेन है। पर दक्षिण अफ्रिका के लोग उन्हें 'स्लिम जेनी' ही कहते हैं। यहाँ पर 'स्लिम' का अर्थ है 'छट जाने वाला', 'कभी पकड़ में न आने वाला'। गुजराती भाषा में इसका नजदीकी समानार्थक शब्द है। 'सधो', अथवा सौम्य विशेषण का प्रयोग करना चाहें तो इसके विपरीत अर्थ में 'चालाक' शब्द का प्रयोग कर सकते हैं। मुझे कई अंग्रेज़ मित्रों ने कहा कि जनरल स्मट्स से तुम संभल कर रहना। वह बड़ा पहुँचा हुआ आदमी है। कोई बात कहकर बदल जाने में उसे ज़रा भी देर नहीं लगती। उसके बोलने का ठीक ठीक अर्थ तो केवल वही जानता है। कई बार वह इस तरह बोलता है कि दोनों पक्ष अपने-अपने अनुकूल उसका अर्थ कर सकते हैं। पर मौका आने पर इन दोनों अर्थों को एक तरफ रख कर, वह अपना एक तीसरा ही अर्थ बता देता है, और फौरन उस पर अमल करके अपने इस कार्य के समर्थन में ऐसी-ऐसी चालाक दलीलें पेश करता है कि घड़ी भर के लिए दोनों पक्ष यही मानने लग जाते हैं कि, ज़रूर जनरल स्मट्स का बताया अर्थ ही सच्चा अर्थ है, हमसे कोई भूल होगई होगी। इस समय मुझे ऐसे ही एक विषय का वर्णन, इस प्रकरण में करना है। वह घटना जिस समय हुई उस समय वह विश्वासघात मानी और कही भी गई थी। आज भी कौम की दृष्टि से मैं उसे विश्वासघात ही मानता हूँ। परन्तु यह होते हुए भी मैंने इस शब्द के सामने प्रश्न चिह्न इसलिए रख दिया है कि संभव है, कहीं उन्होंने वह विश्वासघात

का काम बुद्धि-पूर्वक न भी किया हो। और जहाँ घात करने का कोई हेतु ही न हो, वहाँ यह भी कैसे मान सकते हैं कि उन्होंने विश्वास का भंग किया? सन् १९१३–१४ मे जनरल स्मट्स का मुझे जो अनुभव हुआ, उसे मैं उस समय तो कडुआ नहीं मानता था और न आज भी, जब कि मैं उसपर अधिक तटस्थता पूर्वक विचार कर सकता हूँ, वैसे मानता हूँ। इसलिए बहुत संभव है, १९०८ साल का उनका भारतीयो के प्रति बर्ताव ज्ञान पूर्वक किया गया विश्वासघात न भी हो।

इतनी बड़ी प्रस्तावना मुझे इसलिए लिखनी पड़ी कि जनरल स्मट्स के प्रति मैं न्याय कर सकूँ, और साथ ही इसलिए भी कि, उनके नाम के साथ मैंने विश्वासघात शब्द का जो प्रयोग किया है, तथा मुझे इस प्रकरण मे जो कुछ कहना है, उसका मैं बचाव कर सकूँ। पिछले अध्याय मे हम यह पढ़ चुके कि भारतीयों ने ऐच्छिक परवाने ठीक उसी तरह निकलवा लिये जिससे ट्रान्सवाल की सरकार को सतोष हो जाय। अब उस सरकार का काम था, खूनी कानून को रद करना। अगर वह ऐसा ही कर डालती तो सत्याग्रह का युद्ध भी समाप्त हो जाता। सत्याग्रह का अर्थ यह नहीं था कि ट्रान्सवाल मे भारतीयों के खिलाफ जितने भी कुछ कानून थे वे सब रद हो जायँ, या हिन्दी जनता के तमाम दुःख दूर हो जायँ। यह करने के लिए तो पहले की तरह वैध आन्दोलन शुरू रखना ही आवश्यक था। सत्याग्रह का आश्रय तो केवल खूनी कानून के नवीन और भयङ्कर तूफान को दूर करने मात्र के लिए ही लिया गया था। उस कानून को स्वीकार करना कौम का सरासर अपमान था; और उस स्वीकृति से प्रथम तो ट्रान्सवाल से और अन्त मे तमाम दक्षिण अफ्रिका से भारतीयों की हस्ती ही मिटी जा रही थी। पर खूनी कानून रद करने के लिए एक योजना बनाने के बजाय

जनरल स्मट्स ने तो और ही कुछ कर डाला। उन्होंने एक वक्तव्य प्रकाशित किया, जिसके द्वारा एक ओर तो खूनी कानून को बहाल रक्खा और दूसरी ओर उन ऐच्छिक परवानों को कानूनन करार दिया। पर उस वक्तव्य में उन्होंने एक यह वाक्य भी डाल दिया था कि जो भारतीय अब तक परवाना ले चुके हैं उन पर खूनी कानून अमल नहीं करेगा। इसका अर्थ तो यह हुआ कि एक ही हेतु को पूर्ण करने के लिए दो कानून रहें और बाहर से आनेवाले नवीन भारतीयों को तथा नवीन परवाना लेने वाले भारतीयों को भी खूनी कानून द्वारा शासित होना चाहिए।

यह बिल पढ़कर मैं तो पूरा किंकर्तव्यमूढ हो गया। कौम को मैं क्या उत्तर दूँगा? उन पठान भाइयों को, जिन्होंने उस मध्यरात्रि की सभा में मुझ पर सख्त आक्षेप किये थे, कैसी सुन्दर दलील मिल गई? पर मुझे कह देना चाहिए कि इस अकल्पित आघात के कारण सत्याग्रह पर मेरा विश्वास ढीला होने के बजाय और भी तीव्र हो गया। हमारी कमिटी की बैठक निमन्त्रित करके मैंने उन्हें समझाया। कितने ही भाइयों ने ताना देकर मुझसे कहा "हम तो आपसे कभी से कह रहे थे कि आप बहुत भोले हैं। जो कुछ भी कोई कह देता है, आप सच्चा मान लेते हैं। अगर आप अपने खानगी कामों में ही इस तरह से काम चलाते, तब तो कोई विशेष चिन्ता की बात नहीं थी। पर यहाँ तो आप जाति के कामों में भी उसी भोलेपन से काम ले रहे हैं, और उसके फल-स्वरूप कौम को कष्ट झेलना पड़ता है। अब पहले का सा जोश आना बहुत मुश्किल है। कम से कम हमें तो ऐसा ही मालूम होता है। आप भी तो अपनी कौम के स्वभाव से अपरिचित नहीं हैं। यह तो सोडा वाटर की बोतल है। सिर्फ घड़ी भर के लिए जोश आता है, बस हमें उसीका उपयोग कर लेना चाहिए। जोश हटा कि मामला खतम है।" इस

शब्द-बाण में ज़हर न था। किसी अन्य समय भी मुझे इसी प्रकार सहन करना पड़ा था। मैंने कुछ हँस कर उत्तर दिया "आप जिसे मेरा भोलापन समझे हुए हैं वह तो अब मेरे स्वभाव का एक अंग हो गया है। यह भोलापन नहीं, विश्वास है; और मैं समझता हूँ कि विश्वास करना तो मेरा और आपका सभी का धर्म है, इसलिए यदि मेरी सेवा से आपको कोई फायदा हो रहा हो, तो मेरी इस स्वभावगत बुराई मे—यदि आप इसे बुराई समझें तो—होने वाले नुकसान को भी आपको बरदाश्त कर लेना चाहिए। फिर आपके साथ-साथ मैं यह नहीं मानता कि जाति का उत्साह सोडा-वाटर की बोतल के उफान के जैसा है। जाति मे आप भी हैं और मैं भी। यदि मेरे उत्साह को आप ऐसा विशेषण दें, तो मैं इसे जरूर अपना अपमान समझूँगा। मुझे विश्वास है कि आप भी अपने को उस नियम के अपवाद-रूप ही मानते होंगे। अगर आप अपने को स्थिरोत्साह न मानते हों, और साथ ही यदि आप अपने ऊपर से कौम के उत्साह का अनुमान करते हों, तो उस हालत मेभी उपर्युक्त अनुमान द्वारा आप जाति का अपमान ही कर रहे हैं। ऐसे महान् युद्ध मे ज्वार-भाटा तो आता ही रहता है। हम चाहे कितनी ही सावधानी रक्खें, पर यदि प्रति पक्षी हमारे साथ विश्वास-घात ही करने पर तुला हुआ हो, तो हम उसे किस तरह रोक सकते हैं? इसी मंडल मे ऐसे कई लोग हैं जो नालिश करने के लिए मेरे पास प्रॉमिसरी नोट्स लाते हैं। अपने दस्तख़त तक दे करके जिसने अपने को बाँध लिया है, ऐसे आदमी के साथ हम और कितनी सावधानी कर सकते हैं? पर फिर भी हमें अदालत में उससे लड़ना ही पड़ता है। वह सामना करता है, अनेक प्रकार से बचाव करता है, फैसला होता है और सजायें भी ठोक दी जाती हैं। इस तरह की घटनाओं के लिए भी कहीं कोई दवा

या सावधानी हो सकती है, जिससे वे फिर से न होने पावें ? इसलिए मेरी तो यही सलाह है कि जिस उलझन में हम जा गिरे हैं, उसे धीरज के साथ सुलझावें। हमे तो अब यही विचार करना चाहिए कि यदि हमे फिर से लड़ना पड़ा तो आगे क्या करना चाहिए ? अर्थात् इस बात का विचार छोड़कर कि दूसरे लोग क्या करेंगे हमें तो यही सोचना चाहिए कि प्रत्येक सत्याग्रही स्वयं क्या करेगा या क्या कर सकता है। मेरा तो यह खयाल है कि यदि हम सब इतने सच्चे बने रहेंगे तो दूसरे भी वैसे ही दृढ रहेंगे। अथवा यदि उनमें किसी प्रकार की कमजोरी आ भी गई तो वे हमारा उदाहरण लेकर अपनी उस दुर्बलता को दूर कर देंगे।"

मुझे मालूम होता है, जिन भाइयों ने पुनः लड़ाई चला सकने के विषय में, शुभ हेतु से ही ताने के रूप में शङ्का प्रकट की थी वे भी समझ गये। इन दिनों काछलिया प्रतिदिन अपनी अपूर्व सत्यप्रियता तथा निश्चय का परिचय दे रहे थे। तमाम बातों में कमसे कम बोलकर वह अपना निश्चय जाहिर कर देते, और उस पर अडे रहते। मुझे तो ऐसा एक भी प्रसंग याद नहीं, जिसमें उन्होंने दुर्बलता जाहिर की हो, अथवा अन्तिम परिणाम के विषय में कोई शङ्का ही प्रकट की हो। शीघ्र ही ऐसा अवसर आया, कि जब ईसप मियाँ ने तूफानी समुद्र में कर्णधार बने रहने से इन्कार कर दिया। उस समय सबने एक मत से काछलिया का स्वागत किया। तब से लगा कर आखिरी घड़ी तक उन्होंने पतवार पर से अपना हाथ नहीं हटाया। और यह करते हुए उन्होंने उन तमाम मुसीबतों का निश्चित और निर्भय हो कर सामना किया, जिनसे शायद ही अन्य कोई सहन कर सकता। ज्यों-ज्यों युद्ध आगे बढ़ने लगा त्यों-त्यों ऐसा समय भी आने लगा कि कितने ही लोगों के लिए जेल में चले जाना एक आसान

काम हो गया। क्योंकि वहाँ उन्हें आराम मिलता, और बाहर रहना इससे कहीं अधिक मुश्किल था। यहाँ तो हर बात का सूक्ष्म विचार करके उसकी उचित व्यवस्था करनी पडती, और अनेक मनुष्यों को समझना पडता। यह सब जेल मे जाने की अपेक्षा बहुत ज्यादा मुश्किल था। अब अवसर पाकर गोरे कर्जदारों ने काछलिया सेठ को अपने शिकंजे मे पकडा।

कई भारतीय व्यापारियों को अपने व्यापार के लिए गोरे व्यापारियों की कोठियों पर अवलम्बित रहना पडता था। वे लाखों रुपयें। का माल बिना किसी प्रकार की रहन के केवल भारतीय व्यापारियों के विश्वास पर दे दिया करते हैं। सचमुच, भारतीय व्यापार की प्रमाणिकता का यह एक सुन्दर नमूना है कि वे वहाँ पर इतना विश्वास सम्पादन कर सके हैं। काछलिया सेठ के साथ भी कई अंग्रेजी फर्मों का इसी प्रकार का लेन-देन का सम्बन्ध था। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से, किसी प्रकार सरकार की ओर से इशारा मिलते ही, ये व्यापारी काछलिया सेठ से अपनी वे सब मुद्रायें माँगने लगे, जो उनकी तरफ लेना निकलती थीं। उन्होंने तो काछलिया सेठ को बुलवा कर यहाँ तक कहा कि 'यदि आप इस युद्ध से अपने को अलग रक्खें तब तो आपको उन मुद्राओं के लिए कुछ भी जल्दी करने की आवश्यकता नहीं है। अगर आप यह न करें तो हमें यह भय हमेशा रहेगा कि सरकार आपको न जाने किस वक्त पकड लेती है। और यदि ऐसा ही हुआ तो फिर हमारी मुद्राओं का क्या होगा? इसलिए यदि इस युद्ध मेसे अपना हाथ हटा लेना आपके लिए किसी प्रकार असंभव हो, तो हमारी मुद्रायें आपको इसी समय लौटा देनी चाहिएं।' इस वीर पुरुष ने उत्तर दिया—"युद्ध तो मेरी व्यक्तिगत वस्तु है। मेरे व्यापार के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। अपने

धर्म, अपनी जाति के सम्मान, और स्वयं मेरे स्वाभिमान की रक्षा के लिए यह युद्ध छिड़ा हुआ है। आपने मुझे केवल विश्वास पर जो माल दिया है उसके लिए मैं आपका जरूर एहसानमन्द हूँ। पर इसलिए मैं न तो उस कर्ज को और न मेरे व्यापार को ही सर्वोपरि स्थान दे सकता हूँ। आपके पैसे मेरे लिए सोने की मुहरें हैं। अगर मैं जिन्दा रहा, तो अपने आपको बेंच कर भी आपके पैसे लौटा दूँगा। पर मान लीजिए कि मेरा और कुछ हो गया, तो उस हालत मे आप यह विश्वास रक्खें कि मेरा माल और तमाम उघाई आपके हाथों मे ही है। आज तक आपने मेरा विश्वास किया है। मैं चाहता हूँ कि आगे के लिए भी आप इसी प्रकार मेरा विश्वास करें।" यह दलील बिलकुल ठीक थी। काछलिया की दृढ़ता को देखते हुए गोरों को उनपर और भी विश्वास होना चाहिए था। पर बात यह थी कि इस समय उन लोगों पर इसका कोई असर नहीं हो सकता था। हम सोये हुए आदमी को तो जगा सकते हैं, पर सोने का ढोंग करने वाले को नहीं। यही हाल उन गोरे व्यापारियों का भी हुआ। वे तो काछलिया सेठ को दबाना चाहते थे, उनकी लेन-देन थोड़ ही डूबने चली थी।

मेरे दफ्तर मे लेनदारों की एक मीटिंग हुई। मैंने उन्हें साफ-साफ शब्दों मे कह दिया, कि आप इस समय जो काछलिया सेठ को दबाना चाहते हैं उसमें व्यापार-नीति नहीं, राजनैतिक चाल है। व्यापारियों को यह काम शोभा नहीं देता। पर वे तो और भी चिढ़ गये। काछलिया सेठ के माल और उघाई दोनों की फेहरिस्त मेरे पास थी। उसे मैंने उन व्यापारियों को दिखाया। यह भी सिद्ध कर दिखाया कि उससे उन्हें अपना पूरा धन मिल सकता है, और कहा—'इतने पर भी यदि आप इस तमाम व्यापार को किसी दूसरे आदमी के

हाथ बेंच देना चाहते हों तो काछलिया सेठ अपना तमाम माल और उघाई खरीददार को सौंपने के लिए भी तैयार हैं। यदि यह भी आपको स्वीकार न हो, तो दूकान में जितना भी माल है, उसे मूल कीमत मे आप ले लें। केवल माल से यदि काम न चले तो उसके बदले मे उघाई मेसे जिसे पसन्द करें आप लेलें।" पाठक सोच सकते हैं कि गोरे व्यापारी यदि इस प्रस्ताव को मंजूर कर लेते तो उनकी कोई हानि नहीं होती। (और कई मवक्किलों के संकट-समय मे मैंने उनके कर्ज की यही व्यवस्था की थी) पर इस समय व्यापारी न्याय न चाहते थे। काछलिया नहीं झुके और वह दिवालिये देनदार साबित हुए।

पर यह दिवालियापन उनके लिए कलङ्क-रूप नहीं, बल्कि भूषण था। इससे कौम में उनकी इज्जत कहीं बढ़ गई और उनकी दृढ़ता और बहादुरी पर सबने उनको बधाई दी। यह वीरता तो अलौकिक है। सामान्य मनुष्य उसको भली भाति नहीं समझ सकते। सामान्य मनुष्य तो यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि दिवालियापन एक बुराई और बदनामी के बदले सम्मान और आदर की वस्तु किस तरह हो सकती है। पर काछलिया को तो यही बात स्वाभाविक मालूम हुई। कई व्यापारियों ने केवल इसी भय के कारण खूनी कानून के सामने सिर झुका लिया कि कहीं उनका दिवाला न निकल जाय। काछलिया भी यदि चाहते तो इस नादारी से छूट सकते थे। युद्ध से विमुख होकर तो वह अवश्य ही ऐसा कर सकते थे। पर इस समय मैं कुछ और ही कहना चाहता हूँ। कई भारतीय काछलिया के मित्र थे जो उनको इस संकट समय मे कर्ज दे सकते थे। पर यदि वह इस तरह अपने व्यापार को बचा लेते, तब उनकी बहादुरी मे धब्बा नहीं लग जाता? कैद की जोखिम तो उनकी भाँति दूसरे सत्याग्रहियों के

लिए भी थी। इसलिए यह तो उनसे हरगिज नहीं हो सकता था, कि वे सत्याग्रहियों से पैसे लेकर गोरे व्यापारियों का ऋण अदा कर दें। पर सत्याग्रही व्यापारियों के समान ही अन्य भारतीय भी उनके मित्र थे, जिन्होंने खूनी कानून के सामने सिर झुका दिया था। और मैं जानता हूँ कि उनकी सहायता भी काछलिया सेठ को मिल सकती थी। जहाँ तक मुझे याद है, एक दो मित्रों ने उन्हें इस विषय में कहलाया भी था। पर उनकी सहायता लेने का अर्थ तो यही न होता कि हमने इस बात को स्वीकार कर लिया, कि खूनी कानून को मानने ही में बुद्धिमानी है। इसलिए हम दोनों इसी निश्चय पर पहुँचे कि उनकी सहायता हमें कदापि स्वीकार नहीं करनी चाहिए। फिर हम दोनों ने यह भी सोचा कि यदि काछलिया अपने को नादार कहलाएंगे तो उनकी नादारी दूसरों के लिए ढाल का काम देगी। क्योंकि अगर सौ में पूरी सौ नहीं तो निन्यानवे फी सदी नादारियों में लेनदार को नुकसान उठाना पड़ता है। अगर उनके लेने में से फी सदी पचास भी मिल जाते हैं तो भी वे खुश होते हैं। जब फी सदी पिचहत्तर मिल जायँ तब तो वे उसीको पूरे सौ ही मान लेते हैं। क्योंकि दक्षिण अफ्रिका में प्रतिशत ६।) नहीं बल्कि फी सैकड़ा २५) मुनाफा लिया जाता है। इसलिए अपनी लेन मेंसे फी सैकड़ा ७५ मिलने तक तो वे उसे घाटे का व्यवहार नहीं मानते। किन्तु नादारी में पूरा-पूरा तो शायद ही कभी मिलता है। इसलिए कभी कोई लेनदार यह नहीं चाहता कि उसका कर्जदार दिवालिया हो जाय।

इसलिए काछलिया का उदाहरण दिखा कर गोरे लोग दूसरे व्यापारियों को धमकी नहीं दे सकते थे। और हुआ भी ऐसा ही। गोरे चाहते थे कि काछलिया को युद्ध से अपना हाथ हटा लेने के

लिए मजबूर करे, और यदि काछलिया इसे मंजूर न करें तो उनसे पूरे सौ के सौ वसूल करें। पर इन दो मेसे उनका एक भी हेतु सिद्ध न हुआ। इसका तो उलटे एक विपरीत ही परिणाम हुआ। एक प्रतिष्ठित भारतीय व्यापारी को इस तरह नादारी का स्वागत करते हुए देख कर, गोरे व्यापारी चकित हो गये, और हमेशा के लिए शान्त हो गये। परन्तु इधर एक साल के अन्दर ही काछलिया के माल मे से ही गोरे व्यापारियों को पूरे सौ के सौ मिल गये। दक्षिण अफ्रिका में दिवालिया देनदार से लेनदार को पूरे सौ के सौ मिल जाना यह अपनी जानकारी मे, मेरा पहला ही अनुभव था। युद्ध शुरू हो गया था। पर फिर भी इससे गोरे व्यापारियों मे काछलिया का सम्मान वेहद बढ़ गया। आगे चलकर युद्ध-काल मे उन्हीं व्यापारियों ने काछलिया को मनमाना माल देने के लिए अपनी तत्परता दिखाई। पर काछलिया का बल तो दिन-ब-दिन बढ़ता ही जा रहा था। युद्ध के रहस्य को भी वह भली भाँति समझ चुके थे। और यह तो कौन कह सकता था कि युद्ध शुरू होने के बाद वह कितने रोज चलेगा। इसलिए नादारी के बाद हमने तो यही निश्चय कर लिया कि लम्बे चौड़े व्यापार की झंझट मे पड़ना ही नहीं। उन्होंने भी निश्चय कर लिया कि अब, जब तक युद्ध समाप्त नहीं होता, उतना ह व्यापार किया जाय कि जिससे एक गरीब मनुष्य अपना निर्वाह कर सके, इससे ज्यादा नहीं। इसलिए गोरों ने जो अभिवचन दिया उसका उपयोग उन्होंने नहीं किया। काछलिया सेठ के जीवन की जिन घटनाओं का वर्णन मैं कर चुका हूँ, वे कमिटी की मीटिंग के बाद हुई हों सो बात नहीं। पर मैंने उन्हें यहाँ पर इसीलिए लिख देना ठीक समझा कि उनको कहीं एक ही बार दे देना योग्य होगा। अगर तारीख वार देखा जाय तो दूसरा युद्ध शुरू होने पर

कितने ही समय बाद काछलिया अध्यक्ष हुए। और नाटार होने के पहले इसके बाद और भी कितना ही समय बीत गया।

अब हम कमिटी के परिणामों पर विचार करें। इस मीटिंग के बाद मैंने जनरल स्मट्स को इस आशय का एक पत्र लिखा कि उनका वह नवीन वक्तव्य सुलह का भंग करता है। अपने पत्र मे मैंने उनके उस भाषण की ओर भी उनका ध्यान आकर्षित किया, जो सुलह के बाद एक सप्ताह के अन्दर ही उन्होंने दिया था। उस भाषण में उन्होंने ये शब्द कहे थे—"ये लोग (एशियावासी) मुझे एशियाटिक कानून रद करने के लिए कह रहे हैं। जब तक ऐच्छिक परवाने वे नहीं ले लेते तब तक उस कानून को रद करने से मैंने इन्कार किया है।" अधिकारी लोग प्राय ऐसी बातों का जवाब नहीं देते जो उन्हें उलझन मे डालती है। अगर देते भी हैं तो गोल मोल। जनरल स्मट्स इस कला मे सिद्धहस्त हैं। उन्हें आप चाहे जितना लिखें, उनके विरुद्ध चाहे जितने भाषण करें, पर यदि वे उत्तर देना नहीं चाहेंगे तो उत्तर में उनके मुँह से एक शब्द भी निकलवाना असम्भव है। सभ्यता का यह सामान्य नियम उनके लिए बन्धनकारक नहीं हो सकता था कि प्राप्त पत्रों का उत्तर देना ही चाहिए। इसलिए अपने पत्र के उत्तर मे मुझे किसी प्रकार का सन्तोष प्राप्त नहीं हो सका।

अल्बर्ट कार्ट राईट हमारे मध्यस्थ थे। मैं उनसे मिला, वह स्तब्ध हो गये, और मुझसे कहने लगे "सचमुच मैं इस आदमी को समझ ही नहीं सकता। एशियाटिक कानून को रद करने वाली बात मुझे बिलकुल ठीक-ठीक तरह से याद है। मुझ से जो बन पड़ेगा मैं जरूर करूँगा। पर आप जानते हैं कि जहाँ यह आदमी किसी एक बात को पकड़ लेता है तहाँ फिर दूसरे की नहीं चलती। अखबारों के लेखों की तो वह जरा भी परवा नहीं

करता। इसलिए मुझे पूरा डर है कि मेरी सहायता का आपको कोई उपयोग न होगा।" हास्किन वगैरा से भी मैं मिला। उन्होंने जनरल स्मट्स को एक पत्र लिखा। उन्हें भी बड़ा ही असंतोषकारक उत्तर मिला। मैंने इण्डियन ओपीनियन मे भी 'विश्वासघात' शीर्षक कई लेख लिखे पर जनरल स्मट्स क्यों इन बातों की परवाह करते? तत्त्ववेत्ता अथवा निष्ठुर मनुष्य के लिए आप चाहे जितने कडुवे विशेषणों का प्रयोग करें, उन पर कोई असर न होगा। वे तो अपना निश्चित काम करने मे मस्त रहते हैं। मैं नहीं जानता कि जनरल स्मट्स के लिए इन दो विशेषणों मेंसे किस विशेषण का उपयोग ठीक हो सकता है। यह तो मुझे जरूर कबूल करना होगा कि उनकी वृत्ति मे एक तरह की 'फिलासफी'—सिद्धान्त-निष्ठा है। मुझे याद है कि जिस समय हमारा पत्र-व्यवहार जारी था, अखबारों मे लेख लिखे जा रहे थे, तब तो मैं उन्हें निष्ठुर ही समझता था। पर अभी तो यह युद्ध का पूर्वार्ध— केवल दूसरा वर्ष था, युद्ध तो आठ वर्ष तक जारी रहा। इस बीच मे मैं उनसे कई बार मिला। बाद की हमारी बातों से मेरा यह ख़याल कुछ बदल गया, और मैंने महसूस किया कि जनरल स्मट्स की धूर्तता के विषय मे दक्षिण अफ्रिका में बनी हुई सामान्य धारणा मे कुछ परिवर्तन होना जरूरी है। दो बातें मैं पूरी तरह समझ गया। एक तो यह कि उन्होंने अपनी राजनीति के विषय मे एक मार्ग निश्चित कर लिया है, और वह केवल अनीतिमय तो हरगिज़ नहीं। पर साथ ही मैंने यह भी देख लिया कि उनके राजनीति-शास्त्र मे चालाकी के लिए और मौका पड़ने पर सत्याभास के लिए भी स्थान है।×

×यह छपते हुए हम यह जान गये कि जनरल स्मट्स की सरदारी का भी अन्त हो सकता है।

मो० क० गांधी

: २ :

युद्ध की पुनरावृत्ति

एक तरफ तो जनरल स्मट्स से यह अनुरोध किया जा रहा था, कि वे समझौते की शर्तों का पालन करें। इधर दूसरी ओर कौम को पुनः जागृत करने का काम जोरों से जारी था। और पाया यह गया कि प्रत्येक जगह पर युद्ध फिर शुरू करने, तथा जेल जाने के लिए लोग तैयार मिलने लगे। सब जगह फिर से सभायें शुरू कर दी गईं। सरकार और कौम के बीच जो पत्र-व्यवहार जारी था, उसे समझाया गया। 'इण्डियन-ओपीनियन' में तो हर सप्ताह का रोजनामचा छप रहा था। इसलिए कौम सब बातों से पूरी तरह वाकिफ रहती। सबको समझा दिया गया कि ऐच्छिक परवाने निरर्थक साबित होंगे। अगर किसी न किसी तरह खूनी कानून रद्द न हो पाया, तो हमें उन परवानों को जला ही देना चाहिए जिससे स्थानीय सरकार समझ ले कि कौम अपने निश्चय पर अटल है, निश्चिन्त है, बल्कि जेल जाने तक के लिए तैयार है। और इसी हेतु से प्रत्येक जगह से परवाने भी इकट्ठे किये जा रहे थे।

सरकार की तरफ से उस मसविदे को मंजूर करने की तैयारियाँ होने लगीं, जिसका हाल हम पिछले प्रकरण में पढ़ चुके हैं। ट्रांसवाल की धारा-सभा की बैठकें शुरू हुईं। कौम ने उसमें भी

अपनी दरख्वास्त भेजी। नतीजा कुछ न निकला। अन्त में सत्याग्रहियों ने 'अल्टिमेटम्' भेजा। 'अल्टिमेटम्' के मानी हैं वह निश्चय-पत्र या धमकी-पत्र, जो युद्ध करने के हेतु से ही भेजा जाता है। कौम ने 'अल्टिमेटम्' शब्द का उपयोग नहीं किया था। पर कौम की तरफ से अपना निश्चय जाहिर करने वाला जो पत्र गया था, उसका परिचय जनरल स्मट्स ने धारा-सभा में 'अल्टिमेटम्' नाम से ही दिया। साथ ही यह भी कहा कि "जो लोग सरकार को इस तरह धौंस बताने जा रहे हैं, उन्हें सरकार की शक्ति का अनुमान नहीं है। मुझे दुःख तो केवल इसी बात का हो रहा है कि कितने ही उपद्रवी लोग(एजिटेटर)गरीब भारतीयों को उकसा रहे हैं। यदि गरीब लोगों पर उनका प्रभाव पड़ा तो वे बरबाद हो जावेंगे।" अखबारों के संवाद-दाताओं ने इस प्रसंग का वर्णन करते हुए लिखा है कि धारा-सभा के कई सदस्य 'अल्टिमेटम्' का नाम सुनते ही आग-बबूला हो गये। उनकी आँखों में खून उतर आया, और उन्होंने जनरल स्मट्स द्वारा पेश किया गया मसविदा एक-मत से मंजूर करलिया।

उपर्युक्त 'अल्टिमेटम्' मे केवल यही बातें थीं—"जनरल स्मट्स और भारतीय जनता के बीच जो समझौता हुआ था, उसमे मुख्य बात यही थी कि भारतीय यदि ऐच्छिक परवाने ले लें तो उनको कानूनन् करार देने के लिए धारासभा मे एक मसविदा पेश किया जाय, और एशियाटिक कानून रद किया जाय। यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि भारतीयों ने ऐच्छिक परवाने ठीक उसी तरह ले लिये जैसा कि सरकारी अधिकारी-गण चाहते थे। इसलिए अब एशियाटिक कानून तो अवश्य ही रद होना चाहिए। कौम ने जनरल स्मट्स से इस विषय मे खूब लिखा पढ़ी की। अलावा इसके, न्याय प्राप्त करने के लिए जितने भी कुछ अन्य

उपायों का अवलम्बन करना जरूरी और उचित था, वह सब कुछ कर गुजरी। पर उसका यह सारा प्रयत्न निष्फल हुआ। मसविदा धारासभा मे स्वीकृत होने ही को है, इस समय कौम मे जो अशान्ति और उत्तेजना फैली हुई है उसको सरकार पर जाहिर कर देना नेताओं का कर्तव्य है। अतः अब हमे दुःख के साथ यह कहना पड़ता है कि यदि समझौते की शर्तों के अनुसार एशियाटिक कानून रद नहीं किया गया, और यदि ऐसा करने के सम्बन्ध मे उसके निश्चय की खबर एक नियत समय से पहले कौम को न मिली तो वह उन तमाम परवानों को जला देगी, जिनको उसने एकत्र कर रक्खा है, और यह करने पर उस पर जो जो मुसीबतें आवेंगी उन सबको वह विनय और दृढ़तापूर्वक सह लेगी।"

यह कागज एक तो इसलिए 'अल्टिमेटम्' कहा गया कि उसमे जवाब के लिए समय बता दिया गया था। और दूसरा कारण यह था कि गोरों का साधारणतया यही खयाल था कि हिन्दुस्तानी लोग जंगली होते हैं। अगर गोरे लोग भारतीयों को अपने ही जैसा समझते, तो वे इस कागज को विनय-पत्र कहते, और उसपर गौर करते। पर गोरों का यह जंगलीपन का खयाल ही भारतीयों के लिए ऐसा कागज लिखने के लिए काफी कारण था। अब कौम के सामने दो समस्यायें थीं, एक तो यह कि खुद को जंगली समझ कर वह हमेशा के लिए दबी रहे, और दूसरी यह कि जंगलीपन को असत्य साबित करनेवाला कोई असली काम करके दिखा दे। और इस दिशा मे सब से पहला कदम यही कागज था। हाँ, यदि कौम ने उस पर अमल करने का दृढ़ निश्चय न किया होता, तो जरूर ही वह उद्धत समझा जाता और यह साबित होता कि भारतीय अविचारी तथा अनघड़ हैं।

पाठकों के दिल मे एक शंका हो सकती है। इस 'जंगलीपन' का इन्कार तो पहले पहल १६०६ में ही कर दिया गया था, जब सत्याग्रह की प्रतिज्ञा ली गई थी। और यदि यह सत्य है, तो इस कागज मे ऐसी कौन भारी विशेषता थी, जिसके कारण मैंने उसे इतना महत्त्व दे रक्खा है और मैं यह कह रहा हूँ कि इस कागज के द्वारा ही कौम ने अपना जंगली होने से इन्कार करना आरम्भ किया। एक दृष्टि से यह दलील सत्य मानी जा सकती है। पर ज़रा गहरा विचार करने पर मालूम होगा कि इन्कार करने का सच्चा आरम्भ तो निश्चय-पत्र से ही होता है। पाठकों को यह स्मरण रखना चाहिए कि सत्याग्रह की प्रतिज्ञा की घटना तो अनायास ही हो गई थी, उसके बाद की कैद वगैरा भी उसका एक अनिवार्य परिणाम मात्र थी, और उसमे कौम ने विजय भी अज्ञातत: ही प्राप्त की थी। इस कागज के समय तो सम्पूर्ण ज्ञान और अपनी प्रतिष्ठा के लिए दावा करने का स्पष्ट हेतु भी था। पहले की तरह खूनी कानून को रद करने का हेतु तो अब भी जरूर था। पर इसके साथ ही साथ भाषा, शैली, कार्य-पद्धति का चुनाव आदि में भी काफी फर्क था। गुलाम मालिक को सलाम करता है, और एक मित्र भी अपने मित्र को सलाम करता है। है तो दोनों ही सलाम, पर उन दोनों में इतना फर्क है कि एक तटस्थ प्रेक्षक फौरन एक को गुलाम और दूसरे को मित्र समझ जाता है।

'अल्टिमेटम्' भेजते समय हम लोगों मे यह चर्चा भी हुई थी कि समय देकर उत्तर माँगना कहीं अविनय मे तो नहीं शुमार होगा? कहीं ऐसा न हो कि स्थानीय सरकार हमारी माँग को स्वीकार करने जा रही हो, और इस कागज को पढ़कर चिढ़ जाय और उसको अस्वीकार करदे। क्या, केवल अप्रत्यक्ष रूप से कौम का निश्चय जाहिर कर देना ही काफी न होगा? इस तरह

सोच विचार के बाद हम सब एक मत से इसी निर्णय पर पहुँचे कि जो सत्य और योग्य हो, वही किया जाय। इसके लिए यदि अविनयी होने का दोष हमारे सिर मढ़ा जाय, तो उसे भी हमें सह लेना चाहिए। सरकार यदि हमारे साथ न्याय करना चाहती हो, और इस कागज को पढ़ कर वह झूठ-मूठ ही नाराज होने का बहाना कर के न्याय करने से इन्कार भी करदे, तो परवा नहीं। इस जोखिम को भी हमें झेल लेना चाहिए। अगर हम यह कबूल करने के लिए तैयार नहीं कि मनुष्य की हैसियत से हम किसी भी तरह हीन हैं, और साथ ही अनियमित समय तक तमाम दुखों को सहने के लिए तैयार हैं, तब तो हमें वही रास्ता ग्रहण करना होगा जो सरल और योग्य हो।

अब शायद पाठक देख सकेंगे कि इस बार के निश्चय में कुछ और ही नवीनता, कुछ और ही विशेषता थी। उसकी प्रतिध्वनि धारा सभा और गोरों के मण्डलों में भी सुनाई दी। कितनों ही ने भारतीयों की हिम्मत की तारीफ की। पर कितने ही गोरे आग बबूला भी हो गये। उनके मुँह से तो यह उद्गार भी निकलने लगे कि हिंदुस्तानियों को इस उद्दण्डता के लिए जरूर ही सजा देनी चाहिए। दोनों पक्षों ने अपनी चाल-ढाल से भारतीयों के इस कार्य की नवीनता को स्वीकार किया। यद्यपि उस समय सत्याग्रह एक दम नवीन वस्तु थी। पर फिर भी पिछले सत्याग्रह की अपेक्षा इस पत्र द्वारा कहीं ज्यादा हलचल मच गई। इसका एक प्रत्यक्ष कारण भी है। जिस समय सत्याग्रह शुरू हुआ था, उस समय कौम की शक्ति का ठीक-ठीक पता भी किसी को न था। उस समय न तो ऐसा कागज और न उसकी भाषा ही शोभा दे सकती थी। पर अब तो कौम थोड़ी बहुत कसौटी पर चढ़ चुकी थी और इस बात को सभी जान गये थे कि सामाजिक मुसीबतों का सामना करते हुए आने

वाले कष्टों को सहने की शक्ति कौम में है। इसलिए निश्चय-पत्र की भाषा स्वभावतः अशोभनीय नहीं, बल्कि प्रभाव शाली ही मालूम हुई।

: ३ :

ऐच्छिक परवाने की होली

'अल्टिमेटम्' अथवा निश्चय-पत्र की आखिरी मियाद का दिन वही रक्खा गया था, जिस दिन कि वह दूसरा एशियाटिक कानून मंजूर होने को था। मियाद बीतने के दो घंटे बाद परवाने जलाने का सार्वजनिक समारोह करने के हेतु एक सभा निमन्त्रित की गई थी। सत्याग्रह-कमिटि ने सोचा था कि यदि कहीं सरकार अनुकूल उत्तर भेज दे, यद्यपि एक अकल्पित बात ही होती तो भी वह सभा निरर्थक न सिद्ध होगी। क्योंकि यदि ऐसा ही हुआ तो उस सभा द्वारा सरकार का अनुकूल निश्चय भी जाहिर किया जा सकता था।

कमिटी का खयाल तो यह था कि सरकार निश्चय-पत्र का कोई उत्तर ही न देगी। हम सब पहले ही से सभा-स्थान पर पहुँच गये थे। यह व्यवस्था भी कर दी गई थी कि यदि कहीं सरकार का उत्तर तार से आया तो वह भी फौरन् मिल जाय। नियमानुसार सभा मस्जिद की सड़क पर भरी थी, और समय चार बजे का था। मस्जिद वाला मैदान भारतीयों से खचाखच भर गया। दक्षिण अफ्रिका के हब्शी लोग अपना खाना पकाने के लिए चार

पैर वाली कढ़ाइयाँ रखते हैं जो आवश्यकतानुसार छोटी या बड़ी भी होती हैं। इसी तरह की बड़ी से बड़ी एक कढ़ाई, जो वहाँ मिल सकी, परवाने जलाने के लिए एक भारतीय व्यापारी की दूकान से माँग लाये थे, और उसे एक कोने में ऊँचे मंच पर रखवा दिया गया था।

सभा शुरू करने का समय हुआ, कि इतने ही में एक स्वयं-सेवक बाई-सिकल पर चढ़ कर आ पहुँचा। उसके हाथ में तार था। वह सरकार का उत्तर था। उसमें कौम के निश्चय पर दुःख प्रकट करते हुए यह ज़ाहिर किया था कि सरकार अपने निश्चय को नहीं बदल सकती। तार सभा को पढ़ कर सुना दिया गया। सभा ने उसका बड़ा स्वागत किया, मानों यदि सरकार निश्चय-पत्र की माँग को मंजूर कर लेती, तो परवानों की होली जलाने का शुभ अवसर हाथ से जाता रहता। यह कहना महा कठिन है कि इस हर्ष को योग्य कहा जाय या अयोग्य। इसके उचित अनुचित का निर्णय तो तब तक नहीं दिया जा सकता, जब तक कि हम सरकार के इस उत्तर का करतल-ध्वनि से स्वागत करने वालों के हेतु को नहीं जान लेते। हाँ, इतना तो जरूर कहा जा सकता है कि यह प्रसन्नता सभा के उत्साह की सुन्दर निशानी थी। सभा अपनी शक्ति को कुछ-कुछ पहचानने लग गई थी। अस्तु।

सभा का कार्य शुरू हुआ। अध्यक्ष ने सभा को सावधान किया। परिस्थिति को समझाया। प्रसंगोचित प्रस्ताव स्वीकृत किये गये। जो भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ पैदा हो गई थीं उन सबको मैंने समझाया और कहा 'जिन भाइयों ने अपने परवाने जलाने के लिए दिये हैं, यदि वे चाहें तो उन्हें वापिस ले सकते हैं। परवानों को जला देना मात्र कोई अपराध नहीं है और न केवल यह कर लेने भर से उनकी इच्छा पूरी हो सकती है, जो जेल जाना चाहते हैं। परवाने जला कर तो हम केवल अपना यह निश्चय ज़ाहिर

करते हैं, कि हम खूनी कानून के सामने अपना सर नहीं झुकावेंगे, और न हम इतनी शक्ति भी अपने पास रखना चाहते हैं कि मौका पड़ने पर, भारी मुसीबत के समय, झट परवाना दिखा कर छूट जायँ। यदि कोई इस सभा में सबके साथ अपना परवाना भी जला दे और कल ही जाकर नया परवाना ले आवे, तो उसे कोई रोक नहीं सकता। पर जो यह कुकर्म करना चाहता हो, और जिसे यह सन्देह हो कि परीक्षा के समय शायद मैं मजबूत न रह सकूँगा, उसके लिए भी अभी समय है। वह अपना परवाना वापिस ले सकता है। जिसे अपना परवाना वापिस लेने की इच्छा हो, उसे इस समय जरा भी लज्जा या संकोच न करना चाहिए। लज्जा और संकोच का कोई कारण ही नहीं। मैं तो इसे एक प्रकार की बहादुरी कहूँगा। हाँ, बाद में परवाने की नकल लेना जरूर लज्जा और बदनामी की बात कही जा सकती है। उससे कौम की हानि भी होगी। एक बात और है। कौम को यह भी याद रखना चाहिए कि, सम्भव है, युद्ध बहुत दिन चले। हम यह भी जानते हैं कि हम में से कितने ही अपने निश्चय से गिर गये हैं, अतः यह तो जाहिरा बात है कि अब जो बचे रह गये हैं उनको कौम की गाड़ी और भी अधिक ताकत के साथ खींचनी होगी। इसलिए आप सबसे मेरी यह सलाह है कि आज का यह साहस-कार्य करने से पहले हम इन सब बातों का पूरा-पूरा विचार कर लें।

मेरे भाषण के बीच में सभा से यह आवाज तो उठती ही रहती थी कि 'हमें परवानों की जरूरत नहीं है। उनको जला दीजिए।' अन्त में मैंने उन लोगों को जो इस कार्य का विरोध जाहिर करने की इच्छा रखते हों, अपना पक्ष सभा के सामने रखने के लिए कहा। पर कोई खड़ा न हुआ। वह पुराना मित्र मीर

आलम भी इस सभा मे हाजिर था। खड़े होकर उसने कहा कि 'मैंने बड़ी भूल की जो आपको मारा था' और उसने अपना असल परवाना जलाने के लिए मुझे सौंप दिया। ऐच्छिक परवाना तो उसने लिया ही नहीं था। मैंने मीर आलम का हाथ पकड़ कर प्रेम-पूर्वक दबाया और उसे फिर से कह सुनाया कि मेरे दिल मे तो कभी किसी प्रकार का रोप था ही नहीं। मीर आलम के इस कार्य से सभा को असीम हर्ष हुआ।

इस समय कमिटि के पास २००० से भी अधिक परवाने जलाने के लिए आ पहुँचे थे। उनके बंडल को मैंने उस कढ़ाई मे फैलाया, ऊपर से मिट्टी का तेल छिडका और लगाई दियासलाई! एकाएक सारी सभा खड़ी हो गई, और जब तक वे परवाने जलते रहे तालियो से उसने सारे मैदान को गुंजा दिया। कितने ही लोगों ने अब तक भी अपने परवानों को अपने पास ही रख छोड़ा था। अब उनकी वर्षा मंच पर होने लगी। उन्हे भी उस कढ़ाई मे डाल दिया गया। जब उनसे पूछा गया कि होली जलाने से पहले ही परवाने क्यों नहीं दिये, तब कई लोगों ने उत्तर दिया कि हमारा खयाल था कि होली जलने के बाद देने मे अधिक शोभा है, और उसका असर भी अधिक पड़ता है। दूसरे कितनों ही ने साफ तौर से कबूल कर लिया कि 'हमे हिम्मत ही नहीं पडती थी। आखिरी घड़ी तक हमें यही सन्देह था कि शायद परवाने न भी जलाये जावें। पर अब यह होली देख कर तो हमसे जरा भी न रहा गया। जो सब की गति होगी, वही हमारी भी होगी,। इस तरह की अव्याज सरलता के कई नमूने हमें उस युद्ध में मिले। अंग्रेजी अखबारों के सम्वाददाता भी इस सभा मे आये थे। उन पर भी उस तमाम दृश्य का बड़ा सुन्दर असर पड़ा। उन्होंने अपने समाचार-पत्रों को सभा का पूरा वर्णन भेजा था। इंग्लैण्ड

के 'डेली मेल' के जोहान्सबर्ग वाले सम्वाददाता ने भी अपने 'पत्र' को सभा का वर्णन भेजा था। उसने परवानों की इस होली की तुलना उस घटना के साथ की थी, जब अमेरिका के अंग्रेजों ने इंग्लैण्ड से भेजी हुई चाय की पेटियों को बोस्टन के बन्दरगाह में डुबोकर अपना यह निश्चय जाहिर किया था कि वे कभी इंग्लैण्ड की अधीनता स्वीकार नहीं करेंगे। दक्षिण अफ्रिका में एक तरफ तो था १३००० भारतीयों का निराधार समुदाय और दूसरी ओर था ट्रान्सवाल का बलशाली राज्य। उधर अमेरिका में एक तरफ हर बात में कुशल गोरे लोग थे और दूसरी तरफ अंग्रेजी सल्तनत। मेरा तो खयाल है कि इन दोनों की तुलना कर 'डेली-मेल' के सम्वाददाता ने भारतीयों के विषय में जरा भी अत्युक्ति नहीं की। भारतीयों के पास तो सिवा अपने सत्य और परमात्मा के ऊपर श्रद्धा के और कोई हथियार ही नहीं था। इसमें शक नहीं कि एक श्रद्धालु मनुष्य के लिए यही हथियार सर्वोपरि है। परन्तु जन-समाज में अभी यह दृष्टि नहीं आई। इसलिए निःशस्त्र १३००० भारतीय सशस्त्र गोरों के मुकाबले में निर्बल ही समझे जावेंगे। पर वह दयाघन तो "निर्बल के बल राम" है न? इसलिए यही ठीक है कि संसार इन्हें निर्बल समझे।

: ४ :

कौम पर एक नया आरोप

धारा-सभा की जिस बैठक में (दूसरा) एशियाटिक कानून मंजूर किया गया, उसीमें जनरल स्मट्स ने एक और भी मसविदा पेश किया। उसका नाम था, 'इमिग्रण्ट्स् रिस्ट्रिक्शन एक्ट' अर्थात् नवीन बस्ती का नियमन करने वाला कानून। यह कानून यों तो सबको एकसा ही लागू होता था, पर उसका मुख्य उद्देश तो यही था कि नवीन भारतीयों को वहाँ आने से रोका जाय। नेटाल में भी इसी आशय का एक कानून था। यह उसका अनुकरण मात्र था। पर उसमें एक धारा यह भी थी कि प्रतिबद्ध बस्ती की व्याख्या में उनका भी समावेश हो जाय, जिन पर एशियाटिक कानून अमल करता हो। अर्थात् यह कानून इस युक्ति से बनाया गया था कि अप्रत्यक्ष रूप से उसके अनुसार एक भी नवीन भारतीय वहाँ प्रवेश न पा सके। इसका विरोध करना तो कौम के लिए बड़ा ही आवश्यक था। पर कौम के सामने अब यह महत्व पूर्ण सवाल खड़ा हो गया कि इस नवीन बात को भी सत्याग्रह के उद्देशों में शामिल किया जाय या नहीं। निःसन्देह कौम किसीके साथ इस विषय में बँधी हुई नहीं थी कि वह कब किस विषय में सत्याग्रह करे। उसकी मर्यादा तो उसकी

अपनी शक्ति और विवेक ही था। बात-बात पर कोई सत्याग्रह करने चले तब तो वह निरा दुराग्रह ही हो जाय। दूसरे, अपनी शक्ति का पूरा खयाल करने से पहले ही यदि आदमी सत्याग्रह ठान बैठे और यदि पीछेसे उसे हारना पड़े, तो वह खुद तो बदनाम होगा ही, पर साथ ही इस महान् शस्त्र को भी बदनाम कर देगा।

कमिटी ने देखा कि कौम ने तो केवल खूनी कानून के विरोध मे ही सत्याग्रह शुरू किया है। यदि वह रद हो जावे तब तो नवीन बस्ती से सम्बन्ध रखने वाले कानून में जो बुराई ऊपर बताई जा चुकी है, वह भी अपने आप ही नष्ट हो सकती है। पर साथ ही एक बात और भी थी। यदि यह समझकर हम चुप चाप रहें कि खूनी कानून ही रद हो जाय, तो बस्ती से सम्बन्ध रखने वाले दूसरे कानून के विषय मे पृथक चर्चा अथवा आन्दोलन करने की कोई आवश्यकता नहीं है, तो उसका यही अर्थ होगा कि भारतीयों को नवीन बस्ती से सम्बन्ध रखने वाले तमाम प्रतिबन्धों को हमने स्वीकार कर लिया। इसलिए उस कानून का विरोध करना तो जरूरी था, पर उसे सत्याग्रह के उद्देश मे शामिल किया जाय या नहीं? कौम ने सोचा कि सत्याग्रह के शुरू हो जाने पर उस पर होने वाले सभी आक्रमणों को सत्याग्रह में शामिल कर लेना उसका धर्म है। हाँ, अपनी ही कमजोरी के कारण हम यदि ऐसा न कर सकें तो बात जुदी है। आखिर नेताओं ने भी यही निर्णय किया कि शक्ति के अभाव, अथवा न्यूनता के बहाने इस जहरीली धारा को हम कभी बरदाश्त नहीं कर सकते। अतः उसे भी हमें सत्याग्रह के उद्देश मे शामिल कर लेना चाहिए।

अब स्थानीय सरकार से इस विषय मे पत्र-व्यवहार शुरू हुआ। किन्तु इसका फल कुछ न हुआ। कानून मे कोई परिवर्तन नहीं हुआ। हाँ, उलटे कौम को, और सच पूछिए तो मुझे, बदनाम

करने के लिए एक नवीन साधन मात्र जनरल स्मट्स के हाथ लग गया। वह जानते थे कि जाहिरा तौर पर जितने गोरे कौम की सहायता कर रहे थे, उनसे कहीं अधिक खानगी तौर से कौम के साथ सहानुभूति रखते थे। अतः उन्होंने स्वभावतः सोचा कि यदि गोरों की इस सहानुभूति को वे नष्ट कर सकें तो कैसा अच्छा हो! यह सोच विचार कर उन्होंने मुझ पर यह आरोप लगाया कि इसने एक और भी नई बात खड़ी कर दी। बल्कि वह तो इससे भी आगे बढ़ गये। उन्होंने तो अपनी बात-चीत तथा लेखों द्वारा हमारे अंग्रेज सहायकों से यहाँ तक कहा कि 'गांधी को जितना मैं जानता हूँ उतना आप लोग नहीं जानते। आप यदि इसे उँगली बतावेंगे तो यह फौरन हाथ ही पकडने की कोशिश करेगा। यह सब मैं जानता हूँ। इसीलिए एशियाटिक एक्ट रद नहीं करता हूँ। जब उसने सत्याग्रह छेड़ा था, तब नवीन बस्ती-वाले कानून का तो कहीं नामोनिशान भी नहीं था। अब ट्रान्स-वाल की रक्षा के लिए नवीन भारतीयों को यहाँ आने से रोकते हैं तो वहाँ भी यह अपना सत्याग्रह घुसेड़ना चाहता है। इस चालाकी (Cunningness) को हम कहाँ तक बरदाश्त करें? यह जो चाहे सो करे। भले ही सब भारतीय बरबाद हो जायँ। मैं इस कानून को अब रद नहीं करूँगा और न उस नीति को ही छोड़ूँगा, जो स्थानीय सरकार ने भारतीयों के विषय मे कायम कर रक्खी है। प्रत्येक गोरे का भी यही कर्तव्य है कि वह इस न्याय्य-विधान का समर्थन करने के लिए तैयार हो जावे।' किंचित् विचार करने से मालूम होगा कि उपर्युक्त दलील बिलकुल अनुचित और नीति-विरुद्ध थी। जिस समय नवीन बस्ती का प्रतिबन्ध करने वाले कानून का जन्म ही नहीं हुआ था, तब भला मैं या कौम उसके विरोध में आन्दोलन ही कैसे

कर सकते थे ? उन्होंने मेरी चालाकी अथवा (Cunningness) के अनुभव की बात कह तो डाली, पर वे इसके प्रमाण मे एक भी उदाहरण पेश नहीं कर सके थे। मैं खुद भी तो जानता हूँ कि मैं इतने साल दक्षिण अफ्रिका मे रहा, पर मुझे स्मरण नहीं होता कि मैंने वहाँ कभी चालाकी से काम लिया हो। बल्कि इस प्रसग पर तो मुझे और भी आगे बढ कर यहाँ तक कहने मे भी कोई हिच-किचाहट् नहीं मालूम होती कि अपने सारे जीवन मे मैंने कभी चालाकी से काम नहीं लिया। मैं इसे नीति-विरुद्ध ही नहीं बल्कि युक्ति-विरुद्ध भी मानता हूँ। इसलिए व्यवहार-बुद्धि से भी मैंने उसका उपयोग करना कभी पसन्द नहीं किया। अपने बचाव के लिए मै इतना लिखना भी आवश्यक नहीं मानता। जिन पाठकों के लिए मैं यह लिख रहा हूँ, उनके सामने मुझे यह बचाव अपने ही मुँह से करते हुए लज्जा मालूम होती है। यदि उन्हें अब तक मेरे निश्छल और निष्कपट स्वभाव का अनुभव न हुआ हो, तो मैं यह बात अपना बचाव दे कर कभी सिद्ध नहीं कर सकता। उपर्युक्त वाक्य तो मैंने केवल इस हेतु से लिखे कि पाठकों को इस बात की थोडी बहुत कल्पना हो जाय कि सत्याग्रह के युद्ध मे लडते समय कैसे-कैसे सकटों का सामना करना पड़ता था। साथ ही पाठक इस बात को भी समझलें कि सुनीति के निर्दिष्ट मार्ग से यदि कौम जरा भी विचलित हो जाती तो किस खतरे मे वह जा गिरती। बीस फीट ऊँची लकड़ी पर लटकाई हुई रस्सी पर चलने वाले नटों को कितनी एकाग्रता करनी पड़ती है! उनकी नजर जरा भी चूकी कि दोनों तरफ, जिस तरफ वे गिरें उसी तरफ मौत उनका स्वागत करने लिए तैयार रहती है। मैंने भी आठ साल के विशाल अनुभव से यही सीखा कि ठीक नट की तरह, बल्कि उससे भी अधिक एकाग्र नजर करके सत्याग्रही को भी संसार मे बरतना

पड़ता है। जिन मित्रों के समक्ष जनरल स्मट्स ने अपने अनुभव की बात कही थी, वे मुझे भली भॉति जानते थे। इसलिए उन पर जनरल स्मट्स की धारणा के ठीक विपरीत ही प्रभाव पडा। उन्होंने न तो मेरा त्याग किया और न युद्ध का ही। इतना ही नहीं, बल्कि अब तो वे और भी अधिक दिलचस्पी के साथ सहायता करने लग गये। कौम को भी आगे चलकर यही अनुभव हुआ कि यदि बस्ती के कानून का हम लोग सत्याग्रह मे समावेश न करते तो हमें भारी मुसीबत का सामना करना पड़ता।

अनुभव मुझे यह शिक्षा देता है कि जिसे मैं 'वृद्धि का नियम'-कहता हूँ वह प्रत्येक शुद्ध लडाई मे लागू होता है परन्तु सत्याग्रह के विषय मे तो मैं उसे सिद्धान्त रूप से मानता हूँ। गंगाजी ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती जाती है, त्यों-त्यो उनमें अनेक नदियाँ मिलती जाती हैं और अन्त मे उनके मुख के पास उनका पात्र इतना विशाल हो जाता है कि न तो दाहिनी ओर और न बॉई ओर किनारा दीख पड़ता है। नाव में बैठे हुए मुसाफिर को तो उनके और समुद्र के विस्तार में कोई फर्क नहीं दिखाई देता। यही बात सत्याग्रह के युद्ध के विषय में भी चरितार्थ होती है वह ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उसमें अनेक वस्तुएँ मिलती चली जाती है, और इसलिए उसके परिणाम मे भी वृद्धि होती जाती है। सत्याग्रह के इस परिणाम को, उसकी इस विशेषता को, मैं अनिवार्य मानता हूँ। उसका कारण उसका मूल-भूत तत्व ही है। क्योंकि सत्याग्रह मे तो कम से कम ही ज्यादा से ज्यादा है। अर्थात् जो कम से कम है, उसमे से और छोड़ा भी क्या जा सकता है? शुद्ध सत्य से कम क्या होगा? इसलिए उसमे मनुष्य पीछे तो हट ही नहीं सकता। स्वाभाविक क्रिया वृद्धि ही है। अन्य लड़ाइयॉ शुद्ध हो सकती हैं, किन्तु उनमें

आगे चल कर अपनी माँगें बढ़ाने के लिए अवकाश पहले ही से रक्खा जाता है। इसलिए मैंने इस विषय में यह शंका जाहिर की कि वृद्धि का नियम उनमें निरपवाद रूप से नहीं लग सकता। अब यह समझाना बाकी रहा कि वृद्धि का नियम निरपवाद रूप से ही कैसे लगता है, जहाँ माँग कम से कम है। जिस तरह गंगा नदी वृद्धि को ढूँढने के लिए अपना मार्ग नहीं छोड़ती, ठीक उसी तरह सत्याग्रही भी अपने मार्ग को, जो तलवार की धार के समान है, नहीं छोड़ता। गंगा का प्रवाह ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों अन्य सरितायें उसे अपने आप मिलती जाती हैं; ठीक वही बात सत्याग्रह की गंगा के विषय में भी चरितार्थ होती है। बस्ती का कानून सत्याग्रह में शामिल कर लेने पर, और उसे देख कर सत्याग्रह के सिद्धान्तों को न जानने वाले कितने ही भारतीयों ने यह आग्रह किया कि ट्रान्सवाल के भारतीयों के खिलाफ जितने भी कानून हैं, उन सबको सत्याग्रह में शामिल कर लिया जाय। दूसरे कितने ही लोगों ने यह भी कहा कि जब तक सत्याग्रह शुरू है, तब तक नेटाल, केप कॉलोनी, ऑरेन्ज फ्री स्टेट आदि सब को निमन्त्रित कर, समस्त दक्षिण अफ्रिका के भारतीयों के खिलाफ जितने भी कानून हैं, उनमें से प्रत्येक के विरुद्ध सत्याग्रह छेड़ दिया जाय। परन्तु इन दोनों बातों से सिद्धात का भंग होता। मैंने उनसे स्पष्ट कह दिया कि जिस बात को हमने सत्याग्रह शुरू करने से पहले पेश नहीं किया था, उसे अब मौका देख कर खड़ी करना अप्रामाणिकता है। हमारी शक्ति चाहे जितनी क्यों न बढ़ जाय, तथापि जिस बात के लिए हमने सत्याग्रह छेड़ा था, वह सिद्ध होते ही हमें अपने सत्याग्रह को भी समाप्त कर देना चाहिए। अगर हम इस सिद्धान्त पर दृढ़ न रहते तो मेरा पूरा विश्वास है कि जीतने के बदले हमें हारना ही पड़ता।

इतना ही नहीं, वल्कि हमने जो विश्वास सम्पादन कर लिया था, उससे भी हमे हाथ धोना पड़ता। इसके विपरीत प्रतिपक्षी सत्याग्रह के बीच ही मे यदि नई आपत्तियॉ खड़ी कर दे, तो अवश्य ही उनका समावेश सत्याग्रह में हो जाता है। अपने निश्चित मार्ग पर चलते हुए सत्याग्रही यदि राह मे अनायास आने वाली वस्तुओं की अवगणना करे तो उसे सत्याग्रह को ही छोड़ना पड़े। और प्रतिपक्षी तो सत्याग्रही होता ही नहीं। (क्योंकि सत्याग्रह के विपक्ष मे सत्याग्रह एक असम्भवनीय वस्तु है।) इसलिए उसे न्यूनाधिकता का बन्धन ही नहीं होता। यदि वह सत्याग्रही को डराना चाहे तो कोई नवीन वस्तु खड़ी करके ऐसा कर सकता है। पर सत्याग्रही भय को तो पहले ही से त्याग देता है। इसलिए प्रतिपक्षी के नवीन आपत्तियाँ खड़ी करने पर भी सत्याग्रही अपना मंत्रोच्चार उसी तरह शुरू रखता है। और यह श्रद्धा रखता है कि इन तमाम आपत्तियों के सामने यह मंत्रोच्चार अवश्य ही फलदायी होगा। इसीलिए सत्याग्रह की लड़ाई ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, अर्थात् प्रतिपक्षी ज्यों-ज्यो उसे लम्बाता है, त्यों-त्यों सत्याग्रही की दृष्टि से तो प्रतिपक्षी अपनी हानि और सत्याग्रही का फायदा ही करता है। इस लड़ाई के इतिहास मे हम इस नियम के कई उदाहरण आगे चलकर देखेंगे।

: ५ :

सोराबजी शापुरजी अडाजनिया

नवीन बस्ती वाला कानून भी सत्याग्रह मे शामिल कर लिया गया। पर नवीन भारतीयों को दाखिल करना आसान नहीं था। यह करना भी सत्याग्रहियों का ही काम था। कमिटी ने यह तो निश्चय कर लिया था कि ऐसे वैसे भारतीय से यह काम नहीं लेना चाहिए। नवीन बस्ती के कानून मे दो प्रतिबंधक शर्तें थीं, जिनके विषय में हमे कोई आपत्ति नहीं थी। अत: हमने किसी ऐसे ही मनुष्य को ट्रान्सवाल में दाखिल करके जेल रूपी महल मे भेज देना चाहा, जो उन दोनों शर्तों का पालन कर सकता हो। इसके द्वारा हमे यह साबित करना था कि सत्याग्रह तो मर्यादा-धर्म है। इस कानून में एक यह भी धारा थी कि ट्रान्सवाल में आनेवाले नवीन आदमी को यूरोप की किसी भी एक भाषा का ज्ञान होना जरूरी है। इसलिए कमिटी ने किसी ऐसे ही आदमी को ट्रान्सवाल में लाने का सोचा, जो अंग्रेजी जानता हो पर पहले कभी ट्रान्सवाल मे न रहा हो। कितने ही भारतीय उमीदवार खड़े हुए। पर कमिटी ने उनमे से सोराबजी शापुरजी अडाजनिया की प्रार्थना को ही बतौर कसौटी (टेस्ट केस) के मान्य किया।

सोराबजी पारसी थे। नाम से ही स्पष्ट है। सारे दक्षिण अफ्रिका में पारसियों की जन-संख्या सौ से ज्यादह नहीं होगी।

पारसियों के विषय मे दक्षिण अफ्रिका मे भी मेरा वही मत था जो मैंने भारतवर्ष में प्रकट किया है। संसार भर में एक लाख से ज्यादा पारसी नहीं होंगे। परन्तु इतनी छोटी सी जाति अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा कर रही है, अपने धर्म पर दृढ़ है, और उदारता में संसार की एक भी जाति उसकी बराबरी नहीं कर सकती। इस जाति की उच्चता के लिए इतना ही प्रमाण काफी होगा। अनुभव से ज्ञात हुआ कि सोराबजी उसमे भी रत्न थे। जब वह लड़ाई मे शामिल हुए, तब मैं उनको वैसे ही मामूली तौर पर जानता था। लड़ाई मे शामिल होने के लिए उन्होंने पत्र-व्यवहार किया था, और उससे मेरा ख़याल भी अच्छा हो गया था। मैं पारसी लोगों के गुणों का तो पुजारी हूँ, परन्तु एक कौम की हैसियत से उनमें जो ख़ामियाँ हैं उनसे मैं न तो अपरिचित था और न अब ही हूँ। इसलिए मेरे दिल मे यह सन्देह जरूर मौजूद था कि शायद सोराबजी परीक्षा मे उत्तीर्ण नहीं हो सकेंगे। पर मेरा यह नियम था कि सामनेवाला मनुष्य जब इसके विपरीत बात कर रहा हो, तब ऐसे शक पर अधिक ध्यान नहीं देना चाहिए। इसलिए मैंने कमिटी से यह सिफारिश की कि सोराबजी अपने पत्र में जो दृढ़ता जाहिर कर रहे हैं उसपर हमे विश्वास कर लेना चाहिए। फल यह हुआ कि सोराबजी प्रथम श्रेणी के सत्याग्रही साबित हुए। लम्बी से लम्बी कैद भोगने वाले सत्याग्रहियों में वह भी एक थे। इतना ही नहीं, बल्कि उन्होंने तो सत्याग्रह का इतना गहरा अध्ययन कर लिया था कि उसके विषय मे वह जो कुछ भी कहते सबको सुनना पड़ता। उनकी सलाह मे हमेशा दृढ़ता, विवेक, उदारता, शान्ति आदि गुण प्रकट होते। विचार कायम करने में वह जल्दी तो कदापि नहीं करते थे। और एक बार विचार कायम कर लेने पर वह कभी उसे बदलते भी नहीं थे। जितने अंशों में उनमें पारसीपन था, और वह

उसमें ठूँस-ठूँस कर भरा हुआ था, उतना ही भारतीयपन भी था। संकीर्ण जाति-अभिमान जैसी वस्तु तो उनमें किसी दिन भी नहीं पाई गई। लड़ाई खतम होने पर डा० मेहता ने अच्छे सत्याग्रहियों में से किसीको इंग्लैण्ड भेजकर बैरिस्टर बनाने के लिए एक छात्र-वृत्ति दी थी। उसके लिए योग्य छात्र चुनने का काम मुझ पर ही रक्खा गया था। दो तीन सुयोग्य भारतीय थे। पर समस्त मित्र मंडल को दृढ़ता तथा स्थिरता में सोराबजी के मुकाबले में खड़ा होने योग्य कोई नहीं मिला, इसलिए उन्हींको चुना गया। ऐसे एक भारतीय को इंग्लैण्ड भेजने में मुख्य उद्देश यही था कि वह लौट कर दक्षिण अफ्रिका में मेरे बाद मेरा स्थान ग्रहण कर जाति की सेवा कर सके। कौम का आशीर्वाद और सन्मान लेकर सोराबजी इंग्लैण्ड पहुचे। बैरिस्टर हुए। गोखले से तो उनका परि-चय दक्षिण अफ्रिका में ही हो चुका था। पर इंग्लैण्ड जाने पर उनका सम्बन्ध और भी दृढ़ हो गया। सोराजबी ने उनके मनको हर लिया। गोखले ने उनसे यह आग्रह भी किया कि जब कभी वह भारत में आवें तब 'भारत-सेवक-समिति' के सभ्य जरूर होवें विद्यार्थीवर्ग में वह बड़े प्रिय हो गये थे। प्रत्येक मनुष्य के दुख में वह भाग लेते। इंग्लैण्ड के न तो आडम्बर की उनपर किंचिन्मात्र छाप पड़ी और न वहाँ के ऐशो-आराम की। वह जब इंग्लैण्ड गये तब उनकी उम्र ३० साल से ऊपर थी। उनका अंग्रेजी का अध्ययन ऊँचे दर्जे का न था। व्याकरण वगैरा सब भूल भाल गये थे। पर मनुष्य के दीर्घोद्योग के सामने ये कठिनाइयाँ कब खड़ी रह सकी हैं शुद्ध विद्यार्थी जीवन व्यतीत कर, सोराबजी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते गये। मेरे जमाने की बैरिस्टरी की परीक्षा आजकल की परीक्षा की तुलना में कुछ आसान थी। इसलिए आजकल के बैरिस्टरों को अधिक अभ्यास करना पड़ता है। पर सोराबजी पीछे नहीं हटे

इंग्लैण्ड मे जब एम्ब्युलन्स कोर की स्थापना हुई, तब उसका आरंभ करने वालों में वह भी थे, और आखिर तक उसमे रहे। इस दल को भी सत्याग्रह करना पड़ा था। उसमे से कई फिसल गये थे पर फिर भी जो अटल रहे, उनमे सोराबजी अग्रगण्य थे। यहाँ पर मुझे यह भी कह देना चाहिए कि इस दल को सत्याग्रह में भी विजय ही मिली थी।

इंग्लैण्ड मे बैरिस्टर होकर सोराबजी जोहान्सबर्ग गये। वहाँ पर उन्होंने सेवा और वकालत दोनों साथ ही साथ शुरू कर दीं। दक्षिण अफ्रिका से मुझे जो पत्र मिले उनमे सोराबजी की तारीफ सभी करते थे। वह अब भी वैसे ही सादा मिजाज हैं, जैसे पहले थे, आडम्बर जरा भी नहीं है। छोटे से बड़े तक सब से हिल-मिल कर रहते हैं। मालूम होता है, परमात्मा जितना दयालु है उतना ही शायद निठुर भी है। सोराबजी को तीव्र क्षय ने ग्रसा, और कौम का नवीन प्रेम सम्पादन कर उसे दुख मे रोती हुई छोड़ कर वह चल बसे। इस तरह परमात्मा ने कौम के दो पुरुष-रत्न छीन लिये—काछलिया और सोराबजी।

पसन्दगी ही करनी हो तो मैं इन दो मे से किसे प्रथम-पद दूँ? पर मैं तो इस तरह की पसन्दगी ही नहीं कर सकता। दोनों अपने-अपने क्षेत्र मे अप्रतिम थे। काछलिया शुद्ध मुसल-मान और उतने ही शुद्ध भारतीय भी थे; उसी प्रकार सोराबजी भी शुद्ध पारसी और साथ ही उतने ही शुद्ध भारतीय थे।

यही सोराबजी पहले पहल सरकार को नोटिस देकर केवल 'टेस्ट' अर्थात् कसौटी के लिए ट्रान्सवाल आये। सरकार इसके लिए जरा भी तैयार नहीं थी। इसलिए वह एकाएक यही निश्चय नहीं कर सकी कि सोराबजी के साथ क्या करना चाहिए। सोराबजी तो जाहिरा तौर पर सरहद लाँघ कर ट्रान्सवाल मे आ धमके।

परवाने जाँचनेवाले सरकारी अधिकारी उनको जानते थे। सोराबजी ने कहा—"मैं केवल इसी हेतु से ट्रान्सवाल में प्रवेश कर रहा हूँ कि देखूँ सरकार मेरा क्या करती है। यदि आप मेरी अंग्रेजी की परीक्षा लेना चाहें तो सवाल कीजिए। और अगर गिरफ्तार करना हो, तो यह खड़ा हूँ, गिरफ्तार कर लीजिए।" अधिकारी ने कहा "मुझे यह मालूम है कि आप अंग्रेजी जानते हैं। इसलिए परीक्षा तो कुछ लेना-लिवाना है नहीं। और न आपको गिरफ्तार करने के लिए मेरे पास कोई हुक्म ही है। इसलिए जहाँ जाना हो, आप सुखपूर्वक जाइएगा। यदि आपको गिरफ्तार करना आवश्यक मालूम हुआ, तो आप जहाँ कहीं जावेंगे, सरकार स्वय आपको गिरफ्तार कर लेगी।

इस तरह सोरावजी तो अकल्पित रूप से और अचानक जोहान्सवर्ग तक आ पहुँचे। हम सबने उनका बड़े हर्ष के साथ स्वागत किया। किसीको यह आशा तक नहीं थी कि सरकार सोराबजी को ट्रान्सवाल के सरहदी स्टेशन वाक्सरेस्ट से जरा भी आगे बढ़ने देगी। कई बार ऐसा होता है कि जब हम किसी मार्ग पर विचार पूर्वक और निर्भयता के साथ कदम बढ़ाते चले जाते हैं, तब सरकार उसका विरोध करने के लिए तैयार नहीं होती। प्रत्येक सरकार का प्राय यही हाल होता है। मामूली आन्दोलनों के समय सरकार का कोई भी अधिकारी अपने विभाग मे इतना गहरा मस्तिष्क डाले हुए नहीं रहता कि जिससे वह प्रत्येक विषय मे अपने विचार पहले ही से कायम करके रक्खे, और उनपर अमल करने के लिए तयारियाँ भी कर रक्खे। दूसरे, अधिकारी को अनेक प्रकार के काम होते हैं, जिससे उसका ध्यान बँट जाता है। इसके अलावा उसे अधिकार का कुछ मद भी होता है, जिसके कारण वह जरा लापरवाह सा रहता है। वह यह मान लेता है कि हर तरह

के आन्दोलन का सामना करके उसे दबा देना सत्ताधीश के बाँये हाथ का खेल है। इसके विपरीत आन्दोलन करने वाला यदि अपने ध्येय और उसके साधनों को भली भाँति जानता हो, और साथ ही यदि वह अपनी योजना पर दृढ़ हो, तब तो वह हमेशा पूरी तरह तैयार ही रहता है। क्योंकि उसे तो रात दिन केवल एक ही बात का विचार या चिन्ता रहती है। इसलिए यदि वह सचाई के साथ उचित मार्ग पर ही कदम रखता चला जाय, तो वह अवश्य ही सरकार से हमेशा आगे रहेगा। संसार की जो कितनी ही हलचलें निष्फल होती हैं, उनका प्रधान कारण सरकार की अपूर्व सत्ता नहीं, बल्कि आन्दोलनकारियों मे उपर्युक्त गुणों का अभाव ही होता है।

गरज यह कि सरकार की गफलत के कारण कहिए या जान बूझ कर निश्चित की हुई उसकी पहली नीति के अनुसार कहिए सोराबजी जोहान्सबर्ग तक आ पहुचे। इधर न तो स्थानीय अधिकारी को इस विषय में कुछ ख़याल था कि सोराबजी के जैसे मामले में क्या करना चाहिए, और न ऊपरसे ही उसे कोई सूचना मिली थी। सोराबजी के इस तरह एकाएक जोहान्सबर्ग पहुँच जाने से कौम का उत्साह खूब बढ़ गया। कितने ही युवक तो यही समझ गये कि सरकार हार गई। और शीघ्र ही उसे सुलह भी करनी होगी। पर यह स्वप्न अधिक देर तक न टिका। शीघ्र ही उन्हें इस बात को ठीक विपरीत सिद्ध होते हुए देखना पड़ा। बल्कि उन्होंने तो यह भी देख लिया कि सुलह होने से पहले शायद अनेकों युवकों को अपना बलिदान देना होगा।

सोराबजी ने अपने पहुँचते ही आने की खबर वहाँ के पुलिस सुपरिंटेण्डेन्ट को देकर लिखा कि नवीन बस्ती वाले कानून के अनुसार मैं अपने को ट्रान्सवाल मे रहने का हक़दार मानता हूँ'।

इसका कारण बताते हुए उन्होंने अपना अंग्रेजी भाषा का ज्ञान लिखाया। यह भी लिखा कि यदि अधिकारी उनकी अंग्रेजी की परीक्षा लेना चाहें, तो इसके लिए भी वह तैयार हैं। इस पत्र का कोई उत्तर न मिला। पर इसके कई दिन बाद उन्हें एक सम्मन मिला। मामला अदालत में पेश हुआ। न्यायालय भारतीय दर्शकों से खचाखच भर गया था। मामला शुरू होने से पहले, न्यायालय में आये हुए भारतीयों को वहीं अहाते में एकत्र कर उनकी एक सभा की गई, जिसमें सोराबजी ने एक जोशीला भाषण दिया। भाषण के अन्त में उन्होंने यह प्रतिज्ञा की कि—"पूरी जीत होने तक जितनी बार जेल में जाना होगा, मैं जाने को तैयार हूँ और जितने भी संकट आवेंगे उन सबको झेलने को तैयार हूँ"। अब तक इतना समय गुजर चुका था कि मैं सोराबजी को अच्छी तरह जानने लग गया था। मैंने अपने मन में यह भी समझ लिया था कि अवश्य ही सोराबजी एक शुद्ध रत्न सिद्ध होंगे। मुकदमा शुरू हुआ। मैं वकील की हैसियत से खड़ा हुआ। सम्मन में कितने ही दोष थे। उन्हें दिखाकर मैंने सोराबजी पर से सम्मन उठा लेने के लिए कोर्ट से अर्ज किया। सरकारी वकील ने अपनी दलीलें पेश कीं। पर अदालत ने मेरी दलीलों को स्वीकार कर सम्मन हटा लिया। कौम मारे हर्ष के पागल हो गई। सच पूछा जाय तो उसके इस तरह पागल होने के लिए कारण भी था। दूसरा सम्मन निकाल कर फौरन ही सोराबजी पर पुन. मुकदमा चलाने की हिम्मत तो सरकार को किस तरह हो सकती थी? और हुआ भी यही। इसलिए सोराबजी सार्वजनिक कामों में लग गये।

पर यह छुटकारा हमेशा के लिए नहीं था। स्थानीय भारतीयों को तो सरकार पकड़ती ही नहीं थी। सरकार ने देखा कि

वह ज्यों ज्यों गिरफ्तारियाँ करती जाती है त्यों-त्यों कौम का जोश बढ़ता ही जाता है फिर किसी न किसी मामले मे कानून की बारीकी के कारण यदि कोई भारतीय छूट जाता है, तो इससे भी कौम का जोश बढ़ता है। सरकार को जो कुछ भी कानून बनाने थे वह मंजूर कर चुकी थी। यह सत्य है कि बहुत से भारतीयों ने परवाने जला डाले थे, किन्तु परवाने लेकर वह वहाँ रहने का अपना हक भी तो सिद्ध कर चुके थे। इसलिए केवल उन्हें जेल भेजने ही के लिए उन पर मुक़दमा चलाना सरकार को फायदेमन्द नहीं मालूम हुआ। उसने यह भी सोचा कि यदि हम खामोश रहेंगे तो आन्दोलन करने के लिए इन लोगों के पास कोई कारण नहीं रह जायगा, और आन्दोलन अपने आप शान्त हो जायगा। पर सरकार का यह ख़याल गलत था। कौम ने सरकार की खामोशी का अन्त देखने के लिए एक ऐसा नवीन काम कर डाला जिससे उसे अपनी खामोशी अलग रख कर सोराबजी पर फिर मुकदमा चलाना पड़ा।

: ६ :

सेठ दाऊद महमद आदि का युद्ध में शामिल होना

जब कौम ने देखा कि सरकार अपनी चुप्पी और खामोशी से कौम को थका देना चाहती है, तब खुद उसीको अपना कदम आगे बढ़ाना पड़ा। सत्याग्रही में जबतक दु:ख सहने की शक्ति होगी तबतक तो वह कभी न थकेगा। सरकार की धारणा को झूठी साबित करने के लिए कौम समर्थ थी।

नेटाल में कई ऐसे भारतीय रहते थे, जिन्हें ट्रान्सवाल मे रहने के पुराने हक हासिल थे। व्यापार के लिए उन्हें ट्रान्सवाल आने की आवश्यकता नहीं थी। कौम यह मानती थी कि उन्हें ट्रान्सवाल आने का जरूर हक है। फिर उन लोगों को तो थोड़ा बहुत अंग्रेजी का भी ज्ञान था। इसके अतिरिक्त सोराबजी के जैसे सुशिक्षित भारतीयों को शामिल करने में सत्याग्रह के किसी नियम का भंग भी तो नहीं हो रहा था। इसलिए दो प्रकार के भारतीयों को शामिल करना तय किया गया। एक तो वे, जो कि पहले ट्रान्सवाल में रह चुके थे, और दूसरे वे, जिन्होंने अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की थी, अथवा जिन्हें 'शिक्षित' कहा जा सकता था।

इनमे सेठ दाऊद महमद, और पारसी रुस्तम जी दो बड़े व्यापारियों मे से थे। और सुरेन्द्रनाथ मेढ, प्रागजी खंडुभाई

देशाई, हरिलाल गांधी, रतनशी सोढा आदि शिक्षितों मे से थे।

पहले सेठ दाऊद महमद का परिचय सुना दूँ। वह नेटाल इण्डियन कांग्रेस के अध्यक्ष और दक्षिण अफ्रिका में आये हुए व्यापारियों मे सब से पुराने थे। वह सूरती सुन्नत जमात के बोहरा थे। बड़े ही चतुर पुरुष। इस बात मे उनकी बराबरी करने वाले बहुत ही थोड़े भारतीय मैंने दक्षिण अफ्रिका मे देखे। उनकी ग्राहक शक्ति बड़ी तेज थी। अक्षर-ज्ञान तो मामूली सा था पर अनुभव से वह अंग्रेजी और डच भी अच्छी तरह बोल सकते थे। अंग्रेजी व्यापारियों के साथ अपना काम चलाने मे उन्हें जरा भी कठिनाई नहीं पड़ती थी। उनकी दानशीलता प्रसिद्ध थी। नित्य पचास मिहमान से कम तो कभी उनके यहाँ होते ही नहीं थे। कौमी चंदों में उनका नाम अग्रसरों में ही रहता। उनके एक लड़का था। लड़का क्या था, एक अमूल्य रत्न था। चारित्र्य मे उनसे भी श्रेष्ठ, और हृदय स्फटिक के समान। उसके चारित्र्य-वेग को दाऊद सेठ ने कभी नहीं रोका। दाऊद सेठ अपने लड़के की पूजा करते थे! यह अत्युक्ति नहीं, यथार्थ सत्य है। वह चाहते थे, कि उनका एक भी ऐब हसन को नहीं लगने पावे। इंग्लैण्ड भेजकर उन्होंने उसे बढ़िया शिक्षा दी। पर दुर्भाग्य से दाऊद सेठ उस लड़के से भर जवानी में हाथ धो बैठे। हसन को क्षय ने घेरा, और उसका प्राण हरण कर लिया। वह घाव कभी नहीं भरा। हसन के साथ-साथ भारतीय जनता की बड़ी-बड़ी आशायें मिट्टी मे मिल गई। हसन के लिए तो हिंदू और मुसलमान दोनों अपनी दाहिनी बाई आँखों के सामान थे। उसका सत्य तेजस्वी था। आज दाऊद सेठ भी नहीं रहे! उस काल ने कहीं किसी को छोड़ा है!

पारसी रुस्तमजी का परिचय मैं पहले ही दे चुका हूँ। शिक्षितों में से पाठक अनेकों को जानते हैं। इन पृष्ठों को लिखते

समय मेरे पास कोई सामग्री नहीं है। इसलिए शायद कई नाम छूट गये होंगे। आशा है, वे सब भाई मुझे क्षमा करेंगे। ये प्रक-रण नामों को अमर करने के लिए नहीं, बल्कि सत्याग्रह का रहस्य समझाने के लिए लिखे जा रहे हैं। इनके द्वारा मैं यह भी बताना चाहता हूँ कि विजय कैसे प्राप्त हुई, उसमे कैसे-कैसे विघ्न आते हैं, और उन्हें किस तरह दूर किया जा सकता है, जहाँ कहीं नामों का अथवा नामधारियों का परिचय दिया गया है वहाँ भी मेरा हेतु केवल यही है कि आप यह जान जायें कि दक्षिण अफ्रिका मे निर-क्षर गिने जाने योग्य लोगो ने भी कैसे-कैसे पराक्रम किये हैं, वहाँ भी हिन्दू, मुसलमान, पारसी ईसाई आदि सबने किस तरह हिल-मिल कर काम किया और किस तरह व्यापारी, सुशिक्षित आदि सबने अपने अपने कर्तव्य का पालन किया। जहाँ कहीं गुणी जनों का परिचय दिया गया है, वहाँ उनकी नहीं बल्कि केवल उन गुणों ही की स्तुति की गई है।

तो इस तरह जब दाऊद सेठ अपने सत्याग्रहियों की फौज को लेकर ट्रांसवाल की सरहद पर जा डटे तब सरकार भी गाफिल नहीं थी। इतने बड़े दल को यदि वह ट्रांसवाल में प्रवेश करने देती तब तो उसकी बड़ी बदनामी होती। इसलिए उन्हें वह कैसे छोड सकती थी? सभी पकड़े गये। मुकदमा चला, और वाक्सरेस्ट की सरहदी जेल मे वह रख दिये गये। कौम का जोश और भी बढ़ा। नेटाल से हमारी सहायता के लिए आये हुए अपने भाइयों को यदि हम किसी तरह छुड़ा न सकें, तो कमसे कम ट्रांसवाल के भारतीयों को उनका साथ तो देना चाहिए न? यह सोचकर ट्रांसवाल के भारतीय भी जेल का मार्ग ढूँढने लगे।

गिरफ्तार होने के तो अनेकों मार्ग थे। यदि कोई निवासी अपना परवाना नहीं बताता तो उसे व्यापार का परवाना नहीं मिल

सकता था, और बिना व्यापारी परवाने के व्यापार करना जुर्म था। नेटाल से ट्रांसवाल मे आते समय भी परवाने दिखाने पड़ते, नहीं तो गिरफ्तारी होती। पर परवानों की तो होली जला दी गई थी न ? इसलिए रास्ता साफ था। दोनों मार्गों का अवलम्बन किया गया। कई बिना परवाने लिये ही फेरी करने लगे, और कई लोग ट्रांसवाल में प्रवेश करते समय परवाने न दिखाने के कारण गिरफ्तार होने लगे।

अब जरा युद्ध का रंग जमा, सबकी परीक्षा का समय आया, नेटाल से और लोग भी आये। जोहान्सबर्ग मे भी गिरफ्तारियाँ शुरू हो गईं। अब तो यह स्थिति हो गई कि जो चाहता वही गिरफ्तार हो सकता था। जेलें भरने लग गईं।

भला अब कहीं सोराबजी बाहर रह सकते थे ? वह भी पकड़े गये। नेटाल से आये हुए सब भारतीयों को छः-छः महीने की जेल मिली, और ट्रांसवाल वालों को चार दिन से लगा कर तीन महीने तक की।

इस तरह गिरफ्तार किये गये लोगों मे हमारे इमाम साहब भी थे। उनकी कैद का आरम्भ चार दिन से हुआ था। वह फेरी मे पकड़े गये। उनका शरीर ऐसा नाजुक था, कि लोग उन्हें जेल जाते हुए देख कर हँसते थे। कई लोग आकर मुझसे कहते "भाई, इमाम साहब को इसमें शामिल न करो तो अच्छा हो। वह कौम को लज्जित करेंगे"। मैंने इस चेतावनी पर जरा भी ध्यान नहीं दिया। इमाम साहब की शक्ति की नाप-जोख करने वाला मैं कौन होता हूँ ? यह सब सत्य है कि इमाम साहब कभी नंगे पैर नहीं चलते थे। शौकिया थे उनकी स्त्री मलाई महिला थी। घर बड़ा सजा हुआ रखते, और बिना घोड़ा-गाड़ी लिये कहीं न जाते। पर उनके दिल को कौन जानता था ? यही इमाम साहब चार दिन

की सज़ा भुगत कर फिर जेल में गये। वहाँ एक आदर्श कैदी की तरह रहे। पसीने की कमाई खाते और उन्हीं नित्य नये पक्वान्न खाने की आदत रखने वाले इमाम साहब ने मक्का के आटे की राब पीकर खुदा के एहसान मनाये। वह हारे तो जरा भी नहीं। हाँ, उन्होंने सादगी जरूर अख्तियार कर ली। कैदी बन कर पत्थर फोड़े, झाड़ू-बुहारा किया, और अन्य कैदियों की बराबरी में एक क़तार मे खड़े रहे। अंत में फिनिक्स मे पानी भरा और छापा-खाने मे कम्पोजिंग तक किया। फिनिक्स आश्रम में रहनेवालों के लिए कम्पोजिंग सीख लेना अनिवार्य कर्तव्य था। उसे इमाम साहब ने पूरा किया। आजकल भारतवर्ष मे भी वह अपना हिस्सा देरहे हैं पर ऐसे तो कई लोग जेल मे शुद्ध हो गये।

जोफेस रॉयपेन वैरिस्टर, केम्ब्रिज के ग्रेज्यूएट थे। नेटाल के गिरमिटिया माता-पिता से जन्म ग्रहण करने पर भी 'साहब लोग' बन गये थे। वह तो घर मे भी बिना बूट के नहीं चल सकते थे। इमाम साहब को तो व.जू करते वक्त पाँव धोना पड़ते और खुले पैर से नमाज़ पढ़ना पड़ती। बेचारे रॉयपेन को तो इतना भी नहीं करना पड़ता था। पर उन्होंने वैरिस्टरी को छोड़ दिया, बगल में साग तरकारी की टोकरी लटकाई और फेरी करते हुए गिरफ्तार हुए। उन्होंने भी जेल भुगती। एक दिन रॉयपेन ने मुझ से पूछा—

"क्या मैं सफर भी तीसरे दर्जे मे ही करूँ?"

मैंने उत्तर दिया "यदि आप पहले और दूसरे दर्जे मे सफर करेंगे तो तीसरे दर्जे में मुझे और किससे सफर कराना चाहिए? जेल में आपको वैरिस्टर कौन कहेगा?

जोसेफ रॉयपन के लिए यह उत्तर काफी था। वह भी जेल में सिधारे।

सोलह सोलह वर्ष के तो कितने ही नौजवान जेलों में गये

थे। अधिकारियों ने जेल मे किसी कैदी को दु:ख देने मे कोई कसर नहीं छोड़ी। पाखाने तक साफ करवाए। और भारतीयों ने हँसते-हँसते कर डाले; पत्थर फुड़वाये, और अल्लाह या राम का नाम ले-लेकर उन्होंने फोड़े, तालाब खुदवाये, पथरीली जमीनें खुदवाई! हाथों मे छाले पड़ गये, असह्य दु:ख से कई मूर्च्छित भी हो गये, पर हारे नहीं।

कोई यह भी न समझे कि जेल के अन्दर आपस में लड़ाई-झगड़ा और ईर्ष्या-द्वेष नहीं होता था। सबसे ज्यादा झगड़ा तो खाने पर होता था। पर हम उसे भी पार कर गये।

मैं भी दूसरी बार पकड़ा गया। एक समय वॉक्सरेस्ट की जेल मे हम लगभग ७५ भारतीय कैदी इकट्ठे हो गये। खाना पकाने का काम हमने अपने हाथों मे ले लिया। लड़ाई-झगड़ों का निवारण मुझे ही करना पड़ता। इसलिए मैं खुद रसोइया बन गया। पर मेरे हाथ की कच्ची-पक्की रोटी और बिना गुड़-शक्कर की राब मेरे सभी साथी प्रेम-पूर्वक खा लिया करते। सरकार ने सोचा कि यदि इसे अलग कर दें तो यह (मैं) भी जरा दीन हो जाय और इसके (मेरे) साथी भी हार जावें। पर उसे यह देखने का सुन्दर अवसर नहीं मिला।

मुझे प्रिटोरिया ले गये। बदमाश कैदियों के लिए जो एकान्त कमरे होते हैं, उसमें मुझे वहाँ रक्खा गया। केवल व्यायाम के लिए दिन में दो बार बाहर निकालते थे। वॉक्सरेस्ट में घी दिया जाता था। यहाँ तो वह भी नदारद। जेल के इन गौण दु:खों का वर्णन मैं यहाँ नहीं करना चाहता। जिज्ञासु पाठक दक्षिण अफ्रिका के मेरे जेल के अनुभव पढ़ लें।

इतने पर भी भारतीय हारे नहीं। सरकार असमंजस में

पड़ी। जेल में कितने भारतीयों को रक्खा जाय? इससे त
उलटा खर्चा बढ़ गया। अब क्या करें।

: ७ :

देश-निकाला

खूनी कानून के भंग के अपराध पर तीन प्रकार की सजायें रक्खी गई थीं। जेल, जुर्माना और देश निकाला। तीनों सजायें एक साथ देने का अधिकार अदालत को था। छोटे छोटे मजिस्ट्रेटों तक को यह अधिकार दे दिया गया था। पहले पहल तो देश निकाले के मानी ये थे कि अपराधी को ट्रान्सवाल की हद से बाहर अर्थात् नेटाल, फ्री स्टेट अथवा डेलागोआ बे की हद में ले जा कर छोड़ दिया जाय। उदाहरणार्थ नेटाल की तरफ से आये हुए अपराधियों को वॉक्सरेस्ट स्टेशन की हद से बाहर ले जा कर छोड़ दिया जाता था। इस तरह देश निकाला करने से अपराधी को सिवा असुविधा के और किसी प्रकार की हानि नहीं होती थी। यह तो केवल खिलवाड़ था। इससे तो भारतीयों में और भी अधिक जोश बढ़ता था।

इसलिए स्थानीय सरकार को भारतीयों को सताने के लिए एक नवीन युक्ति ढूँढनी पड़ी। जेल में तो अब जगह थी ही नहीं। सरकार ने सोचा कि यदि भारतीयों को ठेठ भारत मे ही छोड़ दिया जायगा तो वे जरूर निराश होकर शरण आवेंगे। और यह कुछ-कुछ सत्य भी था। इस तरह एक भारी 'जत्थे' को सरकार ने

भारतवर्ष भेजा। उसे बहुत कष्ट उठाना पड़ा। खाने-पीने की भी बड़ी असुविधा रही। जो सरकार के दिल मे आता वह खाने को मिलता। सब को डेक मे ही भेजा जाता। फिर इस तरह देशपार होने वाले की जमीन-जायदाद होती उसका अपना एक पेशा भी होता; उसके आश्रित भी होते थे। कितने ही लोगों के सिर पर तो कर्ज था। इतने सब का त्याग करने की क्षमता और शक्ति होने पर भी अनेक लोग यह सब गँवाकर बरबाद होने के लिए तैयार नहीं होते थे।

तथापि बहुत से भारतीय तो पूरी तरह मजबूत रहे। कई फिसल गये। ऐसे लोगों ने अब जान बूझ कर कैद होना छोड़ दिया। उनमे से अधिकांश ने इतनी कमजोरी तो नहीं दिखाई कि जले जलाये परवानों के बदले फिर से नये परवाने ले लें। पर कुछेक ने डर कर यह भी कर डाला।

पर फिर भी जो दृढ़ थे उनकी संख्या ऐसी तुच्छ भी नहीं थी। उनकी बहादुरी असीम थी। मेरा खयाल है, कि उनमे कितने ही तो ऐसे थे, जो हँसते हँसते फाँसी पर भी लटक सकते थे। माल-जायदाद की तो उन्हें परवाह क्या थी? पर जिन्हें भारतवर्ष भेजा गया था, उनमें से अधिकाश तो गरीब और भीरु भी थे। केवल दूसरों के विश्वास पर ही वे लड़ाई मे सम्मिलित हुए थे। उन पर इस तरह जुल्म होता देख कर बरदाश्त करते रहना कठिन था। पर उस समय यही समझ मे नहीं आता था, कि उनकी सहायता किस तरह करें। पैसा तो इतना ही—थोड़ा सा था। और इस तरह की लड़ाई में रुपये-पैसे की सहायता देने लगें तो निश्चय ही हार होती है। क्योंकि उसमे लालची लोग फौरन शामिल हो जाते हैं। इसलिए धन का लालच दे कर तो एक भी आदमी नहीं रक्खा

जा सकता था। इस समय तो केवल यही धर्म था कि हम एक दूसरे के प्रति हमदर्दी दिखावें।

अनुभव से मैंने यह देख लिया है कि हमदर्दी, मीठे शब्द और मीठी नजर वह काम कर देती है, जो रुपये-पैसे से नहीं होता। धन के लालची को भी अगर मीठी वाणी न मिले तो वह भी आखिर छोड़ कर चल देगा। इसके विपरीत प्रेम की मुलायम रस्सी से बँधे हुए मनुष्य अनेकानेक सकट सहने के लिए भी तैयार हो जाते हैं।

इसलिए इन देशनिकाले की सजा पाये हुए भाइयों के विषय मे यही तय हुआ कि उनके लिए वह सब किया जाय जो सहानुभूति और हमदर्दी कर सकती है। उनको आश्वासन दिया गया कि उनकी सहायता के लिए भारत मे यथा-शक्ति व्यवस्था की जायगी। पाठकों को यह स्मरण रखना चाहिए कि इनमे से अधिकांश तो गिरमिट मुक्त ही थे। भारत मे कोई रिश्तेदार वगैरा उन्हें नहीं मिल सकते थे। कितनों का तो जन्म ही अफ्रिका का था। सबको भारतवर्ष विदेश के समान मालूम होता था। इस तरह के निराधार मनुष्यों को भारत के किनारे पर उतार कर उन्हें यहाँ-वहाँ भटकने के लिए छोड़ देना तो जघन्य दुष्टता होती। इसलिए उनको यह विश्वास दिलाया गया कि भारत मे उनके लिए पूरी व्यवस्था कर दी जायगी।

यह सब कर देने पर भी उन्हें तब तक शाति कैसे मिल सकती थी, जब तक कि कोई खास मददगार उनके साथ न कर दिया जाय? देश निकाले की सजा पाने वालों का यह पहला ही दल था। स्टीमर छूटने को कुछ ही घंटों की देरी थी। पसंदगी करने के लिए समय नहीं था। साथियों मे से भाई पी० के० नायडू पर मेरी नजर गई। मैंने पूछा—

"इन गरीब भाइयों को भारत छोड़ने के लिए आप जा सकते हैं ?"

"बड़ी प्रसन्नता के साथ।"

"पर स्टीमर तो अभी खुलने ही को है।"

"तो मुझे कौन देरी है ?"

"पर आपके कपड़े वगैरा और खर्चा ?"

"कपड़े तो शरीर पर हैं ही, रही खर्चे की बात। सो तो स्टीमर ही मे मिल जायगा।"

मेरे हर्ष और आश्चर्य की सीमा न रही। पारसी रुस्तमजी के मकान पर यह बात चीत हुई थी। वहीं से उनके लिए कुछ कपड़े, कम्बल वगैरा माँग-मूँग कर उन्हें रवाना कर दिया।

"देखिए भाई, राह मे इन भाइयों को अच्छी तरह सँभाल कर ले जाइए। इनको सुला कर फिर आप सोइए और खिला कर खाइए। मदरास के मि० नटेसन के नाम मैं तार भेज देता हूँ। वह जैसा कहें वही कीजिए।"

"एक सच्चा सिपाही बनने की मैं कोशिश करूँगा।" यह कह कर वह निकल पड़े। मुझे निश्चय हो गया कि जहाँ ऐसे-ऐसे वीर पुरुप हैं, वहाँ कभी हार हो ही नहीं सकती। भाई नायडू का जन्म दक्षिण अफ्रिका में ही हुआ था। उन्होंने कभी भारतवर्ष का दर्शन तक नहीं किया था। मि० नटेसन के नाम मैंने एक परिचय-पत्र भी उन्हें दे दिया था और उसी समय एक तार भी उनके नाम भेज दिया।

यह कहें तो अत्युक्ति न होगी कि इस समय प्रवासी भारत-वासियों के दुःखों पर विचार करने वाले, उनकी सहायता करने वाले, उनके विषय मे उचित रीति से और ज्ञानपूर्वक लिखने वाले सारे भारतवर्ष में अकेले नटेसन ही थे। मेरे और उनके बीच

बराबर नियमित रूप से पत्र व्यवहार चल रहा था। जब ये देश-निकाले की सजा पाये हुए भाई मदरास पहुँचे, तब मि० नटेसन ने उनकी हर तरह से सेवा-सहायता की। भाई नायडू-जैसे समझदार आदमी उनके साथ में थे। इसलिए मि० नटेसन को भी काफी सहायता मिली। स्थानीय चंदा एकत्र कर मि० नटेसन ने उनकी इस कदर सेवा की कि उन्हें यह याद तक नहीं होने पाया कि वे घर-बार छोड़ कर देश निकाले की सजा मे आये थे।

दक्षिण अफ्रिका की स्थानीय सरकार का यह काम जितना ही निर्दयता-पूर्ण था उतना ही गैर-कानूनी भी था। वह भी इस बात को जानती थी। सामान्यतया लोगों को इस बात का खयाल नहीं रहता कि सरकार कई बार हेतु-पूर्वक अपने कानूनों का भंग आप ही करती रहती है। कठिनाई के समय नवीन कानून बनाने के लिए समय नहीं रहता। इसलिए कानून को तोड़ कर भी वह अपना काम बना लिया करती है। बाद मे फिर या तो नवीन कानून बना लिया जाता है, या कोई ऐसा कार्य सरकार कर डालती है, जिससे प्रजा इस बात को भूल जाय कि उसने कभी अपने कानून का भंग भी किया था या नहीं।

सरकार के इस कानून पर भारतीयों ने खूब हलचल मचा दी। भारत मे भी शोर मच गया। स्थानीय सरकार के लिए अब इस तरह गरीब भारतीयों को देश-निकाले की सजा देना टेढ़ी खीर हो गई। भारतीयों ने उचित कानूनी उपायों का अवलम्बन भी किया। अपीलें भेजीं, उसमे भी सफलता प्राप्त हुई, और अंत में देश निकाले की सजा वालों को भारत मे भेजने की प्रथा तो कतई बन्द हो गई।

पर इसके असर से सत्याग्रही फौज नहीं बच सकी। अब तो खास-खास योद्धा ही रह गये। "कहीं भारत मे न भेज दिये

जाँय"। इस भय का त्याग सब नहीं कर सके।

कौम का उत्साह तोड़ने के लिए सरकार ने ऊपर बताया गया केवल एक ही उपाय नहीं किया था। पिछले प्रकरण में मैं लिख चुका हूँ कि सत्याग्रही कैदियों को दुःख देने में सरकार ने कोई बात उठा न रक्खी। पत्थर फोड़ने तक का काम उनसे लिया गया था। पर वह तो इससे भी आगे बढ़ गई। पहले पहल सभी कैदियों को एक जगह रक्खा जाता था। अब उन्हें अलग अलग रखने की नीति को उसने अख्तियार किया, और प्रत्येक जेल में कैदियों को खूब सताना शुरू किया। ट्रान्सवाल का जाड़ा बड़ा सख्त होता है। जाड़ा इतना भयंकर पड़ता था कि सुबह काम करते-करते हाथ पैर ठिठुर जाते थे। ऐसी स्थिति में कितने ही कैदियों को एक छोटीसी जेल में रक्खा गया, जहाँ उन्हें कोई मिलने भी न पाये। इस दल में नागापन नामक एक नौजवान सत्याग्रही था। उसने जेल के नियमों का पालन किया। उसे जितना काम दिया गया, सभी कर डाला। सुबह, पौ फटते ही, सड़कों पर मिट्टी डालने को वह जाता। नतीजा यह हुआ कि उसे फेफड़े का सख्त रोग हो गया और अंत में उसने अपने प्यारे प्राण अर्पित कर दिये। नागापन के साथी कहते हैं कि अन्त समय तक उसे लड़ाई की ही धुन थी। जेल जाने से उसे कभी पश्चात्ताप नहीं हुआ। देश-कार्य करते करते आई मृत्यु का उसने एक मित्र की तरह स्वागत किया। हमारे नाप से नापा जाय तो नागापन को निरक्षर ही कहना पड़ेगा। अंगरेजी, जुलु आदि भाषायें वह अपने अभ्यास के कारण बोल सकता था, कुछ-कुछ अंग्रेजी लिख भी सकता था। पर विद्वानों की पंक्ति में तो उसे कदापि नहीं रक्खा जा सकता था। फिर भी नागापन का धीरज उसकी शांति देश-भक्ति, और मौत की घड़ी तक दिखाई हुई उसकी दृढ़ता पर

विचार किया जाय, तो कहना होगा कि उसमें किसी ऐसी बात की न्यूनता न थी कि जिसकी हमे उससे आशा करनी चाहिए ? हमे बहुत बड़े-बड़े विद्वान नहीं मिले पर फिर भी ट्रान्सवाल का युद्ध रुका नहीं। यदि नागापन जैसे शूर सिपाही हमे नहीं मिलते तो क्या वह युद्ध चल सकता था ?

जिस प्रकार नागापन की मृत्यु जेल के दु:खों के कारण हुई, उसी प्रकार नारायण स्वामी की मृत्यु देश निकाले के कारण हुई। देश निकाले के कष्ट उसके लिए मृत्यु-रूप साबित हुए, पर इन घटनाओं के कारण कौम हारी नहीं। हाँ, कमजोर आदमी जरूर जाकर अलग खड़े होगये। पर वे भी तो यथा-शक्ति अपना हिस्सा अदा कर ही चुके थे। उन्हें कमजोर कह कर हमे उनकी अवगणना कदापि नहीं करनी चाहिए। समाज मे यह एक चाल सी पड़ गई है कि आगे बढ़ने वाले अक्सर पीछे रहने वालों का तिरस्कार करते हैं और अपने को बहुत भारी समझ लेते हैं। पर कई बार बात तो यथार्थ मे ठीक इसके विपरीत होती है। जो पचास देने की शक्ति रखता है, वह पचीस देकर यदि बैठ जाय, और पॉच देने की शक्ति रखने वाला पूरे पाँच दे दे तो हम यही कहेंगे कि पॉच वाले ने ज्यादा दिये। तथापि कई बार वह पचीस देने वाला पॉच देने वाले के सामने फूलता है। पर हम जानते हैं कि इस तरह फूलने के लिए उसके पास कोई कारण ही नहीं है। उसी प्रकार अपनी कमजोरी के कारण आगे न बढ़ सकने वाला यदि अपनी शक्ति का उपयोग कर चुका हो, और दिल चोर कर काम करने वाला भले ही मामूली नाप को देखते हुए अधिक शक्ति का उपयोग भी करता रहे, तो भी हमें तो यही कहना पड़ेगा कि वह पहला आदमी ही अधिक योग्य है। इसलिए देश-सेवा तो उन्होंने भी की है जो

युद्ध के भीषण रूप धारण करते ही अलग जा खड़े हो गये। अन्त-ऐसा समय आ गया था कि जब अधिक हिम्मत और सहन शक्ति की आवश्यकता उपस्थित हो गई। पर इसमे भी ट्रान्सवाल के भारतीय पीछे न हटे। युद्ध शुरू रखने के लिए जितने योद्धाओं की आवश्यकता थी, उतने तो जरूर ही बच रहे थे।

पर इस तरह दिन ब दिन ज्यादा से ज्यादा मुश्किल कसौटी पर भारतीय कसे जाने लगे। ज्यों-ज्यों भारतीय ज्यादा ज्यादा बल दिखाते गये त्यों त्यों सरकार भी अधिक-अधिक बल का प्रयोग करती गई। बदमाश कैदियों के लिए और खास कर उन कैदियों के लिए जिन्हें सरकार 'सीधा' करना चाहती है, जुदे कैदखाने होते हैं। ट्रान्सवाल में भी ऐसे कैदखाने थे। जिनमे से एक का नाम 'डायकलुफ' था। वहाँ का दारोगा भी बड़ा जालिम और मजदूरी भी वैसी ही सख्त। पर सरकार को भी ऐसे कैदी मिल गये जो उन दोनों से अड़ गये। वे मजदूरी करने को तो तैयार थे, पर अपमान नहीं सह सकते थे। दारोगा ने उनका अपमान किया, उत्तर में उन्होंने उपवास शुरू कर दिये। शर्त यह थी, कि जब तक हमे या इस दारोगा को यहाँ से हटाया न जायगा हम अन्न को नहीं छुएँगे। ये उपवास शुद्ध थे। उपवास करने वाले ऐसे नहीं थे, जो चुरा कर कुछ खा लें। पाठकों को यह भी जान लेना चाहिए कि इस तरह के मामलों में यहाँ (भारत मे) जिस तरह चर्चा और आन्दोलन हो सकते हैं, उतना ट्रांसवाल में नहीं हो सकते थे। फिर वहाँ के नियम भी बड़े सख्त थे। ऐसे समय भी कैदियों से मिलने जुलने की सख्त मुमानियत थी। सत्याग्रही यदि कैदखाने मे जाता तो उसे अपने आप को खुद ही सँभालना पड़ता। युद्ध गरीबों का था और गरीबी-पूर्वक चलाया भी जा रहा था। इसलिए ऐसी प्रतिज्ञाओं में खतरे भी बहुत थे।

तथापि सत्याग्रही दृढ़ रहे। उस समय का उनका वह कार्य आज की बनिस्बत अधिक स्तुति के योग्य है। क्योंकि उस समय आज-कल की भाँति ऐसे उपवासों का रिवाज नहीं पड़ा था। पर फिर भी वे सत्याग्रही अटल रहे, और अन्त मे उन्होने विजय प्राप्त की। सात दिन के उपवासों के बाद उन्हे दूसरी जेल मे रखने का हुक्म आ गया।

: ८ :

फिर डेप्युटेशन

इस तरह सत्याग्रहियों को जेलों में और देश के बाहर भेजा जा रहा था। पर इसमे भी बीच-बीच मे ज्वार-भाटा तो आता ही रहता था। दोनों पक्ष कुछ-कुछ ढीले भी हो गये थे। सरकार ने देखा कि जेलें भर देने से कट्टर सत्याग्रही नहीं झुकेंगे, और देश-निकाले से खुद उसकी बदनामी होती थी। यदि कोई मामला अदालत मे जाता तो उसे हारना भी पड़ता था। इधर कौम भी सरकार का जल्दी-जल्दी मुकाबला करने के लिए तैयार नहीं थी, न उतनी तादाद मे उसके पास सत्याग्रही बचे थे। कुछ कायर बन गये, कई बिलकुल हार गये थे और कट्टर सत्याग्रहियों को मूर्ख बना रहे थे। और जो "मूर्ख" थे वे तो अपने को चतुर समझ कर परमात्मा तथा लड़ाई और अपने साधनों की सत्यता पर संपूर्ण विश्वास रक्खे हुए बैठे थे। वे मानते थे कि अंत मे तो सत्य ही की विजय होगी।

दक्षिण अफ्रिका की राज्य-व्यवस्था तो एक क्षण भी रुकती नहीं थी। बोअर और अंग्रेज दक्षिण अफ्रिका की तमाम रियासतों को एकत्र कर अधिक स्वतंत्रता चाहते थे। जरनल हर्टजोग एकदम ब्रिटिशों से सम्बन्ध तोड़ देना चाहते थे। दूसरे कितने

ही लोग भी केवल नाम मात्र को ब्रिटिशों से सम्बन्ध रखना पसन्द करते थे। भला अंग्रेज तो इस बात को कब सह सकते थे कि वे दक्षिण अफ्रिका से बिलकुल ही सम्बन्ध तोड़ दें? बात यह थी कि जो कुछ मिलना जुलना था ब्रिटिश पार्लमेंट के द्वारा ही मिल सकता था। इसलिए बोअर और ब्रिटिशों ने यह तय किया कि दक्षिण अफ्रिका की ओर से एक डेप्युटेशन इंग्लैंड को जावे और दक्षिण अफ्रिका का केस ब्रिटिश मंत्रि-मण्डल के सामने पेश करे।

भारतवासियों ने देखा कि यदि दक्षिण अफ्रिका की सारी रियासतें एक हो गईं, अर्थात् वहाँ यूनियन हो गई, तो उनकी स्थिति इससे भी अधिक खराब हो जायगी। सभी रियासतें भारतीयों को अधिकाधिक दबाना ही चाहती थीं। इसलिए यह तो स्पष्ट ही था, कि यदि वे सब एक हो जातीं तो अवश्य ही भारतीयों को ज्यादा दबाने की कोशिश करतीं। यद्यपि इन सबके विपक्ष में भारतीयों का अपनी आवाज उठाना निःसन्देह 'नक्कारखाने में तूती की आवाज' वाली मसल ही थी। तथापि उन्होंने यह सोचकर अपना भी एक डेप्यूटेशन इंग्लैण्ड भेजने का निश्चय किया कि अपनी तरफ से कोई बात उठा नहीं रखनी चाहिए। इस बार डेप्युटेशन में मेरे साथ पोरबन्दर के मेमन सेठ हाजी हबीब को भेजा गया। ट्रान्सवाल में इनका बहुत समय से व्यापार चला आरहा था। अनुभव भी विशाल था। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त नहीं की थी। किन्तु अंग्रेजी, डच, जुलू आदि भाषायें आसानी से समझ लेते थे। वह सत्याग्रहियों से सहानुभूति तो रखते थे, पर स्वयं सत्याग्रही नहीं थे। हम दोनों लोग केपटाउन से जिस जहाज में बैठे, उसीमे दक्षिण अफ्रिका के विख्यात बुजुर्ग मेरीमेन भी थे। वह यूनियन होने के पक्ष में प्रयत्न करने जा रहे थे। जनरल

स्मट्स वगैरा तो पहले ही से जा पहुँचे थे। नेटाल की तरफ से भी एक जुदा डेप्युटेशन इस समय इंग्लैण्ड को गया था, पर वह सत्याग्रह से कोई सम्बन्ध नहीं रखता था। नेटाल में उनकी जो खास कठिनाइयाँ थीं, उनसे वह सम्बन्ध रखता था।

इस समय लार्ड क्रू इन रियासतों के मन्त्री थे। और लार्ड मोर्ले भारत-सचिव थे। खूब चर्चा हुई और अनेकों लोगों से हम मिले-जुले। न तो ऐसे एक भी अध्यक्ष को हमने बाकी रक्खा था और न साधारण या उमरावों की सभा के किसी ऐसे सभ्य को हमने छोड़ा था, जिसे हम मिल सकते थे। लार्ड एॅम्प्टहिल ने हमारी असीम सहायता की। मि० मेरीमेन और जनरल बोथा से वह हमेशा मिलते रहते थे। अंत में जनरल बोथा की तरफ से वह एक संदेश लाये। उन्होंने कहा—"जनरल बोथा आपके भावों को समझते हैं। वह आपकी फुटकर माँगें कुबूल करने के लिए तैयार हैं। पर एशियाटिक कानून को रद्द करने तथा दक्षिण अफ्रिका में नवीन आनेवालों के सम्बन्ध में जो कानून है, उसमें जरा भी परिवर्तन करने के लिए वह तैयार नहीं हैं। वह उस काले-गोरे के भेद को रद्द करना नहीं चाहते जो कानून के अन्दर है, और जिसे रद्द करने के लिए आप दरख्वास्त कर रहे हैं। जनरल बोथा इस बात को बतौर सिद्धान्त के मानते हैं कि वह भेद तो अवश्य ही रक्खा जाय। पर यदि क्षण भर के लिए मान लिया जाय कि वह इसे मंजूर भी कर लें कि उसे रद्द करदेना ठीक है, तो भी इस बात को दक्षिण अफ्रिका के गोरे कभी गवारा नहीं कर सकेंगे। यही मत जनरल स्मट्स का भी है। उन दोनों साहबों ने यह बात अपने आखिरी निर्णय के बतौर कही, और आपको यह समझाने के लिए भी कहा है कि यदि इससे अधिक आप माँगेंगे तो आपको तथा आपकी कौम को भी मुसीबतें झेलनी होंगी।

इसलिए आप जिस किसी निर्णय पर पहुँचें सोच-समझ कर तय करें। इस तरह आपसे कहने तथा आपको आपकी जिम्मेदारी का पूरा ख्याल करा देने के लिए भी जनरल बोथा ने मुझ से कहा है। इस तरह संदेश सुना कर लार्ड ऍम्प्ट्हिल अपनी तरफ से बोले—

"देखिए न, आपकी तमाम व्यावहारिक माँगों को तो जनरल बोथा स्वयं ही कुबूल करते हैं। फिर इस संसार मे इन्सान को नरम-गरम भी तो होना ही पड़ता है। जितना हम चाहते हैं वह सब हमे नहीं मिल जाता। इसलिए मेरी भी आपको आग्रहपूर्वक यही सलाह है कि आप उनके सन्देश को स्वीकार कर लीजिए। हाँ, यदि आपको सिद्धान्त ही के लिए लड़ना है तो आप आगे चल कर फिर लड़ सकते हैं। भले ही आप दोनों साहबान इस बात पर अच्छी तरह विचार कर लीजिए और शान्ति से जवाब दीजिए। उसकी इतनी जल्दी नहीं है।"

यह सुनकर मैंने सेठ हाजी हबीब की तरफ देखा। उन्होंने कहा—"मेरी तरफ से कहिए कि मैं समझौता चाहने वाले पक्ष की तरफ से कहता हूँ कि मुझे जनरल बोथा की बात मंजूर है। अर्थात् हमे यह मंजूर है कि वे अभी जो दे रहे हैं उसको इस समय संतोष-पूर्वक मान लें, और सिद्धान्त के लिए पीछे से हम झगड़ लेंगे। अब मैं इस बात को जरा भी पसंद नहीं करता कि कौम इससे और अधिक क्लेश पावे। जिस पक्ष की तरफ से मैं यह कह रहा हूँ, वह संख्या में भी अधिक है, और उसके पास धन भी काफी है।" इन वाक्यों का मैंने अक्षरशः अनुवाद करके सुना दिया। फिर मैं अपने पक्ष की तरफ से बोला—"आपने जो कष्ट उठाया है, उसके लिए हम दोनों आपके एहसानमन्द हैं। मेरे साथी ने जो कहा सो ठीक है। वह जिस पक्ष की तरफ से बोलते

हैं वह संख्या और धन से भी अधिक बलवान् है। परन्तु मैं जिनकी तरफ से बोलता हूँ, वे संख्या में कम हैं, और उनके पास धन भी कम है। किन्तु वे मरने तक के लिए तुले हुए हैं। वे व्यवहार और सिद्धान्त दोनों के लिए लड रहे हैं। अगर इन दोनों में से किसी एक को छोडना ही पडे तो वे व्यवहार को छोड़कर सिद्धान्त के लिए जूझेंगे। जनरल बोथा की सत्ता का पूरा-पूरा खयाल हमें है। पर अपनी प्रतिज्ञा को हम उससे भी अधिक वजनदार समझते हैं। इसलिए अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए हम बरबाद होने तक के लिए प्रसन्न हैं। हमें धीरज है। हमें यह भी पूरा विश्वास है कि यदि हम अपने निश्चय पर अटल रहेंगे, तो जिस परमात्मा के नाम पर हमने वह प्रतिज्ञा की है, वह उसे अवश्य पूरी करेगा।

"आपकी स्थिति को मैं अच्छी तरह समझ सकता हूँ। आपने हमारे लिए बहुत कर डाला। अब यदि आप हम मुट्ठी भर सत्याग्रहियों का साथ न दे सकेंगे तो हमें उससे धोखा नहीं होगा, और न हम उसके कारण आपके किये उपकारों को ही भूल सकते हैं। हमें आशा है कि आप भी हमें इस बात के लिए क्षमा करेंगे कि हम आपकी सलाह के अनुसार नहीं चल सकते। आप जनरल बोथा से सुखपूर्वक कहिएगा कि हम, जो अल्पसंख्यक हैं वे, अवश्य ही अपनी प्रतिज्ञा का पालन करेंगे। और हमें यह दृढ़ आशा है कि हमारी दुख सहने की शक्ति अंत में उनके भी अंत:करण को जरूर हिला देगी, और वे एशियाटिक कानून को रद्द करेंगे।"

लार्ड ऍम्प्ट्हिल ने उत्तर दिया—

"आप यह न समझिएगा कि मैं आपका पक्ष छोड़ दूँगा। मुझे भी अपने सौजन्य की तो रक्षा करनी ही होगी? अंग्रेज लोग जिस काम को अपने हाथ में लेते हैं, उसे सहसा नहीं छोड़ते हैं।

आपकी लड़ाई न्यायोचित है और आपके साधन भी शुद्ध है। फिर मैं आपको कैसे छोड़ सकता हूँ? पर मेरी परिस्थिति से भी आप नावाकिफ नहीं हैं। दुःख तो भोगना होगा आपको। इसलिए जरा भी कहीं समझौता हो सकता हो. तो उसे कबूल करने की सलाह आपको देना मेरा धर्म है। पर यदि अपनी टेक के लिए आपको कुछ कष्ट उठाने पड़े और आप उन्हें हर्ष-पूर्वक सहने को तैयार हों, तो फिर मैं आपको कैसे रोक सकता हूँ? मैं तो आपको धन्यवाद ही दूँगा। इसलिए आपकी कमिटी का अध्यक्ष तो मैं अवश्य ही रहूँगा। और मुझसे जो कुछ सेवा-सहायता बन पड़ेगी जरूर करता रहूँगा। पर आपको इतना स्मरण रखना चाहिए कि सरदार-सभा में मैं एक छोटासा सभ्य हूँ। मेरा प्रभाव वैसा कहने योग्य नहीं है। किन्तु आप इतना विश्वास रक्खें कि वह जो कुछ भी होगा उसका उपयोग बराबर आप ही के लिए होता रहेगा।" ये उत्साह-वर्धक वचन सुनकर हम दोनों बड़े खुश हुए।

पाठकों ने शायद एक मीठी बात की तरफ ध्यान नहीं दिया होगा। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सेठ हाजी हबीब और मेरे बीच कुछ मतभेद था। तथापि हम दोनों मे प्रेम और विश्वास भी इतना था कि सेठ हाजी हबीब को अपना विरोधी कथन मेरे द्वारा कहलाने मे जरा भी हिचकिचाहट न हुई। उनको इतना विश्वास था कि मैं उनका कथन लार्ड ऍम्ट्हिल के सामने बिलकुल अच्छी तरह पेश कर दूँगा।

यहाँ पर पाठकों से एक असम्बद्ध बात भी कहे देता हूँ। इस और इंग्लैण्ड मे क्रान्तिकारियों से मेरी बातें हुई। उन सब की दलीलों का खंडन करने तथा दक्षिण अफ्रिका मे बसने वाले उसी प्रकार के विचार रखने वाले मनुष्यों का शंका-समाधान करते करते 'हिन्द स्वराज्य' का निर्माण होगया। उसमे प्रतिपादित मुख्य मुख्य

तत्वों पर मैंने लार्ड ऍम्प्ट्हिल के साथ भी चर्चा करली थी। और यह करने का उद्देश केवल यही था कि उनका कहीं यह खयाल न हो जाय कि मैंने अपने विचारों को छिपाकर उनके नाम का और उनकी दी हुई सहायता का दक्षिण अफ्रिका के काम के लिए दुरुपयोग किया। उनके साथ इस विषय पर जो चर्चा हुई वह मुझे हमेशा याद रहेगी, उनके घर पर कोई बीमार था, तथापि वह मुझे मिले थे। और यद्यपि 'हिन्द-स्वराज' मे लिखे मेरे विचारों से वह पूरी तरह सहमत तो नहीं थे, तथापि दक्षिण अफ्रिका के युद्ध मे अन्त तक वह यथाशक्ति भाग लेते रहे। और हमारे बीच का वह स्नेह-सम्बन्ध भी अन्त तक उसी प्रकार मधुर बना रहा।

: ६ :

टॉल्स्टॉय फार्म

इस वार जो डेप्युटेशन इंग्लैण्ड पहुँचा था, वह लौटते समय अच्छी खबर नहीं लाया। मुझे इस बात की विशेष चिन्ता नहीं थी कि लोग लार्ड ऍम्टहिल की वातों से क्या नतीजा निकालेंगे। मैं यह भी जानता था कि अन्त तक मेरा साथ कौन-कौन देंगे। सत्याग्रह विषयक मेरे विचार और भी परिपक्व हो गये। मैं उसकी व्यापकता और अलौकिकता को और भी अधिक अच्छी तरह समझ सकता था, इसलिए मुझे शांति थी—इंग्लैण्ड से वापस लौटते समय जहाज मे मैंने 'हिन्द-स्वराज' को लिखा। उसका हेतु केवल सत्याग्रह की भव्यता को दिखाना मात्र था। वह पुस्तक मेरी श्रद्धा का नाप है। इसलिए लड़ने वालों की संख्या का सवाल ही मेरे सामने खड़ा नहीं होता था।

पर मुझे धन की जरूर चिन्ता रहती थी। लम्बे समय तक युद्ध का संचालन और पास काफी धन का न होना, यह एक भारी कठिनाई मेरे सामने खड़ी थी। माना कि विना धन के भी युद्ध हो सकता है, कई वार धन सत्य के युद्ध को दूषित कर देता है, परमात्मा अक्सर सत्याग्रही को—मुमुक्षु को आवश्यकता से अधिक धन देता ही नहीं, इत्यादि बातों का ज्ञान उस समय मुझे आज की तरह स्पष्ट रूप से नहीं था। पर मैं आस्तिक हूँ। परमात्मा ने उस अवस्था

मे भी मेरा साथ दिया। मेरी आपत्ति दूर हुई। एक ओर से दक्षिण अफ्रिका के किनारे पर उतर कर कौम को अपने काम की निष्फलता की खबर देना मेरे किस्मत मे बदा था, वहाँ दूसरी ओर उसी समय परमात्मा ने मुझे आर्थिक चिंता से मुक्त करना ठान लिया था। क्यों कि जहाज से उतरते ही इंग्लैण्ड का तार मिला कि सर रतन ताता ने २५०००) का दान भेजा है। इतनी बड़ी रकम उस समय मेरे लिए काफी थी। मेरा काम चल निकला।

पर इतनी बड़ी रकम से अथवा इससे भी अधिक-मनमाने-द्रव्य से भी सत्याग्रह के—सत्य के—आत्मशुद्धि के अथवा आत्मबल के युद्ध का संचालन नहीं किया जा सकता था। इस युद्ध के लिए तो चारित्र्य रूपी मूलधन की आवश्यकता होती है। मालिक से शून्य महल जिस तरह खंडहर के समान मालूम होता है, ठीक वही हाल चरित्र-हीन मनुष्य और उसकी सम्पत्ति का समझें। सत्याग्रहियों ने देखा कि अब इसका कोई ठिकाना नहीं, कि युद्ध कितने दिन तक चलता रहेगा। कहाँ तो जनरल बोथा और जनरल स्मट्स की एक इंच भर भी न हटने की प्रतिज्ञा, और कहाँ सत्याग्रहियों की यह प्रतिज्ञा कि हम मरते दम तक जूझेंगे। हाथी और चिउंटी के बीच युद्ध हो रहा था। हाथी के एक पैर के नीचे संख्यातीत चिउंटियां दब सकती है। सत्याग्रह अपने सत्याग्रह की अवधि का समय सीमित नहीं कर सकते थे। एक वर्ष लगे या अनेक, उनके लिए तो एक ही बात थी। उनके लिए तो लड़ते रहना ही विजय थी, और लड़ने के मानी थे जेल जाना, तथा देश से निर्वासित हो जाना। पर इस बीच परिवार की क्या हालत हो ? निरन्तर जेल जाने वाले को कोई नौकरी तो किसी प्रकार दे ही नहीं सकता था। जेल से छूटने पर क्या तो वह स्वयं खावे और क्या बच्चों को खिलावे ? रहे भी कहाँ पर ? किराया कौन दे ? आजीविका न

मिलने से तो सत्याग्रही भी विचलित हो जाय। भूखों मर कर और अपने प्रियजनों को भूखों मारकर युद्ध करने वाले संसार मे विरले ही मिल सकेंगे।

आज तक तो जेल जानेवालों के कुटुम्बों का पोषण उनको प्रति मास द्रव्य देकर किया जाता था। सबको अपनी अपनी आवश्यकता-नुसार दिया जाता था—चिउंटी को कण और हाथी को मन। सबको एकसा तो कभी दे ही नहीं सकते थे। पाच बच्चे वाले सत्याग्रही को और आश्रय-हीन ब्रह्मचारी को एक पंक्ति मे तो हरगिज नहीं रक्खा जा सकता था। यह भी नहीं हो सकता था, कि केवल ब्रह्मचारियों को ही युद्ध में शामिल करें। फिर द्रव्य किस नियम के अनुसार दिया जाय? अभी तक अक्सर यही किया जाता था, कि हरेक कुटुम्ब से पूछा जाता कि कम से कम उसकी आवश्य-कता क्या थी? बस उसीपर विश्वास रख कर खर्च के लिए दिया जाता था। पर इसमें कपट के लिए बहुत भारी स्थान था। कप-टियों ने इसका कुछ हद तक दुरुपयोग भी किया? कई ऐसे भी थे जो थे तो निस्पृह, पर एक खास सीमा तक सहायता की जरूर आशा करते थे। मैंने देखा कि इस तरह युद्ध बहुत दिन तक चलना असम्भव है। इस तरह तो योग्य आदमी के साथ अन्याय होने का और अपात्र को अनुचित लाभ होने का डर था। इस कठिनाई से निकलने का रास्ता तो केवल एक ही था। सब कुटुम्बों को एक स्थान पर रक्खा जाय और सभी साथ रहकर काम करें। इसमे किसी के साथ अन्याय होने का डर तो था ही नहीं। साथ ही कहा जा सकता है कि पाखंड, झूठ आदि के लिए भी कोई अवकाश नहीं रह सकता था। सार्वजनिक धन का सदुप-योग तथा सत्याग्रहियों के कुटुम्बों को नवीन सादे और अनेकों के साथ हिलमिल कर रहने की अनुपम शिक्षा इत्यादि सभी बातें

एक साथ हो सकती थीं। इस तरह कई प्रान्तों और कई धर्म के भारतीयों को एक साथ रहने का सुअवसर मिल सकता था।

पर ऐसा स्थान मिले कैसे? शहर में रहने जाते तो शायद बकरी को हटाकर ऊँट को घुसाने वाली बात चरितार्थ होती। मासिक निर्वाह के जितनी रकम तो किराये में चली जाती। फिर वहाँ सादगी से रहना भी मुश्किल। इतना होने पर भी शहर में इतना बड़ा मकान शायद ही मिल सकता, जहाँ सभी कुटुम्ब मिलकर घर बैठे कोई उपयोगी काम कर सकते। इसलिए हम लोग इसी नतीजे पर पहुँचे कि वह स्थान न तो शहर से बहुत दूर और न बहुत नजदीक ही हो। फिनिक्स जरूर एक ऐसा ही स्थान था। वहाँ से इण्डियन ओपीनियन प्रकाशित हो रहा था। कुछ खेती भी हो रही थी। दूसरी भी अनेकों सुविधायें थीं। पर वह था जोहान्सबर्ग से ३०० मील की दूरी पर, अर्थात ३० घंटे के रास्ते पर। इतनी दूर सत्याग्रहियों के कुटुम्बों को लाना, ले जाना जरा मुश्किल और महँगा भी था। फिर वे भी अपने घर-बार छोड़कर इतनी दूर जाने को तैयार नहीं हो सकते थे। और अगर हो भी जावें तो सत्याग्रहियों के छूटने पर उन्हें वहाँ भेजना आदि भी असम्भव-सा प्रतीत हुआ।

इसलिए स्थान तो ट्रान्सवाल में और सो भी जोहान्सबर्ग के नजदीक ही होना जरूरी था। मि० कैलनबेक का परिचय मैं पहले दे चुका हूँ। उन्होंने ११०० एकड़ जमीन खरीदी, और वह सत्याग्रहियों के उपयोग के लिए दे दी। उस जमीन में कुछ फल-पौधे और एक छोटा-सा पाँच-सात मनुष्यों के रहने योग्य मकान भी था। करीब ही पानी का एक झरना भी था। स्टेशन यहाँ से एक मील था और जोहान्सबर्ग २१ मील। बस इसी जमीन पर मकान बाँध कर सत्याग्रही कुटुम्बों को बसाने का निश्चय किया।

: १० :

टॉल्सटॉय फार्म (२)

जमीन ११०० एकड़ थी। उसके एक सिरे पर एक छोटी सी टेकडी थी। जिस पर एक छोटा सा मकान भी था। फल के कुछ पेड़ थे, जिनमे नारंगी, ऍप्रिकोट, प्लम खूब पैदा होते थे— इतनी तादादे मे कि मौसम में सत्याग्रहियों के पेट भर खाने पर भी बच रहते। एक छोटा-सा झरना भी था, जिससे स्वच्छ पानी मिल सकता था। रहने के स्थान से वह कोई ५०० गज की दूरी पर होगा। पानी कावड़ों से लाना पडता, खासा परिश्रम भी हो जाता।

इस स्थान पर हमने यह नियम रक्खा कि नौकरों के द्वारा किसी प्रकार का घरू, खेती का या मकान बाँधने का काम भी न लिया जाय। इसलिए पाखाने साफ करने से लेकर खाना पकाने तक का सभी काम प्रत्येक कुटुम्ब को स्वयं ही करना पड़ता था। कुटुम्बों को रखना था। पर पहले ही से यह नियम बना रक्खा था कि स्त्रियों और पुरुषों को अलग-अलग ही रक्खा जाय। इस लिए मकान भी अलग अलग और दूर-दूर ही बनाये गये। दस स्त्रियां और साठ पुरुषों के रहने योग्य मकान बनाने का फौरन निश्चय किया गया। मि० कैलनबेक के रहने के लिए भी एक मकान बनाना था और उसके साथ ही साथ एक पाठशाला के लिए भी।

इसके अलावा बढ़ईखाना, मोचीखाना आदि के लिए भी ए मकान बना लेना आवश्यक था।

यहाँ पर जो लोग रहने के लिए आने वाले थे, वे गुजरात, मद्रास, आंध्र और उत्तर भारत के थे। धर्मानुसार वे हिन्दू, मुसलमान, पारसी और ईसाई भी थे। लगभग ४० तरुण, दो तीन बूढ़े, पाँच स्त्रियाँ और २५-३० बच्चे थे, जिनमें ४-५ बालायें थीं।

स्त्रियों में से जो ईसाई थीं उन्हें और दूसरों को भी मांसाहार की आदत थी। मि० कैलेनबेक का और मेरा अभिप्राय था कि बड़ा अच्छा हो यदि मांसाहार को स्थान न दिया जाय। पर सवाल यह था कि ऐसे लोगों को कुछ समय के लिए भी मांस छोड़ने के लिए किस तरह कहा जाय, जिन्हें जन्म ही से मांस से कोई नफरत न हो, जो आपत्काल मे ऐसे स्थान पर आ रहे थे, और जिन्हें बचपन से उसका दृढ़ अभ्यास था, यदि नहीं कहते तो खर्चा बेहद बढ़ जाता। फिर जिन्हें गो-मांस खाने की आदत हो उन्हें क्या कह दिया जाय? रसोई घर कितने हों? मेरा धर्म क्या था? इन सब कुटुम्बों को द्रव्य देकर मैं मांसाहार या गोमांस का व्यवहार करने के लिए, अप्रत्यक्ष रूप से क्यों न हो, सहायता तो कर ही रहा था! अगर मैं यह नियम कर दूँ कि मांसाहारी को सहायता नहीं मिल सकती तब तो मुझे शुद्ध निरामिषभोजी लोगों के बल पर ही सत्याग्रह चलाना पड़ेगा। पर यह हो भी कैसे सकता था? युद्ध तो तमाम भारतीयों के लिए था। मैं अपना धर्म स्पष्ट रूप से समझ गया। ईसाई या मुसलमान भाई यदि गोमांस भी मागते तो भी उनको मुझे वह देना ही भाग था। मैं उनको यहाँ आने से रोक नहीं सकता था।

पर प्रेम का वाली परमात्मा है। मैंने तो सरलता पूर्वक ईसा

बहिनों के सामने अपनी संकटापन्न दशा रक्खी। मुसलमान माता-पिताओं ने तो मुझे यह छुट्टी दे रक्खी थी, कि मैं केवल निरामिष पाकशाला ही रक्खूं। बहनों के साथ मुझे बात चीत कर लेना अभी बाकी था। उनके पुत्र या पति तो जेलों मे ही थे। वे भी मुझे सम्मति दे चुके थे। कई बार उनके साथ में ऐसे प्रसंग हम लोगों के सामने उपस्थित हुए थे। बहनों के साथ इतना निकट सम्बन्ध होने का यह पहला ही अवसर था। उनके सामने मैंने मकान सम्बन्धी असुविधा धनाभाव और मेरे व्यक्तिगत विचार इन तीनों बातों को रख दिया। साथ ही यह कह कर मैंने उन्हें निर्भय भी कर दिया था कि यदि वे चाहेंगी तो मैं तो उन्हें गोमास भी दे दूगा। बहनों ने प्रेम-भाव से यह स्वीकार कर लिया कि वे मांस नहीं मंगावेंगी।

खाना पकाने का काम बहनों को सौंप दिया गया। उनकी सहायता के लिए हममे से एक दो पुरुष भी रख दिये गये जिन मे मैं तो अवश्य ही था। मेरी उपस्थिति छोटे-मोटे मत-भेद के मामलों को यों ही भगा दिया करती थी। यह भी तय हुआ कि भोजन बिलकुल सादा हो। भोजन करने का स य भी निश्चित कर दिया गया। सब के लिए पाकशाला एक ही रक्खी गई। सब एक साथ ही भोजन करते। सब अपने अपने बर्तन भी साफ कर लिया करते। सार्वजनिक बर्तन साफ करने के लिए बारियाँ मुकर्रर कर दी गई थीं। मुझे यहाँ पर यह कह देना चाहिए कि टॉल्स्टॉय फार्म बहुत दिन तक चलता रहा, पर वहाँ न तो कभी भाइयों ने मांसाहार के लिए इच्छा जाहिर की और न बहनों ने। शराब तंबाकू आदि तो पहले ही से बन्द थे।

मैं पहले लिख चुका हूँ, कि हमारा यह भी आग्रह था कि मकान बांधने का काम हमीं-हम कर लें। राज तो स्वयं कैलेनबेक

ही थे। उन्होंने एक और यूरोपियन साथी ढूंढ लिया। एक गुजराती सुतार ने मुफ्त सहायता देना स्वीकार किया, और वही दूसरे एक सुतार को भी कम मजदूरी पर तय कर ले आया। शेष मजदूरों का काम हम लोगों ने खुद ही कर लिया। हम लोगों में जो मजबूत और फुर्तीले बदन वाले थे उन्होंने तो हद कर दी।

बिहारी नामक एक बढ़िया सत्याग्रही था। उसने बढ़ई का आधा काम अपने जिम्मे ले लिया। स्वच्छता रखना, शहर में जाकर वहांसे सब समान वगैरा लाना आदि काम सिंह के समान बहादुर थम्बी नायडू ने अपने जिम्मे ले लिया।

इस टुकड़ी मे एक भाई प्रागजी देसाई थे। उन्होंने अपने जीवन में कभी धूप जाड़ा नहीं सहा था। और यहां तो जाडा था, धूप थी और वारिश की मौसिम थी। हमने अपना श्रीगणेश तो तम्बू में रह कर दिया था। मकान बंध कर तैयार हों, तब उनमें सोयें। करीब दो महीनो के अन्दर मकान तैयार हो गये मकान टीन के थे, इसलिए उनको बनाने मे कोई देरी नहीं लगी। आवश्यक आकार प्रकार की लकड़ी तैयार मिल सकती थी। केवल नापनूप कर टुकडें मात्र करना पड़ते। दरवाजे खिड़कियां आदि ज्यादा नहीं बनाने थे इसलिए इतने थोड़े समय मे सभी मकान तैयार हो गये पर इस काम-काज ने भाई प्रागजी की खूब खबर ले डाली। जेल को वनिस्बत फार्म का काम जरूर ही अधिक सख्त था। एक दिन तो परिश्रम और बुखार के कारण वह बेहोश तक हो गये। पर वह यों इतनी जल्दी हारने वाले आदमी नहीं थे। यहां उन्होंने अपने शरीर को पूरी तरह मिहनत पर चढ़ा दिया, और अन्त मे इतनी शक्ति प्राप्त कर ली कि वह सबके साथ साथ काम करने लग गये।

यही हाल जोसेफ रॉयपन का था। वह तो वैरिस्टर थे पर उन्हें

इस बात का अहंकार नहीं था। वह अतिशय कठिन परिश्रम नहीं कर सकते थे। ट्रेन से अपना असबाब उतार कर उसे बाहर गाड़ी पर रख देना भी इनके लिए कठिन था। परन्तु यहाँ तो वह भी मिहनत पर चढ गये। उन्होंने वह सब यथाशक्ति कर लिया। टॉल्स्टॉय फार्म पर कमजोर आदमी सशक्त हो गये और सभी परिश्रम के आदी हो गये।

सभी को किसी न किसी कार्यवश जोहान्सबर्ग जाना पड़ता, बच्चों को भी वहाँ की सैर करने की इच्छा होती। मुझे भी कामकाज के लिए वहाँ जाना पड़ता। इसलिए यह तय हुआ कि सार्वजनिक काम के लिए जाने वाले ही को रेल से जाने की इजाजत दी जाय। तीसरे दर्जे को छोड़ कर ऊपर के दर्जे मे तो किसी को भी नहीं जाना चाहिए। जिसे केवल सैर करने के लिए जाना हो वह पैदल जावे। हां, रास्ते में नाश्ते के लिए कुछ साथ मे जरूर ले जाय। शहर मे अपने खाने पर कोई खर्च न करे। यदि इतने कड़क नियम नहीं बनाये जाते, तो जिन पैसों को बचत करने के लिए बनवास के कष्ट उठाये थे, वे रेल-किराया और शहर के नाश्ते ही में उड़ जाते।

घर से हम लोग जो नाश्ता ले जाते वह भी सादा ही होता था। घर पर पिसे हुए मोटे और बिना छने हुए आटे की रोटी, मूँगफली से घर पर ही बनाया हुआ मक्खन, और संतरे के छिलकों का मुरब्बा। आटा पीसने के लिए हाथ से चलाने की लोहे की चक्की खरीद ली गई थी। मूँगफली को भूंजकर पीस डालने से मक्खन बन जाता है। दूध से बनाये मक्खन की बनिस्बत इसकी कीमत एक चौथाई होती थी। संतरे तो फार्म मे ही पैदा होते थे। फार्म पर गाय का दूध हम शायद ही कभी खरीदते। अक्सर डिब्बे के दूध से ही काम चला ले जाते।

हाँ, तो सैर की बात। जिनको सैर करने के लिए जोहान्सबर्ग जाने की इच्छा होती, वे सप्ताह में एक या दो बार जाते। पर उसी दिन लौट आते। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि फासला २१ मील का था। पैदल जाने के इस नियम से सैकड़ों रुपये बचगये। और पैदल जाने वालों को भी बड़ा लाभ हुआ। कितनों ही को तो चलने का नवीन अभ्यास हो गया। नियम यह था कि इस तरह जाने वालों को रात के दो बजे उठकर २॥ बजे निकल पड़ना चाहिए। सब छः से सात घंटों के अंदर जोहान्सबर्ग पहुंच जाते। कम से कम समय में पहुंचने वाले को करीब चार घंटे और अठारह मिनिट लगते।

पाठक यह खयाल न करलें कि ये नियम हद से ज्यादा कठोर थे। सभी बड़े प्रेम पूर्वक इनका पालन करते थे। बलात्कार से तो मैं एक भी आदमी को नहीं रोक सकता था। नौजवान तो क्या सफर में, और क्या आश्रम मे, सभी काम हँसते हँसते और किलकते हुए कर डालते। मजदूरी करते समय वे इतनी ऊधम मचाते कि उन्हें रोकते-रोकते मुश्किल हो जाती। आश्रम पर तो नियम बना लिया था कि बच्चों से उतना ही काम लिया जाय, जितना उन्हें खुश रखते हुए लिया जा सके। पर मजा यह कि इसके कारण कभी कम काम नहीं हुआ।

पाखानों की कथा समझ लेने योग्य है। इतनी बड़ी बस्ती थी, पर कहीं किसीको कूड़ा-कचरा, मैला, या जूठन ढूंढे नहीं मिल सकती थी। सभी कूड़ा-कचरा एक गड्ढे में डाल कर ऊपर से मिट्टी डाल दी जाती। रास्ते मे कोई पानी तक नहीं डालता था। सब पानी बरतनों मे एकत्र कर लिया जाता, और पेड़ों में डाल दिया जाता। जूठन और साग के कचरे से सुंदर खाद बन जाता। रहने के मकान के नजदीक जमीन में एक चौरस टुकड़ा डेढ फुट गहरा

खोद रक्खा था। उसी में सब मैला गाड़ दिया जाता। और ऊपर से खुदी हुई मिट्टी दबा दी जाती। जरा भी दुर्गंध नहीं आती थी। मक्खी तक वहाँ नहीं भिनभिनाती थीं। मतलब यह कि किसी को यह खयाल तक नहीं होता था कि वहां मैला गड़ा हुआ है। अलावा इसके, खेत को भी सुंदर खाद मिलता रहता। अगर हम मैले का सदुपयोग करना सीखलें तो लाखों रुपयों का खाद बचालें और स्वयं अनेक रोगों से बच जावें। मलोत्सर्ग सम्बन्धी हमारी कुटेव के कारण हम पवित्र नदियों के किनारों को खराब करते हैं, और मक्खियों की पैदायश को बढाते हैं। और नहा धो कर साफ हो लेने पर भी हमारी इस बेहूदी लापरवाही के कारण खुली विष्टा पर बैठी हुई मक्खी को हम अपने शरीर का स्पर्श करने देते हैं। एक छोटी सी कुदाली हमें बहुत भारी गंदगी से बचा सकती है। चलने की राह पर मैला डालना, थूकना, नाक साफ करना, यह सब ईश्वर और मनुष्य के प्रति महान् अपराध है। इसमें दया का अभाव है। जो मनुष्य जंगल में रह कर भी अपनी विष्ठा को मिट्टी मे नहीं दबा देता, वह दंड का पात्र है।

अब हमारा काम यह था कि सत्याग्रही कुटुम्बों को उद्यमी रक्खें, पैसे बचावें, और अन्ततः हम स्वाश्रयी बन जावें। हमने सोचा कि अगर हम इतना कर गुजरे तो चाहे जितने समय तक लड सकेंगे। जूतों का खर्च भी तो था ही। बंद जूते पहनने से गरमी मे तो बड़ी हानि होती है। सारे पैर मे पसीना हो आता है और वह नाजुक हो जाता है। हमारे जैसी आबोहवा वाले देशों में रहने वालों को तो मोजों की आवश्यकता ही नहीं है। हॉ, कंकड, पत्थर, कांटा आदि से पैर की रक्षा करने के लिए हमने एक हद तक जूते को आवश्यक माना था। इसलिए हमने,

कंटक-रक्षक अर्थात् चप्पल बनाने का धंधा सीखने का निश्चय किया। दक्षिण अफ्रिका मे ट्रेपिस्ट नामक रोमन कैथालिक पादरियों का एक मठ है। वहाँ पर इस तरह के उद्योग चलते हैं। वे जर्मन होते हैं। उनमे से एक मठ मे जाकर कैलनबेक ने चप्पल बनाना सीख लिया, और मुझे तथा दूसरे साथियों को भी सिखा दिया। इस तरह कितने ही युवक चप्पल बनाना सीख गये और हम अपने मित्र-वर्ग मे उनको बेचने भी लग गये। कहने की आवश्यकता नहीं कि मेरे कई चेले इस कला मे मुझ से बहुत आगे बढ़ गये। दूसरा काम जो हमने शुरू किया था वह बढ़ाई का था। हमारी बस्ती एक छोटासा गांव ही था। वहां तो पाट से लगाकर संदूक तक छोटी-मोटी चीजों की जरूरत बनी रहती। वे सब चीजें हम खुद ही बना लेते। उन परोपकारी मिस्त्रियों ने तो कितने ही महीनों तक हमारी सहायता की। इस काम के नायक स्वयं मि० कैलनबेक थे, और हमें क्षण-क्षण पर उनके कौशल और दक्षता का अनुभव होता था।

बालक बालिकाओं और युवकों के लिए पाठशाला तो अवश्य ही होनी चाहिए न? यह काम सब से कठिन मालूम हुआ, और अब तक पूर्णता को नहीं पहुंचा। शिक्षा का भार खासकर मि कैलनबेक और मुझपर था। पाठशाला का समय दो पहर के बाद ही रक्खा जा सकता था। मजदूरी करते-करते हम दोनों खूब थक जाते। विद्यार्थी भी जरूर थक जाते। अर्थात् बड़ी देर तक मारे नींद के वे भी झोंके खाते और हम भी आंखों पर पानी लगाते, बच्चों के साथ हंसी-खेल करते और उनका तथा हमारा भी आलस्य भगाते। पर कई बार यह सब प्रयत्न निष्फल होता। शरीर को आराम देना ही पड़ता। किन्तु यह तो पहला और सब से छोटा विघ्न हुआ क्योंकि ऊंघते रहने पर भी हम वर्ग को तो

शुरू ही रखते। किन्तु सबसे बड़ी कठिनाई तो यह थी कि तामिल तेलगु और गुजराती इन तीन भाषाओं के बोलने वालों को एक साथ क्या और किस तरह पढ़ाया जाय ? मातृभाषा के द्वारा शिक्षा देने का लोभ तो हमें अवश्य ही रहता था। तामिल तो मैं जानता भी था पर तेलगु तो कसम खाने को भी नहीं। इस हालत में अकेला एक शिक्षक क्या-क्या कर सकता था ? युवकों में से कुछेक से शिक्षा का काम लेना शुरू किया। पर वह सफल नहीं हुआ। भाई प्रागजी का उपयोग अवश्य ही होता था ! युवकों में से कई नटखट थे और कुछ आलसी। किताबों से उनकी कभी बनती ही नहीं थी। भला ऐसे विद्यार्थी पाठकों के पास क्यों कर जावें ? फिर मेरा काम भी अनियमित रहता था। आवश्यकता पड़ने पर मुझे जोहान्सबर्ग जाना ही पड़ता। यही हाल मि. कैलनबेक का था। दूसरी कठिनाई धार्मिक-शिक्षा के विषय में पड़ती। पारसी को अवेस्ता पढ़ने की इच्छा होती। एक खोजा बालक था। उसके पास अपने पंथ सम्बन्धी एक छोटीसी किताब थी। उसे पढ़ाने का भार उसके पिता ने मुझपर डाल रक्खा था। मुसलमान और पारसियों के लिए तो मैंने कुछ किताबें एकत्र कीं। हिन्दूधर्म के तत्व भी, जहाँ तक मैं उन्हें समझा था मैंने लिख रक्खे थे—यह याद नहीं कि मेरे बच्चों के लिए या फार्म में। अगर वे इस समय मेरे पास होते तो मैं अपनी गति-प्रगति जानने के लिए यहाँ लिख देता। पर यों तो मैंने अपने जीवन मे ऐसी कितनी ही वस्तुयें फेंक दी हैं, और जला डाली हैं। ज्यों-ज्यों मुझे इनके संग्रह करने की जरूरत कम मालूम होती गई, और साथ ही साथ ज्यों-ज्यों मेरा व्यवसाय बढ़ता गया, त्यों-त्यों मैं उनका नाश ही करता गया। पर इसके लिए मुझे किसी प्रकार का पश्चात्ताप भी नहीं होता। यदि मैं ऐसा न करता तो उनका संग्रह मेरे लिए एक भारी बोझा और खर्चीली चीज

हो जाता। उनको संग्रहित करने के साधन मुझे उत्पन्न करना पड़ते। और यह तो मेरे अपरिग्रही आत्मा के लिए असह्य हो जाता।

पर यह शिक्षा-प्रयोग व्यर्थ नहीं साबित हुआ। लड़कों में कभी असहिष्णुता नहीं दिखाई दी। एक दूसरे के धर्म और रीति-नीति का वे आदर करना सीख गये, और सभ्यता सीख गये। उद्यमी भी बने। आज भी इन बालकों में से जितनों को मैं जानता हूँ, उनके कार्यों को देखते हुए मुझे यही मालूम होता है, कि टॉल्स्टॉय फार्म पर उन्होंने जो कुछ सीखा था वह व्यर्थ नहीं गया। अधूरा सही, पर था वह विचारमय और धार्मिक प्रयोग टॉल्स्टॉय फार्म की अत्यन्त मधुर स्मृतियों में से शिक्षा की स्मृति किसी प्रकार कम मधुर नहीं है।

पर इन मधुर स्मृतियों के लिए एक पूरे प्रकरण की आवश्यकता है।

: ११ :

टॉल्स्टॉय फार्म (३)

इस प्रकरण मे टॉल्स्टॉय फार्म की कितनी ही स्मृतियों का संग्रह होगा। इसलिए अवश्य ही वे असम्बद्ध तो मालूम होंगी, पर पाठक इसके लिए मुझे क्षमा करें।

शिक्षा के लिए जैसा वर्ग मुझे मिला था शायद ही वैसा किसी को मिला हो। सात सात-साल के बालक-बालिकाओं से लेकर बीस-बीस वर्ष के युवक और बारह-बारह तेरह-तेरह वर्ष की बालिकायें भी इसमें थीं। कई लड़के तो निरे जंगली थे। खूब ऊधम मचाते।

इस संघ को क्या पढ़ाया जाय? इन सब के स्वभाव के अनुकूल खुद को किस तरह बनाया जाय? साथ ही मुझे सब के साथ किस भाषा में बातचीत करनी चाहिए। तामिल-तेलगू लड़के या तो अपनी मातृभाषा समझते या अंगरेजी। वे कुछ-कुछ डच भी जानते थे। मुझे तो अंग्रेजी से ही काम लेना पड़ा। गुजरातियों के साथ गुजराती मे, और शेष सब के साथ मैं अंग्रेजी में बोलता। मैं उन्हें प्रधानतया चटकीली कहानियाँ कहता, या पढ़ कर सुना देता। उद्देश यही था कि एक साथ रहते हुए उन्हें मित्र भाव या सेवा के आदर्श का अनुगामी बना दिया जाय।

इतिहास-भूगोल का कुछ ज्ञान देकर कुछ-कुछ लिखना भी सिखाता था। कुछेक को अंकगणित भी पढ़ाता था। इस तरह गाड़ी चला ले जाता था। प्रार्थना के लिए कितने ही भजन पढ़ाये जाते थे। उनमे भाग लेने के लिए तामिल बालकों को भी ललचाता था।

बालक और बालिकायें स्वतन्त्रता पूर्वक साथ-साथ बैठते थे। टॉल्स्टॉय फार्म पर मेरा यह प्रयोग सब से अधिक निर्भय रहा। जो स्वतन्त्रता मैंने उन्हें वहाँ दी और जिसका विकास मैंने उनके अन्दर किया, वह स्वतन्त्रता आज उन्हें देने की तथा उसका विकास करने की हिम्मत मुझे भी नहीं है। मुझे बराबर यह खयाल बना रहता है कि आज की बनिस्बत तब मेरा मन अधिक निर्दोष था। इसका कारण मेरा अज्ञान भी हो सकता है। उसके बाद मुझे कई बार धोखा हुआ है, कई कड़ुवे अनुभव भी हुए हैं। जिन्हें मैं केवल निर्दोष समझता था वे सदोष साबित हुए हैं। खुद अपने अन्दर गहराई के साथ देखने पर मैंने विकारों को छिपे हुए पाया है। इसलिए अब मेरा दिल दीन और रंक बन गया है।

किन्तु मुझे मेरे उस प्रयोग पर कोई पश्चात्ताप नहीं होता। मेरी आत्मा तो यह भी गवाही देती है, कि इस प्रयोग के कारण कोई खराबी नहीं पैदा हुई। पर जिस तरह दूध का जला छाछ को फूंक-फूंक कर पीता है, कुछ वैसी ही हालत अब मेरी हो गई है।

मनुष्य श्रद्धा अथवा धैर्य किसी दूसरे से नहीं चुरा सकता। 'संशयात्मा विनश्यति' टॉल्स्टॉय फार्म पर मेरी हिम्मत और श्रद्धा चरम सीमा को पहुंच गई थी। मैं परमात्मा से बार-बार प्रार्थना कर रहा हूँ कि वह मुझे फिर वही हिम्मत और श्रद्धा दे। पर वह सुने तब न! उनके सामने तो मेरे जैसे असंख्य भिखारी हैं। हां,

प्राशा के लिए इतना स्थान जरूर है कि उनके द्वार पर जहाँ असंख्य भिखारी खड़े हैं तहां उनके कान भी तो, असंख्य हैं। इसलिए मुझे उनपर पूरी श्रद्धा है। जब मैं योग्य हो जाऊँगा तब वह मेरी प्रार्थना को जरूर सुनेंगे।

यह था मेरा वह प्रयोग।

बदमाश समझे जाने वाले लड़कों को और निर्दोष सयानी बालिकाओं को मैं साथ-साथ स्नान के लिए भेजता। बालकों को मर्यादा-धर्म खूब समझा दिया गया था। मेरे सत्याग्रह से वे सब परिचित थे। माता की तरह मेरा उन पर प्यार था। इस बात को मैं तो जानता ही था पर वे उसे भी मानते थे। पाठक उस पानी के झरने को न भूलें। पाकशाला से वह दूर था। वहां पर इस तरह का सम्मिलन होने दिया जाय और साथ ही निर्दोषिता की भी आशा रक्खी जाय? मेरी आंखें तो उन बालिकाओं के साथ-साथ उसी तरह घूमती रहती थीं, जिस तरह एक माता की आंखें अपनी लड़की के आसपास घूमती रहती हैं। प्रत्येक काम का समय बंधा हुआ था। स्नान के लिए सब लड़के-लड़कियां साथ जाते। संघ में एक प्रकार की सुरक्षितता होती है, वह यहां भी थी। एकांत तो कहीं भी न मिलता। मिलता भी तो कम से कम मैं तो जरूर ही वहाँ रहता।

खुले बरामदे मे सब सोते थे। बालक और बालिकायें भी मेरे ही आसपास सोतीं। बिस्तरों के बीच तीन फीट का अन्तर रहता था। सोने के क्रम मे भी सावधानी जरूर रक्खी गई थी। पर दोषित मन के नजदीक वह सावधानी क्या चीज थी? अब तो मैं देखता हूँ कि इन बालक-बालिकाओं के मामले मे परमात्मा ने ही लाज रक्खी। मेरी यह धारणा थी कि बालक-बालिकायें इस तरह निर्दोष भाव से हिलमिल कर रह सकते हैं।

यह प्रयोग मैंने इसी भाव से किया था और माता पिताओं ने भी मुझपर असीम विश्वास डाल कर प्रयोग करने दिया।

एक दिन इन्हीं बालिकाओं ने या किसी बालक ने मुझे खबर दी कि एक युवक ने उन दो बालाओं से कुछ छेड़-छाड़ की। मैं काप गया! तलाश किया, बात सच्ची थी। युवक को समझाया। पर यह काफी न था। मैंने यह चाहा कि इन बालाओं के शरीर पर कोई ऐसा ही चिन्ह हो जिसे हरेक युवक समझ सके और जान जाय कि इन बालाओं की ओर कदापि कुदृष्टि से नहीं देखना चाहिए। बालिकायें भी समझलें कि उनकी पवित्रता पर कदापि कोई हाथ नहीं डाल सकता! सीता को विकारी रावण स्पर्श नहीं कर सका। यद्यपि राम तो दूर थे। ऐसा कौनसा चिन्ह मैं उन बालिकाओं को दे सकता था, जिस से वे अपने को सुरक्षित समझने लगजायँ, और दूसरे उन्हें देखकर निर्विकार रहें। रात भर जागा। सुबह बालिकाओं को समझाया। बिना किसी तरह चौंकने देते हुए मैंने उन्हें समझाया कि वे मुझे अपने सुन्दर काले लम्बे केश काट डालने की इजाजत दें। फार्म पर हम आपस में ही एक दूसरे के बाल बना लिया करते थे। इसलिए बाल काटने की मशीन हमारे पास रहती थी। पहले तो वे समझ ही नहीं सकीं। बड़ी स्त्रियों को पहले ही समझा रक्खा था। मेरी सूचना को तो वे नहीं सह सकीं पर मेरे हेतु को जरूर समझ सकी थीं इसलिए उनकी भी मुझे मदद थी। लड़कियां भव्य थीं। शिव-शिव, पर आज उनमें से एक चल बसी है। वह तेजस्विनी थी। दूसरी जिंदा है। वह अपनी गृहस्थी चला रही है। अंत में वे दोनों समझ गईं। उसी क्षण इन हाथों ने, उस प्रसंग को इस समय चित्रित करने वाले इन्हीं हाथों ने उनके बालों पर कैंची चला दी। बाद में वर्ग में इस कार्य का विश्लेषण कर सबको समझा दिया गया। परिणाम सुन्दर

निकला। फिर से कहीं बदमाशी की बात तक मेरे कानों पर नहीं आई। इन बालाओं का तो कुछ भी नहीं बिगड़ा। इससे उन्हें फायदा किस हद तक हुआ यह तो परमात्मा ही जानें। मैं तो आशा करता हूँ कि वे युवक आज भी उस प्रसंग की याद कर करके अपनी दृष्टि को शुद्ध रखते होंगे।

ऐसे प्रयोग अनुकरण के लिए नहीं लिखे जाते। यदि कोई शिक्षक ऐसे प्रयोगों का अनुकरण करेगा तो जरूर ही वह बहुत भारी जोखिम अपने सिर पर लेगा। इस प्रयोग का उल्लेख तो केवल यह बताने के लिए किया गया है कि मनुष्य एक खास मार्ग पर कितनी दूर तक जा सकता है। साथ ही सत्याग्रह के युद्ध की शुद्धता भी इससे सूचित हो सकती है। इस चरम विशुद्धि ही मे उसकी अंतिम विजय का रहस्य छिपा हुआ था। ऐसे प्रयोगों के लिए तो शिक्षक को माता और पिता दोनों खुद ही बन जाना चाहिए। तर्क को एक तरफ रख कर ही ऐसे प्रयोग किये जा सकते हैं पर इसके लिए बड़ी ही कठिन तपश्चर्या की जरूरत है।

इस कार्य का असर तमाम फार्मवासियों के रहन-सहन पर पड़ा। कमसे कम खर्च में गुजर करना हमारा हेतु था; इसलिए पोशाक मे फर्क करना पड़ा। शहरों में पुरुषों की पोशाक साधारणतया यूरोपियन ढंग की ही थी। सत्याग्रहियों तक का यही हाल था। फार्म पर इतने कपड़ों की आवश्यकता नहीं थी हम तो सब मजदूर बन गये थे। इसलिए पोशाक भी मजदूरी की सी, पर यूरोपियन ढंग की रक्खी गई। मजदूर की सी पतलून और उन्हींकी सी एक कमीज। इसमें जेल का अनुकरण किया गया था। मोटे आस्मानी रंग के कपड़े की सस्ती पतलूनें और कमीज बाजार मे बिकती थीं। हम सब उन्हींको पहनते थे। स्त्रियों में

से कई सीने-पिरोने का काम अच्छी तरह कर सकती थीं। अत तमाम सीने का काम वे ही करने लग गईं।

भोजन में चावल, दाल, तरकारी और कभी खीर। बस, यही सामान्य नियम था। यह सब एक ही बर्तन मे परोसा जाता था। भोजन के लिए थाली के बदले जेल मे मिलती है उस तर्ज की एक तश्तरी रक्खी जाती थी। चम्मच लकड़ी के रहते, जिन्हें हमने खुद अपने हाथों से बना लिया था। भोजन दिन में तीन बार होता था। सुबह छः बजे गेहू की रोटी और काफी, ग्यारह बजे दाल, भात तथा साग और शाम को साढ़े पाच बजे ज्वारी का दलिया और दूध अथवा रोटी और फिर गेहूं की कॉफी। रात के नौ बजते ही सब सोने को चले जाते। भोजन के बाद शाम के सात--साढ़े सात बजे प्रार्थना होती। प्रार्थना मे भजन होते और कभी-कभी रामायण तथा इस्लामी धर्म-ग्रन्थों से कुछ पढ़ा जाता था। भजन अंग्रेजी, गुजराती और हिन्दी भी होते। कभी-कभी तीनों भाषा के, और कभी-कभी किसी एक ही भाषा के।

फार्म पर कई लोग एकादशी व्रत करते थे। भाई कोतवाल भी वहा पहुंचे। उन्हें लङ्घन वगैरा का अच्छा अभ्यास था। उनको देखकर कई लोगों ने चातुर्मास व्रत किया। इन्हीं दिन रोजे भी आते थे। हम लोगों मे मुसलमान युवक भी थे। उन्हें रोजे रखने के लिए उत्साहित करना हमे अपना धर्म प्रतीत हुआ। उनके लिए प्रात.काल तथा रात के भोजन की व्यवस्था भी कर दी गई। रात को खीर आदि भी बनाई जाती। मासाहार तो था ही नहीं और न किसी ने माँगा ही था। उसके प्रति सम्मान जाहिर करने के लिए हम भी एक बार भोजन अर्थात् प्रदोष करते साधारणतया हम लोग सूर्यास्त से पहले पहल भोजन कर लिया करते। मुसलमान लड़के थोड़े ही थे, इसलिए दूसरे सब सूर्यास्त

से पहले खाना खाकर तयार हो जाते। बस इतना ही अन्तर रहता था। मुसलमान नवयुवकों ने भी अपने रोजे के दिनों मे बड़ी विनयशीलता दिखाई, जिससे किसीको भी अधिक कष्ट नहीं होने दिया। ग़ैर मुसलिम बालकों ने इस समय में उनका साथ दिया, इसका असर भी बड़ा अच्छा हुआ। मुझे ऐसा एक भी प्रसंग याद नहीं, जब हिन्दू और मुसलमान बालकों मे झगड़ा हुआ हो। बल्कि इसके विपरीत मैं तो जानता हूँ कि सभी अपने अपने धर्म पर दृढ़ रहते हुए भी एक दूसरे के साथ बड़ी शिष्टता का व्यवहार करते थे। एक दूसरे की धार्मिक क्रियाओं मे सहायता करते थे।

हम लोग इतनी दूर रहते थे। तथापि बीमारी वगैरा के लिए जो मामूली सुविधायें रक्खी जाती हैं, उसमें से एक भी नहीं रक्खी गई थी। उस समय मुझे बालकों की निर्दोषिता के विषय में जो श्रद्धा थी, वही बीमारी के अवसर पर कुदरती उपायों के अवलम्बन पर भी थी। सादे जीवन में बीमारी हो ही कैसे सकती है। अगर आवेगी तो उसका यथोचित प्रतिकार भी किया जायगा इत्यादि मैं सोचता रहता था। मेरी आरोग्य विषयक किताब मेरे प्रयोग और मेरी तत्कालीन श्रद्धा का स्मारक है। मुझे तो यह अभिमान था कि मैं तो बीमार हो ही नहीं सकता। मेरा खयाल था कि केवल पानी, मिट्टी, उपवास और खान-पान में तरह-तरह के परिवर्तन करने ही से तमाम बीमारियों को दूर किया जा सकता है। और यही मैंने फार्म पर किया भी। एक भी बीमारी के समय किसी डॉक्टर का इलाज नहीं कराया गया। एक उत्तर हिन्दुस्तानी बूढ़ा आया। अवस्था होगी कोई ७० वर्ष। दमे और खाँसी से पीड़ित था। भोजन मे फेरफार करने से तथा पानी के प्रयोगों के द्वारा वह निरोग हो गया। पर अब इस तरह के प्रयोग करने की हिम्मत

मुझ मे नहीं रही। मैं स्वयं भी दो बार बीमार हो चुका, इसलिए अब मेरा ख्याल है, मैं उस अधिकार को भी खो चुका।

उन्ही दिनों में स्वर्गीय गोखले दक्षिण अफ्रिका आये। तब हम फार्म पर ही रहते थे। उस प्रवास के वर्णन के लिए एक स्वतन्त्र अध्याय की जरूरत है। अभी तो एक कडुआ-मीठा संस्मरण है उसीको यहाँ लिख देता हूँ। हमारा जीवन-क्रम तो पाठकों ने जान ही लिया। फार्म में खाट के जैसी कोई वस्तु ही नहीं थी। पर गोखले जी के लिए हम एक खाट मांग कर लाये। वहां पर ऐसा एक भी कमरा नहीं था, जिसमे रहकर उन्हें पूरा एकान्त मिल सके। बैठने के लिए पाठशाला के बेंच थे। पर इस स्थिति में भी कोमल शरीरवाले गोखले जी को फार्म पर बिना लाये हम कैसे रह सकते थे। और वह भी उसे बिना देखे क्यों कर रह सकते थे? मेरा ख़याल था कि उनका शरीर एक रात भर के लिए कष्ट उठा सकेगा, और वह स्टेशन से फार्म तक करीब डेढ़ मील पैदल भी चल सकेंगे। मैंने उन्हें पहले ही से पूछ रक्खा था। अपनी सरलता के कारण उन्होंने बिना विचारे मुझ पर विश्वास रख सब व्यवस्था को कबूल भी कर लिया था। कर्म-धर्म संयोग से उसी दिन बारिश आगई। ऐन वक्त पर एकाएक मैं भी कोई फेरफार नहीं कर पाया। इस तरह अज्ञानमय प्रेम के कारण मैंने उनको उस दिन जो कष्ट दिया, वह कभी नहीं भुलाया जा सकता। वह भारी परिवर्त्तन को तो कदापि नहीं सह सकते थे। उन्हें खूब जाड़ा लगा। खाना खाने के लिए पाकशाला में भी उन्हें नहीं ले जा सके। मि० केलनबेक के कमरे मे उन्हें रक्खा गया था। वहाँ पहुँचते-पहुंचते तो सब खाना ठण्डा हो जाता। उनके लिए खुद मैं 'सूप' बना रहा था, और भाई कोतवाल ने रोटियाँ बनाई। पर यह सब गरम कैसे रहे? ज्यों-त्यों करके भोजनाध्याय समाप्त

हुआ। पर उन्होंने मुझे एक शब्द भी नहीं कहा। हां, उनके चेहरे पर से मैं सब कुछ और अपनी मूर्खता को भी जान गया। जब देखा कि हम सब जमीन पर सोते थे, तब तो उन्होंने भी खाट को अलग कर दिया, और अपना बिस्तर जमीन पर ही लगवा लिया। रात भर मैं पड़ा-पड़ा पश्चात्ताप करता रहा। गोखले जी को एक आदत थी, जिसे मैं कुटेव कहता था। वह केवल नौकर से ही काम लेते थे। ऐसे लम्बे प्रवासों में वह नौकरों को साथ नहीं रखते थे। मि० कैलनबेक ने और मैंने कई बार उनके पैर दबा देने के लिए प्रार्थना की। पर वह टस से मस नहीं हुए। अपने पैरों को हमें स्पर्श तक नहीं करने दिया। उलटा कुछ गुस्से से और कुछ हंसी में कहा—"मालूम होता है, आप सब लोगों ने समझ रक्खा कि दुःख और कष्ट उठाने के लिए केवल आप ही पैदा हुए हैं, और मुझ जैसे आपको केवल कष्ट देने के लिए। तो, भुगतो अब अपनी 'अति' की सजा। मैं तुम्हें अपने शरीर को स्पर्श तक नहीं करने दूंगा। आप सब लोग तो नित्य-क्रिया के लिए मैदान में जावेंगे और मेरे लिए कमोड रख छोड़ा है, क्यों? खैर, परवा नहीं। आज तो मैं जरूर आपका गर्व दूर करूंगा, चाहे उसके लिए कितना ही कष्ट हो"। यह वचन तो वज्र के समान था। कैलनबेक और मैं दोनों सुस्त हो गये। पर उनके चेहरे पर कुछ कुछ हंसी भी थी, बस यही हमें आश्वासन दे रही थी। अर्जुन ने अज्ञानवश श्रीकृष्ण को कितना ही कष्ट क्यों न दिया हो, पर क्या यह सब श्रीकृष्ण ने याद रक्खा होगा? गोखलेजी ने तो केवल सेवा को ही याद रक्खा। और खूबी यह कि सेवा तो करने भी न दी। मोंबासा से लिखा हुआ उनका वह प्रेम भरा पत्र मेरे हृदय में अंकित है। उन्होंने आप कष्ट उठा लिया, पर हम उनकी जो सेवा कर सकते थे, वह भी उन्होंने नहीं करने दी।

हमारा बनाया भोजन तो खैर खाना ही पड़ा ! नहीं तो और करते ही क्या ?

दूसरे दिन सुबह न तो उन्होंने खुद ही आराम लिया न हमें लेने दिया। उनके भाषणों को, जिन्हें हम पुस्तक रूप में छपाने वाले थे, उन्होंने दुरुस्त किया। उन्हें कुछ भी लिखना होता तो पहले वह यहाँ से वहाँ तक टहलते टहलते विचार कर लेते। उन्हें एक छोटा सा पत्र लिखना था। मेरा ख्याल था कि वह फौरन लिख डालेंगे, पर नहीं। मैंने टीका की, इसलिए मुझे व्याख्यान सुनना पड़ा। "मेरा जीवन तुम क्या जानो ! मैं छोटी-से-छोटी बात में भी जल्दी नहीं करता। उस पर विचार करता हूँ। उसके मध्यबिन्दु पर ध्यान देता हूँ, विषयोचित भाषा गढ़ता हूँ, और फिर कहीं लिखता हूँ। इस तरह यदि सभी करें तो कितना समय बच जाय, और समाज का कितना लाभ हो ? आज समाज को जो इन अपरिपक्व विचारों के कारण हानि उठानी पड़ती है उससे वह बच जाय।"

जिस तरह गोखलेजी के आगमन के वर्णन रहित टॉल्स्टॉय फार्म के संस्मरण अधूरे माने जावेंगे, उसी प्रकार यदि मि कैलनबेक की रहन-सहन का वर्णन भी न दिया जाय, तो वे अधूरे ही रह जावेंगे। इस निर्मल पुरुष का परिचय मैं पहले दे चुका हूँ। मि० कैलनबेक का टॉलस्टॉय फार्म पर और सो भी हमारे जैसा रहना एक आश्चर्यजनक वस्तु थी। गोखले सामान्य बातों से आकर्षित होने वाले पुरुष नहीं थे। कैलनबेक के जीवन में यह महान् परिवर्तन देख कर वह भी अत्यन्त आश्चर्य-चकित हो गये थे। मि० कैलनबेक ने कभी धूप जाड़ा नहीं सहा था, न किसी प्रकार की मुसीबत पहले उठाई थी। अर्थात स्वच्छन्द जीवन को उन्होंने अपना धर्म बना लिया था। संसार के आनन्दों का उप-

उपभोग लेने में उन्होंने किसी प्रकार की बाकी नहीं रहने दी थी। धन से जितनी भी चीजें ख़रीदी जा सकती हैं उन सबको प्राप्त करने के लिए उन्होंने कभी कुछ उठा नहीं रक्खा था।

ऐसे पुरुष का फार्म पर रहना, वहीं खाना-पीना, फार्म वासियों के जीवन के साथ अपने को पूर्णतया मिला देना, कोई ऐसी वैसी बात नहीं थी। भारतीयों को इस बात पर बड़ा आश्चर्य और आनन्द भी हुआ। कितने ही गोरों ने तो उन्हें मूर्ख या पागल ही समझ लिया, कितनों के दिलों मे उनकी त्याग-शक्ति के कारण उनके प्रति आदर बढ़ गया। कैलनबेक ने अपने त्याग पर न तो कभी पश्चाताप किया और न उन्हें वह दु ख रूप मालूम हुआ अपने वैभव से उन्हें जितना आनन्द प्राप्त हुआ था, उतना ही, बल्कि उससे भी अधिक आनन्द वह अपने त्याग से पा रहे थे। सादगी से होनेवाले सुखों का वर्णन करते-करते वह तल्लीन हो जाते। यहाँ तक कि कई बार तो उनके श्रोताओं को भी इस सुख का आस्वाद करने इच्छा हो जाती। छोटे से लेकर बड़े तक सबके साथ वह इस तरह प्रेम पूर्वक हिलमिल जाते कि उनका छोटे से छोटा वियोग भी सब के लिए असह्य हो जाता। फल पौंधों का उन्हें बड़ा शौक था, इसलिए बागवान का काम उन्होंने अपने अधीन रक्खा था। और प्रति दिन सुबह बालकों और बड़ों से उनकी काट-छाँट, रक्षा वगैरा का काम लेते। मिहनत पूरी लेते, पर साथ ही उनका चेहरा इतना हंसमुख और स्वभाव ऐसा आनन्दमय था कि उनके साथ काम करते हुए सबको बड़ा आनन्द होता था। जब-जब कभी रात के २ बजे से उठकर टॉल्स्टॉय फार्म से कोई टोली जोहान्सबर्ग को पैदल जाती तो कैनलबेक बराबर उसके साथ पाये जाते।

उनके साथ धार्मिक सम्वाद हमेशा होते रहते थे। मेरे नजदीक

अहिंसा, सत्य इत्यादि धर्मों को छोड़कर तो और कौनसी बात हो सकती थी? सर्पादि जानवरों को मारना भी पाप है, इस विचार से जिस तरह दूसरे यूरोपियन मित्रों को आघात पहुँचा ठीक उस तरह पहले पहले मि० कैलनबेक को भी पहुँचा। पर अंत में तात्विक दृष्टि से उन्होंने इस सिद्धान्त को कुबूल कर लिया। हम लोगों के साथ सम्बन्ध होते ही इस बात को तो उन्होंने पहले ही मान लिया था कि जिस बात को बुद्धि स्वीकार करे उस पर अमल करना भी योग्य और उचित है। इसी कारण वह अपने जीवन मे बड़े से बड़े परिवर्तन बिना किसी प्रकार के संकोच के एक क्षण मे कर सके थे।

अब तो, चूंकि सर्पादि को मारना अयोग्य पाया गया इसलिए मि० कैनलबेक को उनकी मित्रता भी संपादन करने की इच्छा होने लगी। पहले पहल तो उन्होंने भिन्न-भिन्न जाति के साँपों की पहचान जानने के लिए साँपों से सम्बन्ध रखने वाली किताबें इकट्ठी कीं। उनसे उनको पता चला कि सभी सर्प जहरीले नहीं होते। बल्कि कितने ही तो खेती की-फसल की रक्षा भी करते रहते हैं। हम सबको उन्होंने सर्पों की पहचान बताई; और अंत में एक जबरदस्त अजगर को उन्होंने पाला, जो फार्म मे ही उन्हें मिल गया था। उसे वह रोज अपने हाथों से खिलाते थे। एक दिन नम्रतापूर्वक मैंने मि० कैलनबेक से कहा, "यद्यपि आपका भाव तो शुद्ध है, तथापि अजगर शायद इसे समझ न सकता होगा। क्योंकि आपका प्रेम भय से मिश्रित है। इसको छोड़कर उसके साथ इस तरह क्रीड़ा करने की आपकी मेरी या किसी की शक्ति नहीं है। और हम तो उसी हिम्मत को प्राप्त करना चाहते हैं। इसलिए इस सर्प के पालन में सद्भाव तो देखता हूँ पर अहिंसा नहीं देख सकता। हमारा कार्य तो ऐसा हो कि जिसे

वह अजगर भी पहचान सके। यह-तो हमारा हमेशा का अनुभव है कि प्राणिमात्र केवल भय और प्रीति इन दो ही बातों को समझते हैं। आप इस सर्प को जहरीला तो मानते ही नहीं। केवल इसका स्वभाव आदि जानने भर के लिए आपने इसे कैद कर रक्खा है। यह तो स्वच्छंद हुआ। मित्रता मे तो इसके लिए भी स्थान नहीं है।

मि० कैलनबेक मेरी दलील को समझ गये। पर उनको यह इच्छा नहीं हुई कि अजगर को जल्दी छोड़ दें। मैंने किसी प्रकार का दबाव तो डाला ही नहीं। सर्प के बर्ताव में मैं भी दिलचस्पी ले रहा था। बच्चों को तो खूब आनन्द हो रहा था। सब से कह दिया गया था कि उसे कोई सतावे नहीं। पर वह कैदी स्वयं ही अपनी राह ढूंढ रहा था पिंजडे का दरवाजा खुला रह गया था शायद उसीने उसे किसी तरह खोल लिया—परमात्मा जाने क्या हुआ—दो चार दिन के अंदर ही, एक दिन सुबह जब मि० कैलनबेक अपने कैदी को देखने के लिए गये, तो उन्होंने पींजरे को खाली पाया। वह और मैं भी खुश हो गया। पर इस प्रयोग के कारण हमेशा के लिए सर्प हमारी बात चीत का विषय हो गया। मि० कैलनबेक एक गरीब जर्मन को हमारे फार्म पर लाये थे। वह गरीब भी था और पंगु भी। उसकी जांघ इतनी टेढी हो गई थी कि वह बिना लकडी के चल ही नहीं सकता था। पर वह बड़ा हिम्मतवर था। शिक्षित भी था, इसलिए सूक्ष्म बातों में भी बडी दिलचस्पी बताता। फार्म पर वह भी भारतीयों का साथी बनकर सब से हिलमिल कर रहता था। उसने तो निर्भयता पूर्वक सर्पों के साथ खेलना तक शुरू कर दिया। छोटे-छोटे सर्पों को वह अपने हाथ में ले आता और अपनी हथेली पर उन्हें खिलाता था। कौन कह सकता है कि फार्म अधिक दिन तक चला

होता तो इस जर्मन के प्रयोग क्या परिणाम होता। इसका नाम आल्बर्ट था।

इस प्रयोग के कारण यद्यपि सांप का डर तो कम हो गया था तथापि कोई यह न समझले कि फार्म के अंदर किसी को सांप का भय ही नहीं रहा अथवा सांप को मारने की सब को मनाई थी। हिंसा-अहिंसा और पाप का ज्ञान प्राप्त कर लेना एक बात है और उसके अनुसार आचरण करना दूसरी बात। जिसके दिल में सांप का डर है, और जो प्राण-त्याग करने के लिए तैयार नहीं है, वह संकट-समय में सांप को कभी नहीं छोड़ेगा। मुझे याद है कि ऐसा ही एक किस्सा फार्म पर हुआ था। पाठकों ने यह तो स्वयं ही अन्दाज से जान लिया होगा कि फार्म पर सर्पों का उपद्रव खूब रहा होगा। क्योंकि हम लोग वहाँ गये उससे पहले वहाँ कोई बस्ती नहीं थी। बल्कि कितने ही समय से वह निर्जन ही था। एक दिन मि० कैलनबेक के कमरे में अचानक ऐसी जगह एक सांप दिखा, जहाँ से उसे भगाना या पकडना भी करीब करीब असम्भव था। पहले पहल फार्म के एक विद्यार्थी ने उसे देखा। उसने मुझे बुलाया और पूछा—कि अब क्या करना चाहिए? उसे मारने की आज्ञा भी उसने चाही। वह बिना इजाजत भी सांप को मार सकता था परन्तु साधारणतया क्या विद्यार्थी और क्या दूसरे मुझे बिना पूछे ऐसी कोई बात नहीं करते थे। इस सांप को मारने की इजाजत देना मैंने अपना धर्म समझा और आज्ञा दे भी दी। यह लिखते समय भी मुझे यह नहीं मालूम होता कि मैंने वह आज्ञा देने में कोई गलती की। सांप को हाथ में पकड़ने इतनी अथवा अन्य किसी प्रकार से फार्मवासियों को निर्भय कर देने इतनी शक्ति न तो मुझ में तब थी और न आज तक उसे प्राप्त कर सका हूँ।

पाठक यह तो आसानी से जान सकते हैं, कि फार्म पर सत्याग्रहियों के दल आते रहते थे ! कैद होने के लिए जाने वाले तथा कैद से छूटकर आने वाले सत्याग्रही इन दो मे से कोई न कोई तो वहां जरूर ही बने रहते । उनमें दो कैदी ऐसे वहां आ पंहुचे जिन्हें मजिस्ट्रेट ने उनके अपने मुचलके पर ही छोड़ दिया था और जिन्हें दूसरे दिन सजा सुनने के लिए जाना था । बात चीत हो रही थी । बात-बात मे इतना समय हो गया कि आखिरी ट्रेन का वक्त भी आ पहुचा । यह निश्चय नहीं था कि ट्रेन मिल ही जायगी । दोनो जवान कसरती थे, वे दोनों और हम में से कितने ही ताकत वर लोग दौड़े । रास्ते हा मे ट्रेन के आने की सीटी मैंने सुनी । हम स्टेशन के बाहर तक पहुँचे कि गाड़ी के छूटने की सीटी हुई ! वे दोनों भाई तो एक साथ दौड़ते चले जा रहे थे । मैं पीछे रह गया ट्रेन खुल गई । इन दोनों को दौड़ते देख कर स्टेशन मास्टर ने चलती ट्रेन को रोक दिया, और उन दोनों को बैठा दिया । जब मैं पहुँचा तो मैंने अहसान मंदी जाहिर की ।

यह वर्णन करते हुए मैं दो बातें दिखा गया हूँ । एक तो सत्याग्रहियों की अपनी प्रतिज्ञा पालन करने तथा जेल जाने की उत्कट उत्सुकता और दूसरे सत्याग्रहियों और स्थानीय अधिकारियों के बीच जो मधुर-सम्बन्ध स्थापित हो गया था वह । अगर वे दोनों युवक ट्रेन नहीं पकड़ सकते तो वे दूसरे दिन अदालत मे हाजिर भी नहीं हो सकते । उनका जामिन दूसरा कोई था ही नहीं । और न इनसे कहीं रुपये ही लिये गये थे । उन्हें तो केवल उनकी भलमनसाही पर ही छोड़ा गया था । वहां पर सत्याग्रहियों की साख उतनी जम गई थी कि जेल जाने के लिए सदा उत्सुक रहने के कारण अदालत के अधिकारीगण भी उनसे कभी जामिन लेना आवश्यक नहीं समझते थे । इसलिए उन युवकों को ट्रेन

चूकने का बड़ा भारी डर था। और इसलिए वे तीर की तरह ५० थे। हाँ इस सत्याग्रह के आरंभ में अधिकारियों की तरफ से सत्याग्रहियों को जरूर कुछ कष्ट हुआ था। कहीं-कहीं तो जेल के अधिकारी अत्यन्त कठोरता पूर्ण व्यवहार भी करते थे। पर ज्यों-ज्यों युद्ध आगे बढ़ता गया त्यों-त्यों मैंने देखा कि वे नरम होते गये, और कितने ही अधिकारी तो नितान्त मधुरतापूर्ण व्यवहार करने लग गये। और जहा-जहां उनके साथ अधिक समय तक मेल-मिलाप का सम्बन्ध या प्रसंग पड़ता वहा वहा तो उस भले स्टेशन मास्टर की तरह वे सहायता तक करने लग गये। पाठक यह न समझलें कि सत्याग्रही लोग अधिकारियों को रिश्वत देकर अपने अनुकूल कर लिया करते होंगे। वहा तो अनुचित मार्ग के अवलम्बन द्वारा सुविधायें प्राप्त करने का खयाल तक नहीं किया जाता था। पर ऐसा कौन होगा जिसे शिष्ट-सम्मत सुविधायें प्राप्त करने की इच्छा भी न हो? बस इसी प्रकार की सुविधा अनेक स्थानों पर सत्याग्रही प्राप्तकर सकते थे। यदि स्टेशन मास्टर उलटा आदमी होता तो नियम-भंग न करते हुए भी हमें अनेक प्रकार से सता सकता था, और ऐसे व्यवहार के खिलाफ कोई शिकायत भी नहीं की जा सकती थी। पर इसके विपरीत यदि वह भला आदमी होता तो नियमों का बिना किसी प्रकार उल्लंघन किये हमें अनेक प्रकार से सहायता भी पहुँचा सकता था। और इसी तरह की सुविधायें इस फार्म के नजदीक वाले स्टेशन के स्टेशन-मास्टर से हम प्राप्त कर सके थे। पर इसका कारण वो था सत्याग्रहियों का विवेक, उनका धैर्य, अनेक कष्ट सहने की क्षमता रखनेवाली उनकी सहन शक्ति।

यदि एक अप्रस्तुत प्रसंग का भी यहाँ उल्लेख कर दूँ तो अनुचित न होगा। लगभग ३५ वर्ष से मुझे भोजन में सुधार और अन्य धार्मिक, आर्थिक तथा आरोग्य विषयक प्रयोग करने का शौक

है। वह अभीतक ज्यों का त्यों है, जरा भी मंद नहीं हुआ। इन प्रयोगों का प्रभाव मेरे आस-पास रहने वालों पर तो जरूर ही पड़ता। इन प्रयोगों के साथ साथ बिना किसी प्रकार की औषधि की सहायता के केवल प्राकृतिक—मसलन पानी, मिट्टी आदि उपचारों द्वारा रोगों के इलाज के प्रयोग भी मैं करता था। मैं वकालत करता था उस समय मवक्किलों के साथ मेरा बिलकुल घर के जैसा सम्बन्ध हो जाता। इसलिए वे मुझे अपने सुख-दुखों मे भी भागीदार बनाते। आरोग्य विषयक मेरे कितने ही प्रयोगों से वे परिचित भी थे। इसलिए वे अक्सर उस विषय में मेरी सहायता लेते।

टॉल्स्टॉय फार्म पर भी ऐसी सहायता के इच्छुक कभी-कभी चले आते। इनमें उत्तर हिंदुस्तान से गिरमिट मे आया हुआ लुटावन नामक एक बूढ़ा मवक्किल भी था। अवस्था ७० वर्ष से भी अधिक होगी। उसे बड़ी पुरानी दमे और खांसी की व्याधि थी। अनेकों वैद्यों के क्वाथ-पुड़ियों और कई डॉक्टरों की बोतलों को वह आजमा चुका था। उस समय मुझे अपने इन उपचारों मे असीम विश्वास था। मैंने उसे कहा कि यदि तुम मेरी तमाम शर्तों का पालन करो और फार्म ही पर रहो। तो मैं अपने उपचारों का प्रयोग तुम पर कर सकूँगा। उसका इलाज करने की बात तो मैं कैसे कह सकता था? उसने मेरी शर्तों को कबूल किया। लुटावन को तमाखू का बहुत भारी व्यसन था। मेरी शर्तों में एक यह भी थी कि वह तमाखू छोड़ दे। लुटावन को एक दिन का उपवास कराया। प्रति दिन बारह बजे धूप मे 'क्यूनी बाथ' देना शुरू किया। उस समय की ऋतु भी धूप मे बैठने लायक थी। उसे थोड़ा भात, कुछ ओलिव ऑइल (जेतून का तेल) शहद और कभी-कभी शहद के साथ साथ खीर, मीठी नारंगी, अंगूर और भुने हुए गेहूँ की कॉफी आदि भोजन के लिए दिया जाता था। नमक और तमाम

समाले बंद कर दिये गये थे। जिस मकान में मैं सोता था उसी मकान में जरा अन्दर की तरफ, लुटावन का भी बिस्तर लगा दिया जाता था। सब के बिस्तर में दो कम्बल रहते थे, एक बिछाने का और एक ओढ़ने का। लकड़ी का तकिया भी रहता था।

एक सप्ताह बीता, लुटावन के शरीर में तेज प्रवेश करने लगा, दमा कम हुआ, खांसी भी घट गई। पर रात को दमा और खाँसी दोनों सताते। मुझे तमाखू का शक हुआ। मैंने उसे पूछा। लुटावन ने कहा 'मैं नहीं पीता'। फिर एक दो दिन गये। पर खाँसी में कोई फर्क नहीं हुआ। अब छिपकर लुटावन पर नजर रखने का निश्चय किया। सब जमीन पर ही सोते थे। सर्पादि का भय तो था ही। इसलिए मि० कैलनबेक ने मुझे बिजली की एक जेबी बत्ती दे रक्खी थी। वह भी एक रखते थे। इस बत्ती को लेकर मैं सोता था। मैंने निश्चय किया कि एक रात बिस्तर ही में पड़े-पड़े जागूं। दरवाजे से बाहर बरामदे में मेरा बिस्तर लगा हुआ था, और दरवाजे के अंदर नजदीक ही लुटावन लेट रहा था। करीब आधी रात के लुटावन को खांसी आई। दियासलाई सुलगा कर उसने बीड़ी पीना शुरू किया। मैं भी धीरे से चुप चाप उसके बिस्तर के पास जा खड़ा हुआ और बत्ती की कल को दबाया। लुटावन घबड़ाया। वह समझ गया। बीड़ी बुझा कर उठ खड़ा हुआ। और मेरे पैर पकड़ कर बोला 'मैंने बड़ा गुनाह किया, अब मैं कभी तमाखू नहीं पीऊंगा। आपको मैंने धोखा दिया। मुझे आप माफ करें" यह कह कर वह गिड़ गिड़ाने लगा। मैंने उसे आश्वासन पूर्वक कहा कि बीड़ी छोड़ने में उसीका हित था। मेरे अनुमान के अनुसार खाँसी जरूर मिट जानी चाहिए थी। वह मिटी नहीं इसलिए मुझे शक हुआ। लुटावन की बीड़ी छूटी और उसके साथ ही साथ दो तीन दिन में दमा और खांसी की

शिकायत भी कम हो गई। इसके बाद एक मास में लुटावन बिलकुल नि:रोग हो गया। उसके चेहरे पर खूब रौनक आगई, और वह बिदा होने के लिए तैयार हुआ।

स्टेशन मास्टर का लड़का, जो दो साल का था, टॉइफाइड (विषम ज्वर) से पीड़ित था। स्टेशन मास्टर जानते थे कि मैं इस तरह उपचार करता हूँ। उन्होंने मेरी सलाह चाही। उस बच्चे को पहले दिन तो मैंने खाने के लिए कुछ भी न दिया। दूसरे दिन से खूब मसला हुआ आधा केला लेकर उसमे एक चम्मच ओलिव आइल और नींबू के रस की कुछ बूंद डाल कर देना शुरू किया। बस, और सब खुराक बंद कर दिया। हॉं, रात को इस बालक के पेट पर मिट्टी की पट्टियॉं बाधी जाती थीं। उसे भी आराम हो गया। सम्भव है, डा० का निदान गलत हो, और वह विषम ज्वर न भी हो।

इस तरह के अनेकों प्रयोग मैंने फार्म पर किये। और जहॉं तक मुझे याद है, उनमे से एक भी निष्फल नहीं हुआ। पर आज उन्हीं उपचारों को आजमाने की हिम्मत मुझ में नहीं है। अब तो विषमज्वर से पीड़ित रोगी को केला और ओलिव आइल मुझ से नहीं दिया जाय। हाथ पॉंव ही कॉंपने लग जावें। १९१८ में भारत-वर्ष मे मुझे अतिसार की बीमारी हो गई थी। परन्तु मैं उसका इलाज नही कर सका। मैं नहीं कह सकता कि इसका कारण क्या होगा? पता नहीं कि जो उपचार अफ्रिका में सफल हुए, वे यहॉं उसी परिमाण में सफल नहीं होते। इसका कारण मेरे आत्मविश्वास की न्यूनता है या वह (उपचार ही) यहॉं के जल-वायु को अनुकूल नहीं होते। पर यह जरूर कह सकता हूँ कि इन घरेलू उपचारो की बदौलत तथा टॉल्स्टॉय फार्म मे अख्तियार की गई सादगी के कारण, अधिक नहीं तो कम से कम २-३ लाख रुपये की बचत

तो कौम को अवश्य हुई होगी। इसके अलावा रहने वालों में कौटुम्बिक भावना उत्पन्न होगई, सत्याग्रहियों को शुद्ध आश्रय स्थान मिला, अप्रामाणिकता और दम्भ को कहीं मौका नहीं मिला। मूंग और कंकड़ अलग-अलग हो गये।

उपर्युक्त कहानियों मे बताये खुराक के प्रयोग केवल आरोग्य की दृष्टि से किये गये। पर इस फार्म पर रहते हुए। मैंने केवल आध्यात्मिक दृष्टि से खुद अपने ऊपर एक महत्वपूर्ण-प्रयोग भी किया था।

इस बात पर तो मैंने विचार किया है और उपलब्ध साहित्य भी पढ़ा है कि निरामिष भोजन करने वाले की हैसियत से हमें दूध का उपयोग करना चाहिए या नहीं, और यदि हाँ,'तो कितना किया जाय। इस फार्म पर रहते हुए मेरे हाथों में एक किताब या अखबार आया, जिसमे मैंने पढ़ा कि कलकत्ता में गाय भैंसों का दूध बिलकुल निचोड़ कर निकाला जाता है। इस लेख में फूंके की (पंप करने की) अमानुष और भयानक क्रिया का भी वर्णन था। एक दिन मि० कैनलबेक के साथ इसी विषय मे दूध पीने की आवश्यकता पर बात-चीत हो रही थी। उसमें मैंने इस क्रिया की बात भी उनसे कही। दूध के त्याग से होने वाले अन्य कितने ही आध्यात्मिक लाभ भी मैंने उन्हें बताये और यह भी कहा कि अच्छा हो यदि हम लोग दूध का भी त्याग कर सकें। मि० कैनलबेक अत्यन्त साहसी थे अतएव वह दूध छोड़ने का प्रयोग करने को भी एकदम तैयार हो गए। उन्हें मेरी बात बड़ी पसन्द हुई। उसी दिन से हम दोनों ने दूध छोड़ दिया। अन्त मे हम दोनों केवल सूखे और हरे फलों पर ही अपनी आजीविका चलाने लगे। आग का पकाया हुआ अन्न भी बन्द कर दिया। इस प्रयोग के परिणाम का इतिहास मैं यहाँ पर नहीं देना चाहता। पर इतना तो

जरूर कहूँगा कि पॉच साल तक केवल फलाहार पर ही रहने से न तो मुझे कभी कमजोरी मालूम हुई और न किसी प्रकार की व्याधि। इतना ही नहीं, बल्कि उन दिनों शारीरिक काम करने की मुझमें सम्पूर्ण शक्ति थी; यहाँ तक कि एक दिन के अन्दर में पैदल ही पैदल ५५ मील की सफर कर सकता था। ४० मील की सफर तो मेरे लिए एक मामूली सी बात थी। मुझे यह भी दृढ़ विश्वास है कि इस प्रयोग का आध्यात्मिक परिणाम भी बड़ा सुंदर हुआ था। और इस प्रयोग का कुछ अंशों मे मुझे त्याग करना पड़ा है, इस बात पर मुझे बराबर दुःख होता रहता है। आज भी यदि मैं इन राजनैतिक व्यवसायों से, जिनमे मैं बहुत ही फँसगया हूँ, किसी प्रकार मुक्त हो जाऊँ, तो इसके आध्यात्मिक परिणामों को जॉचने के लिए इस उम्र में शरीर की जोखिम उठा कर भी, मैं उस प्रयोग को फिर से शुरू करदूँ। मेरा तो खयाल है कि डाक्टरों और वैद्यों में आध्यात्मिक दृष्टि का अभाव भी मेरी राय में हमारे लिए एक महान् विघ्न है।

पर अब तो इन मधुर किन्तु आवश्यक संस्मरणों को समाप्त कर देना चाहिए। इतने सख्त प्रयोग आत्मशुद्धि के युद्ध के कारण ही हो सकते हैं। टॉल्स्टॉय फार्म अंतिम युद्ध के लिए एक तपश्चर्या और आत्मिक शुद्धि का स्थान साबित हुआ। इस बात मे मुझे पूरा संदेह है कि यदि हमे ऐसा स्थान न मिलता या हम उसे न प्राप्त कर सकते तो आठ वर्ष तक युद्ध चल भी सकता या नहीं, हमे इतना अधिक धन भी मिलता या नहीं, और साथ ही आगे चलकर जिन हजारों मनुष्यों ने उसमे भाग लिया वह ले सकते या नहीं। यह बात हमारे नियम और उद्देश के विपरीत थी कि टॉल्स्टॉय फार्म का ढोल पीट कर प्रचार किया जाय। तथापि जो वस्तु दया के पात्र नहीं थी, उसने लोगों के दया-भाव को

जागृत किया और लोगों ने समझा कि वह खुद जिन बातों को करने के लिए तैयार नहीं थे, अथवा जिन्हें वह दुःखद मानते थे उन्हीं बातों को फर्मावर्दारी कर रहे थे। उनका यह विश्वास उस महान युद्ध के लिए मूलधन बन गया जो १६१३ में विराट रूप में संचालित किया गया था। इस मूलधन के बदले का हिसाब ही नहीं लगाया जा सकता। यह भी कोई नहीं कह सकता कि वह कब मिलता है। पर मुझे तो इसमें जरा भी संदेह नहीं है कि वह मिलता जरूर है, कोई इसमें सन्देह न करे।

: १२ :

श्री गोखले का प्रवास

इस टॉल्स्टॉय फार्म पर सत्याग्रही अपनी जीवन-यात्रा तय कर रहे थे और अज्ञात भावी में उनके लिए जो कुछ भी रचा जा रहा था उसके लिए तैयार हो रहे थे। न तो उन्हें इस बात की कोई खबर थी और न कोई चिन्ता ही थी कि लड़ाई कब खतम होगी ? उनकी तो केवल यही एक प्रतिज्ञा थी कि उस खूनी कानून के सामने कभी सिर न झुकावेंगे। इसमे जो कुछ दु:ख कठिनाइयाँ आवेंगी सब को सहन्नेंगे। एक सिपाही के लिए तो स्वयं युद्ध ही जीत है। क्योंकि वह उसीमे सुख मानता है। और चूँकि लडना न लड़ना उसीके अपने अधीन होता है हार-जीत तथा अपने सुख दु:ख का भार भी उसी पर होता है। या यों कहिए कि दु:ख और पराजय जैसे शब्द उसके शब्द-कोष ही मे नहीं होते। गीता के शब्दों मे कहें तो सुख-दु:ख, हार-जीत उसके लिए समान ही है।

इस बीच यों ही इक्के-दुक्के सत्याग्रही जेल को जाते रहते थे। और जब यह प्रसंग भी नहीं आता था तब फार्म की बाहरी प्रवृत्ति को देखते हुए कोई यह नही मान सकता था कि यहाँ सत्याग्रही रहते हैं, या वह लड़ाई की तैयारी कर रहे हैं। तथापि यदि कोई नास्तिक मित्र उधर आ निकलता तो

दिखाता और यदि वह टीकाकार होता तो हमारी निन्दा करता "काहिल हैं, और क्या ? तभी तो जंगल में पड़े-पड़े मुफ्त घास रहे हैं। जेल से हार गये इसीलिए तो फलों के सुन्दर बाग में रह कर आराम से नियमित जीवन बिता रहे हैं,—शहर के झंझटों से दूर भागकर सुखोपभोग कर रहे हैं"—इस तरह के टीकाकार को कोई यह किस तरह समझा सकता है कि सत्याग्रही अनुचित रीति से—नीति का भंग करके जेल जाना कभी ठीक नहीं समझता। भला उसे यह भी कौन समझावे कि सत्याग्रही की शांति और समय में ही युद्ध की तैयारी है। यह भी उसे कौन कहे कि सत्याग्रही मनुष्य की सहायता या विचार तक छोड़ देता है, वह तो केवल परमात्मा पर विश्वास रखता है। किन्तु अन्त में ऐसे संयोग आजुटे जिनकी हमें कल्पना भी नहीं थी। अथवा यों कहें कि वह परमात्मा की माया थी। सहायता भी अकल्पित रीति से आ पहुँची। कसौटी का मौका भी ऐसा चढ़िया आगया, जिसका किसी को खयाल तक न था। फलतः अंत में हमें प्राप्त विजय भी ऐसी ली जिसको संसार समझ सका।

गोखलेजी तथा अन्य नेताओं से मैं प्रार्थना कर रहा था कि वे दक्षिण अफ्रिका आकर यहाँ के भारतीयों की स्थिति का अध्ययन करें। इस बात में पूरा-पूरा सन्देह था कि कोई आवेगा भी या नहीं। मि० रिच भी किसी नेता को भेजने की कोशिश कर रहे थे। पर ऐसे समय वहाँ आने की हिम्मत कौन कर सकता था जब लड़ाई बिलकुल मंद हो गई हो ? सन् १९११ मे गोखले इंग्लैण्ड में थे, दक्षिण अफ्रिका के युद्ध का अध्ययन तो उन्होंने अवश्यही कर लिया था। बल्कि धारासभाओं में चर्चा भी की थी। गिरमिटियाओं को नेटाल भेजना बंद करने का प्रस्ताव उन्होंने धारासभा में पेश किया था, जो स्वीकृत भी

हो गया था। उनके साथ मेरा पत्र-व्यवहार बराबर जारी था। भारत-सचिव के साथ वह इस विषय में कुछ मशवरा कर रहे थे, और उन्होंने दक्षिण अफ्रिका जाकर उस प्रश्न का ठीक-ठीक अध्ययन करने की इच्छा भी प्रगट की थी। भारत-सचिव ने उनके इस विचार को पसन्द भी किया था। गोखलेजी ने छः सप्ताह के प्रवास की योजना और कार्यक्रम बनाने के लिए मुझे लिख भेजा और साथ ही वह अंतिम तारीख भी लिख भेजी, जब वह दक्षिण आफ्रिका से विदा होना चाहते थे। उनके शुभागमन की वार्ता पढ़कर हमे तो इतना आनंद हुआ कि जिसकी हद नहीं। आजतक किसी नेताने दक्षिण अफ्रिका की सफर नहीं की थी। दक्षिण अफ्रिका की तो ठीक पर प्रवासी भारतवासियों की दशा का अवलोकन और ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से भी किसी विदेशी रियासत की सफर तक नहीं की थी। इसलिए गोखले जैसे महान् नेता के शुभागमन के महत्व को हम सब पूरी तरह समझ गये। हमने यह निश्चय किया कि गोखलेजी का ऐसा स्वागत-सम्मान किया जाय जैसा अब तक बादशाह का भी न हुआ। यह भी तय हुआ कि उन्हें दक्षिण अफ्रिका के मुख्य-मुख्य शहरों में भी ले जाना चाहिए। सत्याग्रही और दूसरे भी उनके स्वागत की तैयारियों में बड़े उत्साहपूर्वक काम करने लगे। गोरों को भी इस स्वागत में भाग लेने के लिए निमंत्रित किया गया था, और लगभग सभी जगह वे शामिल भी हुए थे। यह भी निश्चय किया गया कि जहाँ-जहाँ सार्वजनिक सभायें हों, उन-उन शहरों के मेयरों को, यदि वे स्वीकार करें तो, अध्यक्षस्थान दिया जाय। साथ ही जहाँतक हो सके कोशिश करके प्रत्येक शहर मे सभा-स्थान के लिए वहाँ के टाउन हॉल का ही उपयोग किया जाय। हमने यह निश्चय कर लिया कि रेलवे-विभाग की इजाजत प्राप्त करके मुख्य-मुख्य

स्टेशनों को भी सजाया जाय। तदनुसार कितने ही स्टेशनों के सजाने की इजाजत भी हमें मिल गई। यद्यपि, सामान्यतया ऐसी इजाजत नहीं दी जाती। पर हमारी स्वागत की तैयारियों का असर सत्ताधिकारियों पर भी पडा। इसलिए उन्होंने भी जितनी उनसे बन पडी सहानुभूति दिखाई। मसलन, केवल जोहान्सबर्ग के स्टेशन को सजाने में ही हमे लगभग १५ दिन लग गये। वहाँ हम लोगों ने एक सुन्दर प्रवेश द्वार बनाया था।

दक्षिण अफ्रिका के विषय में बहुत कुछ जानकारी तो उन्हें इंग्लैण्ड मे ही मिल चुकी थी। भारत-सचिव ने दक्षिण अफ्रिका की सरकार को गोखले का दरजा, साम्राज्य मे उनका स्थान, इत्यादि पहले ही बता दिया था। किन्तु स्टीमर कम्पनी में टिकट तथा व्यवस्था आदि करने की बात किसीको कैसे सूझ सकती थी? गोखले जी की तबियत नाजुक थी। इसलिए उनको अच्छी केबिन और एकान्त की बडी आवश्यकता रहती। पर उन्हें तो साफ उत्तर मिल गया कि ऐसी केबिन है ही नहीं। मुझे ठीक-ठीक पता नहीं है कि स्वयं गोखलेजी ने या उनके और किसी मित्र ने इण्डिया आफिस मे इस बात की इत्तिला की। पर कम्पनी के डायरेक्टर के नाम इण्डिया आफिस की तरफ से पत्र पहुँचा। और जहाँ कोई केबिन ही नहीं थी वहीं उनके लिए एक बढ़िया केबिन तैयार हो गई। उस प्रारम्भिक कटुता का अंत इस मधुरता के साथ हुआ। स्टीमर के कैप्टन को भी गोखलेजी का बढ़िया स्वागत करने के लिए सूचना पहुँची थी। इसलिए उनके इस सफर के दिन बडी शान्ति और आनन्द के साथ बीते। गोखले उतने ही आनन्द और विनोदशील भी थे जितने वह गम्भीर थे। स्टीमर के खेल वगैरों में वह खूब भाग लेते थे। इसलिए स्टीमर के मुसाफिरों मे वह बडे प्रिय हो गये। गोखलेजी को यूनियन सरकार का यह विनय-संदेश भी पहुँचा

कि वह यूनियन सरकार के मिहमान हों और रेलवे के स्टेट सलून मे ही सफर करें। किन्तु स्टेट सलून का तथा प्रिटोरिया मे सरकारी मिहमान होना स्वीकार करने का निश्चय उन्होंने मेरे साथ मशवरा करने के बाद किया।

जहाज से वह केपटाउन मे उतरने वाले थे। उनका मिजाज तो मेरी अपेक्षा से भी अधिक नाजुक साबित हुआ। वह एक खास तरह का भोजन ही खा सकते थे। अधिक परिश्रम भी नहीं उठा सकते थे। निश्चित कार्य क्रम भी उनके लिए असह्य हो गया। जहाँतक हो सका उसमे परिवर्तन किया गया। जहाँ कहीं परिवर्तन नहीं हो सका, वहाँ स्वास्थ्य बिगड़ने की आशंका होते हुए भी उन्होंने उसे कुबूल कर लिया। मुझे इस बात का बड़ा पश्चात्ताप हुआ कि उनसे बिना पूछे ही मैंने इतना सख्त कार्य-क्रम क्यों तैयार कर डाला। कार्य क्रम मे कितनी ही जगह परिवर्तन किया गया, पर अधिकांश तो ज्यों का त्यों ही रखना पडा। यह बात मेरे खयाल मे नहीं आई थी कि उन्हें एकात की अत्यन्त आवश्यकता रहती है। अतः एकान्त स्थान का प्रबन्ध करने में मुझे ज्यादा से ज्यादा कठिनाई हुई। पर साथ ही नम्रता पूर्वक मुझे यह तो सत्य के लिए जरूर कहना पड़ेगा कि बीमार और बुजुर्गों की सेवा करने का मुझे खास अभ्यास और शौक भी था, इसलिए अपनी मूर्खता का ज्ञान होने के बाद मैं उसमें इतना सुधार कर सका था, कि उन्हें बहुत काफी एकान्त और शान्ति भी मिल सकी। प्रवास मे शुरू से आखीर तक उनके मंत्री का काम स्वयं मैंने ही किया। स्वयं-सेवक भी ऐसे थे जो सांय-सांय करती अंधेरी रात मे भी चिट्ठी का उत्तर ला सकते थे। इसलिए मेरा खयाल है कि उन्हें सेवकों

के अभाव के कारण कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ा होगा। कैलनबेक भी इन स्वयं सेवकों मे थे।

यह तो प्रकट ही था कि केप टाउन मे बढ़िया से बढ़िया सभा होनी चाहिए। श्राइनर कुटुम्ब के विषय मे पहले भाग में लिख ही चुका हूँ। उनमें डब्ल्यू पी श्राइनर से, जो मुख्य थे—अध्यक्ष स्थान स्वीकार करने के लिए प्रार्थना की गई। हमारी प्रार्थना को उन्होंने मंजूर कर लिया। विशाल सभा हुई। भारतीय और गोरे भी अच्छी तादाद मे आये। मि० श्राइनर ने मधुर शब्दों मे गोखलेजी का स्वागत किया, और दक्षिण अफ्रिका के भारतीयों के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की। गोखलेजी का भाषण छोटा परिपक्व विचारों से भरा हुआ और दृढ़ किन्तु विनयपूर्ण भी ऐसा था जिसने भारतीयों को प्रसन्न कर दिया और गोरों का दिल भी चुरालिया। गोखलेजी ने जिस दिन दक्षिण अफ्रिका की भूमि पर पैर रक्खा उसी दिन वहाँ की पचरंगी प्रजा के हृदय मे उन्होंने अपना स्थान प्राप्त कर लिया।

केप टाउन से जोहान्सबर्ग को जाना था। रेल से दो दिन का प्रवास था। युद्ध का कुरुक्षेत्र ट्रान्सवाल था। केप टाउन से आते समय राह में हमे ट्रान्सवाल के बड़े सरहदी स्टेशन क्लार्क्सडार्प पर से गुजरना पड़ता था। खास क्लार्क्सडार्प तथा राह में आने वाले अन्य शहरों में भी ठहर कर हमें सभाओं मे जाना था। इसलिए क्लार्क्सडार्प से एक स्पेशल ट्रेन की व्यवस्था की गई। दोनों शहरों में वहाँ के मेयर ही अध्यक्ष थे। किसी भी शहर को एक घंटे से अधिक समय नहीं दिया गया था। ट्रेन जोहान्सबर्ग बिलकुल ठीक समय पर पहुँची। एक मिनट का भी फर्क नहीं पड़ने पाया। स्टेशन पर खासे कालीन वगैरा बिछाये गये थे। एक मंच भी बनाया गया था। जोहान्सबर्ग के मेयर और दूसरे अनेक गोरे भी

हाजिर थे। गोखलेजी जितने दिन जोहान्सबर्ग में रहे, उतने दिन तक उनके उपयोग के लिए मेयर ने उन्हें अपनी मोटर दे दी थी। स्टेशन पर ही उन्हें मानपत्र भी दिया गया। प्रत्येक स्थान पर मान-पत्र तो दिये ही जाते थे। जोहान्सबर्ग का मानपत्र बड़ा सुंदर था। दक्षिण अफ्रिका की लकड़ी पर जड़ी हुई सोने की हृदयाकार तख्ती पर खुदा हुआ था—तख्ती का सोना भी जोहान्सबर्ग की खान का ही था। लकडी पर भारत के कितने ही दृश्यों के सुंदर चित्र खुदे हुए थे। गोखलेजी का परिचय, मानपत्र को पढ़ना, और उसका उत्तर दिया जाना तथा अन्य मानपत्रों का लेना यह सब काम २२ मिनिट के अंदर कर लिये गये थे। मानपत्र इतना छोटा था कि उसे पढ़ने मे पॉच मिनिट से अधिक समय नहीं लगा होगा। गोखलेजी का उत्तर भी पॉच ही मिनिट का था। स्वयं-सेवकों का इन्तजाम इतना बढ़िया था कि पूर्व निश्चित मनुष्यों के सिवा एक भी आदमी प्लेटफार्म पर नहीं आ सका। शोरोगुल जरा भी नहीं था। बाहर लोगों की खूब भीड़ थी। तथापि किसी के आने-जाने मे कोई कठिनाई नहीं हुई।

उनके ठहरने की व्यवस्था मि० कैलनबेक के एक छोटे से सुन्दर बंगले मे की गई थी, जो जोहान्सबर्ग से पॉच मील की दूरी पर एक टेकड़ी पर था। वहॉ का दृश्य ऐसा भव्य था, वहॉ की शांति ऐसी आनंद दायक थी, और बङ्गला सादा होते हुए भी कला से इतना परिपूर्ण था कि गोखलेजी खुश हो गये। मिलने जुलने की व्यवस्था सबके लिए शहर मे ही की गई थी। उसके लिए एक खास आफिस किराये पर ले लिया गया था। उनमें एक कमरा केवल उनके आराम करने के लिए रक्खा गया था, दूसरा मिलने-जुलने के लिए और तीसरा कमरा मिलने आने वाले सज्जनों के बैठने के लिए। जोहान्सबर्ग के कितने ही प्रसिद्ध

गृहस्थों से खानगी मुलाक़ात करने के लिए भी गोखलेजी को ले गये थे। गण्यमान्य गोरों की भी एक खानगी सभा की गई थी, जिससे गोखलेजी को उनके दृष्टि-बिन्दु का पूरी तरह खयाल हो जाय। इनके अलावा जोहान्सबर्ग में उनके सम्मानार्थ एक विशाल भोज भी दिया गया था, जिसमें कोई ४०० आदमियों को निमंत्रित किया गया था। उनमें लगभग १५० गोरे थे। भारतीय टिकिट लेकर आ सकते थे। टिकट की कीमत एक गिनी रक्खी गई थी। टिकटों की आय में से उस भोज का खर्च निकल आया। भोज केवल निरामिष और मद्यपान रहित था। खाना भी केवल स्वयंसेवकों द्वारा ही बनाया गया था। इसका वर्णन यहाँ करना कठिन है। दक्षिण अफ्रिका के भारतीयों में हिन्दू-मुसलमान, छूत-अछूत आदि का कोई खयाल ही नहीं होता। सब एक साथ बैठकर खा लेते हैं। निरामिष आहार करनेवाले भारतीय भी अपने नियम का पालन करते हैं। भारतीयों में कितने ही क्षत्रिय भी थे। दूसरों के मुआफिक उनसे भी मेरा तो गाढ परिचय था। उनमें से अधिकांश गिरमिटिया माता-पिता की प्रजा ही होते हैं। कई होटलों में खाना पकाने और परोसने का काम करते हैं। इन्हीं लोगों की सहायता से इतने मनुष्यों की रसोई की व्यवस्था हो सकी। तरह-तरह के कोई पंद्रह व्यंजन थे। दक्षिण अफ्रिका के गोरों के लिए यह एक नवीन और अजीब अनुभव था। इतने भारतीयों के साथ एक पंक्ति में खाने के लिए बैठना, निरामिष भोजन करना और मद्यपान बिना काम चलाना ये तीनों अनुभव उनमें से कइयों के लिए नवीन थे। दो तो अवश्य ही सबके लिए नवीन थे।

इस सम्मेलन में गोखलेजी का बड़ा से बड़ा और महत्वपूर्ण भाषण हुआ। पूरे ४५ मिनट वह बोले। इस भाषण की तैयारी के लिए उन्होंने हमारा खूब समय लिया था। पहले उन्होंने अपना

जीवन भर का यह निश्चय सुनाया कि एक तो स्थानीय मनुष्यों के दृष्टि-बिन्दु की अवगणना नहीं होनी चाहिए, दूसरे, जहाँ तक उनसे मिलकर रहा जाय हम मिलकर रहने की कोशिश करें। इन दो बातों को ध्यान में रखकर मैं उनसे जो कहलाना चाहूँ वह उन्हें बता दूँ पर यह मुझे उन्हें लिखकर देना चाहिए था। साथ ही उनकी यह भी शर्त थी कि इनमे से एक भी वाक्य या विचार का वह उपयोग न करें तो मुझे बुरा न मानना चाहिए। लेख न लम्बा होना चाहिए और न छोटा। कोई महत्व पूर्ण बात भी छूटने न पावे। इन सब बातों का ख़याल रखते हुए मुझे उनके लिए स्मरणार्थ टिप्पणियाँ लिखनी पड़ती थीं। यह तो मैं सबसे पहले कह देता हूँ कि उन्होंने मेरी भाषा का तो जरा भी उपयोग नहीं किया। वह तो अंग्रेजी के पारंगत विद्वान् थे। फिर मैं यह आशा भी क्यों करूँ कि वह मेरी भाषा का उपयोग करें। पर मैं यह भी नहीं कह सकता कि उन्होंने मेरे विचारों का भी उपयोग किया। हाँ, मेरे विचारों की उपयुक्तता को उन्होंने जरूर स्वीकार किया। इसलिए मैंने अपने दिल को समझा लिया कि आख़िर उन्होंने मेरे विचारों का भी किसी तरह उपयोग किया होगा। क्योंकि उनकी विचार शैली कोई ऐसी अजीब थी कि उससे हमें यही पता नहीं चलता था कि उन्होंने हमारे विचारों को कहाँ स्थान दिया है, अथवा दिया भी है, या नहीं। गोखलेजी के सभी भाषणों के समय मैं हाज़िर था, पर मुझे ऐसा एक भी प्रसंग याद नहीं कि जिसमे मुझे यह इच्छा हुई हो कि फलां विशेषण या फला विचार का उपयोग वह न करते तो अच्छा होता। उनके विचारों की स्पष्टता, दृढता, विनय, इत्यादि उनके अथक परिश्रम और सत्यपरायणता के फल स्वरूप थे।

जोहान्सवर्ग मे केवल भारतीयो की एक विराट सभा भी तो हो जाना जरूरी था। मेरा यह आग्रह पहले से ही चला आरहा

है कि भाषण मातृ-भाषा ही मे अथवा राष्ट्र-भाषा हिन्दुस्तानी मे ही होना चाहिए। इस आग्रह के कारण दक्षिण अफ्रिका के भारतीयों के साथ मेरा अधिक सरल और निपट का सम्बन्ध हो गया। इसलिए मैं चाहता था कि भारतीयों की सभा मे गोखले भी हिन्दुस्तानी मे भाषण दें तो बड़ा अच्छा हो, किन्तु इस विषय मे उनके विचार मैं जानता था। टूटी-फूटी हिन्दी से काम चलाना तो उन्हें पसंद ही नहीं था। अर्थात वह या तो मराठी मे भाषण दे सकते थे या अँग्रेजी मे। मराठी मे भाषण देना उन्हें कृत्रिम मालूम हुआ। यदि मराठी में बोलते भी तो गुजरातियों तथा उत्तर हिन्दुस्तान के निवासी भारतीयो के लिए उसका अनुवाद करना अनिवार्य था। यदि ऐसा था तो फिर अँग्रेजी में ही क्यों न बोला जाय? पर मेरे पास एक ऐसी दलील थी, जिसको गोखले स्वीकार कर सकते थे। जोहान्सबर्ग में कोंकण के कई मुसलमान भी बसते थे। कुछ महाराष्ट्रीय हिन्दू भी थे। ये सब गोखलेजी का मराठी भाषण सुनने के लिए बड़े लालायित थे, और उन लोगों ने मुझे यह भी कह रक्खा था कि मैं गोखलेजी से मराठी में भाषण देने के लिए अनुरोध करूँ। इसलिए मैंने गोखलेजी से कहा—"यदि आप मराठी में भाषण देंगे तो इन लोगो को बड़ा आनन्द होगा। आप जो कुछ कहेंगे उसका मैं हिन्दुस्तानी में अनुवाद करके सुना दूँगा। यह सुनकर वह जोर से खिल खिलाकर हँस पड़े। "तेरा हिन्दुस्तानी का ज्ञान तो मैंने अच्छी तरह जाँच लिया, वह तुझी को मुबारक हो। पर याद रख अब तुझे मराठी से अनुवाद करना होगा। भला बता तो सही इतनी अच्छी मराठी तू कहाँ से सीख गया"? मैंने कहा—"जो हाल मेरी हिन्दुस्तानी का है वही मराठी के विषय में भी समझिए। मराठी में एक अक्षर भी मैं नहीं बोल सकता। पर आप जिस विषय पर आज

कुछ कहेंगे उसका भावार्थ मैं जरूर कह दूँगा। आप देखिएगा कि मैं लोगों के सामने उसका उलट-सुलट अर्थ तो हरगिज नहीं करूँगा। भाषण का अनुवाद करके सुनाने के लिए मैं ऐसे लोग तो आपको अवश्य ही दे सकता हूँ, जो अच्छी तरह मराठी जानते हैं। पर शायद आप इस प्रस्ताव को मंजूर नहीं करेंगे। इसलिए मुझीको निवाह लीजिए, पर बोलिएगा मराठी मे। कोंकणी भाइयों के साथ-साथ मुझे भी आपकी मराठी सुनने की बड़ी अभिलाषा है"। 'भाई अपनी ही टेक रख। अब यहाँ तेरे ही तो पाले पड़ा हुआ हूँ न? अब कहीं यों थोड़े छुट्टी मिल सकती है!" यह कहकर उन्होंने मुझे खुश कर दिया। इसके बाद जंजीबार तक इस तरह की प्रत्येक सभा में वह मराठी ही मे बोले। और मैं खास उन्हींका नियुक्त किया हुआ अनुवादक रहा। मेरा खयाल है कि प्रत्येक भारतीय को यथा-सम्भव अपनी मातृ-भाषा में अथवा व्याकरण शुद्ध अंगरेजी की बनिस्बत व्याकरण रहित टूटी फूटी हिन्दी ही मे भाषण देना चाहिए। मैं कह नहीं सकता कि यह बात मैं उनको कहाँ तक समझा सका, किन्तु इतना तो मैं जरूर कहूँगा कि मुझे प्रसन्न करने के लिए उन्होंने दक्षिण अफ्रिका मे तो मराठी ही मे भाषण दिये। मैं यह भी जान सका कि अपने भाषण के बाद उसके प्रभाव से वह खुश भी हुए। दक्षिण अफ्रिका में अनेक प्रसंगों पर किये हुए अपने वर्ताव से गोखले ने यह बता दिया कि सिद्धान्त की कठिनाई न हो तो मनुष्य को अपने सेवकों को जरूर राजी रखना चाहिए। यह भी एक गुण है।

: १३ :

श्री गोखले का प्रवास (चालू)

जोहान्सबर्ग से हमे प्रिटोरिया जाना था। प्रिटोरिया मे गोखलेजी को यूनियन सरकार का निमन्त्रण था। तदनुसार होटल में उनके लिए सुरक्षित जगह मे ही हम ठहरे। यहाँ पर उन्हें यूनियन सरकार के मंत्रिमंडल से, जिसमे जनरल बोथा और जनरल स्मट्स भी थे, मिलना था। जैसा कि ऊपर लिख चुका हूँ, मैंने उनका कार्यक्रम ऐसा बनाया था कि उन्हें हमेशा करने योग्य कामों की सूचना मैं प्रतिदिन सुबह कर दिया करता था। यदि वह चाहते तो अगली रात को भी बता देता। मंत्रि-मंडल से मिलने का काम उत्तरदायित्व पूर्ण था। हम दोनों ने निश्चय कर लिया था कि मुझे उनके साथ नहीं जाना चाहिए—जाने की आज्ञा भी नहीं माँगनी चाहिए। मेरी उपस्थिति के कारण मंत्रि-मंडल और गोखले के बीच मे जरूर ही एक हद तक परदा पड़ जाने की सम्भावना थी। मन्त्रीगण उन्हें न तो पेट भर स्थानीय भारतीयों की और न मेरी ही ऐसी बातें बता सकते जिनको वे गलत समझते थे। और यदि वे कुछ कहना चाहते तो उसे भी खुले दिल से नहीं कह सकते थे। किन्तु इसमे एक असुविधा भी थी। गोखले जी की जिम्मेदारी दुगुनी हो जाती थी। यदि किसी बात को वह भूल

जायँ, या मन्त्रि-मंडल की तरफ से कोई ऐसी बात कही जाय जिसका उत्तर उनके पास न हो, तो क्या किया जाय? अथवा भारतीयों की तरफ से किसी बात को कबूल करना हो तब क्या किया जाय? ये दोनों बातें बिना मेरी या दक्षिण अफ्रिका के किसी जिम्मेदार नेता की उपस्थिति के कैसे तय हो सकती थीं? पर इसका निर्णय स्वयं गोखलेजी ने ही फौरन कर डाला। यही कि मैं उनके लिए शुरू से आखिर तक संक्षेप में भारतीयों की स्थिति का वृत्तान्त लिख दूँ। उसमें यह भी हो कि भारतीय अपनी माँगों में कहाँ तक कम ज्यादा करने को तैयार हैं। इसके बाहर की कोई बात उपस्थित हो, तो उसमें गोखले अपना अज्ञान कुबूल करलें। इस निश्चय के साथ ही वह निश्चिन्त भी हो गये। अब रहा यह कि मैं ऐसा एक कागज तयार करलूँ और वे उसे पढ़ लें। पर पढने इतना समय तो मैंने रखा ही नहीं था। कितना ही संक्षेप मे लिखूँ तो भी १८-२० वर्ष का, चार रियासतों की भारतीय जनता की स्थिति का इतिहास मैं १०-२०सफे से कम मे कैसे दे सकता था? फिर उसके पढ़ लेने पर उनको कुछ सवाल तो अवश्य ही सूझते। पर उनकी स्मरण शक्ति जितनी तीव्र थी, उतनी ही उनकी मेहनत करने की शक्ति भी अगाध थी। रात भर जागते रहे। पोलक को और मुझे भी सोने नहीं दिया। प्रत्येक बात की पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त करली। उलट-सुलट रीति से सवाल करके इस बात की जाँच भी कर ली कि वह स्थिति को बराबर समझ गये या नहीं। अपने विचार मेरे सामने कह सुनाये अंत में उन्हें पूरा संतोष हो गया। मैं तो निर्भय ही था।

लगभग दो घंटे मन्त्रि-मंडल के पास वह बैठे, और वहाँ से आने पर मुझ से कहा, "तुझे एक साल के अन्दर भारतवर्ष आना है। सब बातों का फैसला होगया है। काला कानून रद होगा, इमिग्रेशन

कानून से वर्ण-भेद निकालदिया जायगा, और तीन पौंड का कर भी रद होगा।" मैंने कहा—"इसमे मुझे पूरा सन्देह है। मंत्रि-मंडल को जितना मैं जानता हूँ, इतना आप नहीं जानते। आपका आशावाद मुझे प्रिय है। क्योंकि स्वयं मैं भी आशावादी हूँ। पर अनेक बातों में धोखा खाने पर अब में इस विषय में आपके इतनी आशा नहीं रख सकता। पर मुझे भय भी नहीं है। आप वचन ले आये, यही मेरे लिए काफी है। मेरा धर्म तो केवल यही है कि आवश्यकता उपस्थित होने पर युद्ध ठान दूँ और यह सिद्ध करदूँ कि वह न्याय्य है। इसकी सिद्धि मे आपको दिया गया वचन हमारे लिए बड़ा फायदेमन्द होगा। और यदि लड़ना ही पड़ा तो वह हमें दूनी शक्ति देगा। पर मुझे न तो इस बात का विश्वास होता है कि बिना अधिक तादाद में भारतीयों के जेल गये इसका निबटारा हो सकता है, और न इस बात का भी कि एक साल के अंदर मैं भारतवर्ष जा सकूँगा"। तब वह बोले "मैं तुझे जो कुछ कहता हूँ इसमें कभी फर्क नहीं हो सकता। जनरल बोथाने मुझे वचन दिया है कि काला कानून और वह तीन पौंडवाला कर भी रद होगा। तुझे एक साल के अन्दर भारत लौटना ही होगा। मैं अब इस विषय मे तेरी एक भी उजर नहीं सुनूँगा"।

जोहान्सबर्ग का भाषण प्रिटोरिया की मुलाकात के बाद हुआ था।

ट्रान्सवाल से डरबन, मैरित्सबर्ग आदि स्थानों को गये। यहाँ कई गोरों से काम पड़ा। कैम्बरली की हीरों की खान देखी। कैम्बरली और डरबन के स्वागत-मंडलों ने भी जोहान्सबर्ग के जैसे भोज दिये थे। उनमें अनेक अंग्रेज भी आये थे। इस तरह भारतीयों और गोरों का दिल चुरा करके गोखलेजी ने दक्षिण अफ्रिका का किनारा छोड़ा। उनकी आज्ञा प्राप्त कर कैलनबेक

और मैं उन्हें जंजीबार तक छोड़ने के लिए गये थे। स्टीमर मे उनके लिए ऐसे भोजन की व्यवस्था कर दी गई जो उनको मुआफिक हो। रास्ते में डेलागोआ बे, इन्हामबेन, जंजीबार, आदि बंदरगाहों पर भी उनका बड़ा सम्मान किया गया।

रास्ते मे हमारे बीच जो बातें होतीं उनका विषय भारतवर्ष और उसके प्रति हमारा धर्म ही रहता। प्रत्येक बात मे उनका कोमल भाव, सत्यपरायणता, स्वदेशाभिमान चमकता था। मैंने देखा कि स्टीमर मे वह जो खेल खेलते उनमे भी खेलों की बनिस्बत भारतवर्ष की सेवा का भाव ही विशेष रहता। भला उनके खेल मे भी सम्पूर्णता क्यों न हो!

स्टीमर मे शान्ति के साथ बातें करने के लिए हमे समय मिल ही गया। उसमे उन्होंने मुझे भारतवर्ष के लिए तैयार किया। भारतवर्ष के प्रत्येक नेता का पृथक्करण करके दिखाया। वे वर्णन इतने हूबहू थे कि मुझे बाद मे उन नेताओं का जो प्रत्यक्ष अनुभव हुआ, उसमे और उसके चरित्र-चित्रण मे शायद ही कोई फर्क दिखाई दिया।

गोखलेजी के दक्षिण अफ्रिका के प्रवास मे उनके साथ मेरा जो सम्बन्ध रहा उसके ऐसे कितने ही पवित्र संस्मरण है, जिनको मैं यहाँ दे सकता हूँ। किन्तु सत्याग्रह के इतिहास के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए मुझे अनिच्छापूर्वक अपनी कलम को रोकना पड़ता है। जंजीबार में हमारा जो वियोग हुआ वह हम दोनों के लिए बड़ा दुखदायी था। किन्तु यह सोचकर कि देह-धारियों के घनिष्ठ से घनिष्ठ सम्बन्ध भी अंत में टूटते ही हैं, कैलनबैक ने और मैंने अपना समाधान किया। हम दोनों ने यह आशा की कि गोखलेजी की वाणी सत्य हो और हम दोनों एक साल के अन्दर ही भारतवर्ष जासकें। पर यह असम्भव सिद्ध हुआ।

इतना होते हुए भी गोखलेजी के दक्षिण अफ्रिका के प्रवास ने हमे अधिक दृढ बना दिया। युद्ध को जब अधिक रंग चढा तब इस मुलाकात का रहस्य और आवश्यकता हम और भी अच्छी तरह समझे। यदि गोखले दक्षिण अफ्रिका नहीं आते, मन्त्रि-मंडल से वह नहीं मिलते, तो हम तीन पौंडवाले कर को अपने युद्ध का विषय ही नहीं बना सकते। यदि काला कानून रद होते ही सत्याग्रह-बंद कर दिया जाता तो तीन पौंड के कर के लिए हमें नया सत्याग्रह शुरू करना पड़ता। और उसमें असंख्य कष्ट उठाने पड़ते। इतना ही नहीं, बल्कि इस बात मे भी भारी संदेह था कि लोग उसके लिए शीघ्र तैयार होते भी या नहीं। इस कर को रद करना स्वतन्त्र भारतीयों का कर्त्तव्य था। उसको रद कराने के लिए अर्जियाँ वगैरा सब उपाय काम मे लाये जा चुके थे। सन् १८६५ के साल से कर दिया जा रहा था। चाहे कितना ही घोर दु:ख क्यों न हो किन्तु यदि वह दीर्घ कालीन हो जाता है, तो लोग उसके आदी हो जाते हैं। फिर उन्हें यह समझाना महा कठिन है कि उन्हें उसका प्रतिकार करना चाहिए। गोखलेजी को जो वचन दिया गया उसने सत्याग्रहियों के मार्ग को बड़ा सरल बना दिया। या तो सरकार को अपने वचन के अनुसार उस कर को रद कर देना चाहिए था, या नहीं तो स्वय वह वचन-भंग ही सत्याग्रह के लिए एक काफी बलवान् कारण हो जाता। और हुआ भी ठीक यही। सरकार ने एक साल के अंदर उस कर को रद नहीं किया। यही नहीं बल्कि यह भी साफ-साफ कह दिया कि वह कर रद नहीं किया जा सकता।

इसलिए गोखले के प्रवास से हमे तीन पौंडवाले कर को सत्याग्रह के द्वारा रद कराने मे बड़ी सहायता मिली। दूसरे, उनके उस प्रवास के कारण वह दक्षिण अफ्रिका के प्रश्न के

विशेषज्ञ समझे जाने लगे। दक्षिण अफ्रिका सम्बन्धी अब उनके कथन का वजन भी कहीं अधिक बढ़ गया। साथ ही दक्षिण अफ्रिका में रहने वाले भारतीयों की स्थिति का प्रत्यक्ष ज्ञान मिल जाने के कारण, वह इस बात को अधिक अच्छी तरह समझ सके, कि भारतवर्ष को उन लोगों के लिए क्या करना चाहिए—और उसे यह बात समझाने में उनकी शक्ति तथा अधिकार भी बहुत बढ़ गया। फलतः अब की बार जब युद्ध चेता तो भारत से धन की वर्षा होने लग गई। लॉर्ड हार्डिंज तक ने सत्याग्रहियों के साथ अपनी सहानुभूति जाहिर कर उन्हें उत्साहित किया। भारत से मि० एण्ड्रयूज और मि० पियर्सन दक्षिण अफ्रिका आये। यह सब बिना गोखले के प्रवास के नहीं हो सकता था। वचन-भंग कैसे हुआ, और उसके बाद क्या क्या हुआ? यह तो अगले प्रकरण का विषय है।

: १४ :

वचन-भंग

दक्षिण अफ्रिका की लड़ाई में बड़ी सूक्ष्मता से काम लिया जा रहा था। यहाँ तक कि प्रचलित नीति के खिलाफ एक भी बात नहीं की जाती थी। इतना ही नहीं, बल्कि इस बात का भी बराबर ख़याल रक्खा जाता था कि सरकार को भी अनुचित रीति से न सताया जाय। उदाहरणार्थ काला कानून केवल ट्रान्सवाल के भारतीयों के लिए ही था इसलिए केवल ट्रान्सवाल के भारतीयों को ही सत्याग्रह की नीति में दाखिल किया जाता था। नेटाल, केप कॉलोनी इत्यादि देशों से किसीको भी भरती नहीं किया जाता था। बल्कि वहा से जिन लोगों ने सत्याग्रह में शामिल होने के लिए अपने नाम भेजे थे उन्हें तक इन्कार कर दिया गया था। लड़ाई की मर्यादा भी इस कानून को रद करने तक ही रक्खी गई थी। इस बात को न तो गोरे समझ सकते थे और न भारतीय ही समझ सकते थे। प्रारम्भ में भारतीय इस बात की माँग किया करते थे कि लड़ाई शुरू करने के बाद काले कानून के अतिरिक्त अन्य दु:खों को भी यदि हम लड़ाई के उद्देशों में शामिल कर सकते हों तो क्यों न कर लिया जाय? शांति पूर्वक मैंने उन लोगों को समझाया कि इससे सत्य का भंग हो सकता है। और जहाँ सत्य के लिए

ग्रह किया जा रहा है, वहाँ उसके भंग की बात कैसे शामिल की जा सकती है ? शुद्ध लड़ाई का तरीका तो यही होना चाहिए कि यदि लड़ते-लड़ते जूझने वाले का बल बढ़ भी जाय तो भी प्रारम्भ में जिन उद्देशों को लेकर वह चला हो, उनके अतिरिक्त दूसरी बातों को उसे शामिल नहीं करना चाहिए, इसके विपरीत उस उद्देश का वह त्याग भी नहीं कर सकता, फिर भले ही लड़ते लड़ते उसकी शक्ति क्षीण ही क्यों न हो जाय। इन दोनों बातों पर दक्षिण अफ्रिका में पूरा पूरा ध्यान दिया गया था। हम इस बात को भी देख चुके हैं कि जिस बल की हिम्मत पर लड़ाई का प्रारंभ किया गया था, वह आगे चलकर मिथ्या साबित हुआ तथापि शेष सत्याग्रही तो, जो केवल मुट्ठी भर ही थे, अंत तक अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ ही रहे। किन्तु यह बहुत मुश्किल नहीं है। मुश्किल है यह बात कि बल की वृद्धि होते हुए भी हम उनके उद्देशों में दूसरी दूसरी बातें शामिल न करें। उसमें अधिक संयम है। दक्षिण अफ्रिका में इस तरह के प्रलोभन के कई अवसर आये। पर मैं निश्चय पूर्वक कह सकता हूँ कि उनमें से एक का भी फायदा नहीं उठाया गया। इसलिए मैं कई बार कह चुका हूँ कि सत्याग्रही का निश्चय तो एक ही हो सकता है। वह न तो कम कर सकता है और न बढ़ा सकता है; न उसमें वृद्धि के लिए अवकाश है और न क्षय के लिए ही। मनुष्य जिस नाप से अपने को नापता है, ठीक उसी नाप से संसार भी उसे नापने को जाता है। जब सरकार ने यह देखा कि सत्याग्रही इतनी सूक्ष्म नीति से काम लेते हैं तब वह भी उसी नीति से उनके कार्यों की आलोचना करने लग गई। हाँ खुद के लिए भले ही वह अपने एक भी काम में उस नीति को न अख्तियार करे। दो-चार बार उसने सत्याग्रहियों के सिर इस नीति के भंग का आरोप मढ़ भी दिया। यह बात तो एक नन्हें से बालक की

समझ मे भी आ सकती है कि काले कानून के बाद यदि भारतीयों के खिलाफ सरकार किसी नवीन कानून की रचना करती तो उसका समावेश लड़ाई के उद्देशों मे अपने आप ही हो जाता। तथापि जब नवीन आने वाले भारतीयों के खिलाफ वह इमिग्रेशन कानून बनाया गया, और उसको लड़ाई के उद्देशों मे शामिल किया गया तब सरकार ने यही आरोप किया कि लड़ाई के हेतु मे एक नई बात शामिल की गई है। पर उसका यह आरोप नितान्त अनुचित था। यदि बाहर से आनेवाले भारतीयों के ऊपर ऐसी कोई नई शर्त लगा दी गई जो पहले नहीं थी, तो उसको युद्ध के उद्देशों मे शामिल कर लेना उचित ही तो था। और इसीलिए सोरावजी वगैरा युद्ध मे शामिल हो सके। पर सरकार इस बात को बरदाश्त नहीं कर सकती थी। किन्तु निष्पक्ष लोगों को इस बात की नीतियुक्तता समझाने में मुझे जरा भी कठिनाई नहीं मालूम हुई।

गोखलेजी के चले जाने बाद फिर एक ऐसा ही प्रसंग उपस्थित हुआ। गोखले तो सोच रहे थे कि तीन पौंड का कर अवश्य ही एक साल के अदर उठा लिया जायगा; और उनके जाने बाद होने वाली दक्षिण अफ्रिका की पार्लमेन्ट में उस कर को उठाने के लिए कानून भी स्वीकृत हो जायगा। पर दर असल हुआ क्या? हुआ यह कि जनरल स्मट्स ने उस पार्लमेन्ट मे यह जाहिर किया कि नैटाल के गोरे उस कर को उठाने के लिए तैयार नहीं हैं। इसलिए सरकार उस कर को रद करने सम्बन्धी कानून को स्वीकार करने मे असमर्थ है। वस्तुत: ऐसी कोई बात ही नहीं थी। युनियन पार्लमेन्ट मे चार रियासतें हैं। उनमे केवल नेटाल के सभ्यों की कहाँ तक चल सकती थी? फिर मन्त्रि-मण्डल कानून बनावे, पार्लमेंट उसको अस्वीकृत करे, तब कहीं वह इस तरह जाहिर कर सकते थे। पर जनरल स्मट्स ने इसमे से एक भी नहीं किया। इसलिए

इस हानिकर कर को भी लड़ाई के उद्देशों मे शामिल कर लेने का शुभ संयोग अनायास हमारे हाथ लग गया। इसके दो कारण थे। एक तो यह कि युद्ध के चलते हुए यदि कोई वचन दे और उसका भंग करे तो वह युद्ध के उद्देश मे शामिल किया जा सकता था। दूसरे, यह कि ऐसे वचन-भंग से गोखले जेसे भारत के सम्मान्य प्रतिनिधि का अपमान हो रहा था, जो दूसरी प्रकार से भारत का अपमान ही था। भला उसे हम कैसे बरदाश्त कर सकते थे ? यदि पहली बात ही होती और इधर सत्याग्रहियों मे उनके लिए जूझने की शक्ति भी न होती तो भले ही कर को रद करने के लिए सत्याग्रह जैसे शस्त्र का उपयोग वे न करते। पर जिस बात से समस्त भारत का अपमान हो रहा हो, उसे तो वे हरगिज़ नहीं सह सकते थे। इस लिए इस तीन पौंड के कर को भी लड़ाई के उद्देशों मे शामिल कर लेना सत्याग्रहियों के लिए एक धर्म हो गया। और ज्यों ही कर को लड़ाई मे शामिल किया गया, त्यों ही गिरमिटियाओं को भी युद्ध मे भाग लेने का मौका मिल गया। पाठकों को याद होगा कि अब तक इन लोगों को युद्ध मे शामिल नही किया गया था। इसलिए एक ओर तो लड़ाई के कारण बढ़ गये, और दूसरी ओर योद्धाओं की संख्या बढ़ने का भी समय आ पहुँचा।

अभी तक गिरमिटियाओं मे किसी प्रकार युद्ध की शिक्षा की बात तो दूर रही, लड़ाई की चर्चा भी नहीं की जाती थी। वे निरक्षर थे। इसलिए न 'इण्डियन ओपिनियन' पढ सकते थे, और न दूसरा कोई समाचार पत्र। इतना होते हुए भी मैं देखता था कि वे गरीब लोग सत्याग्रह का निरीक्षण खूब कर रहे थे और जो कुछ भी हो रहा था उसे समझते थे। उनमे से कितनों ही को तो इस बात का बराबर दर्द हो रहा था, कि वे उस युद्ध मे शामिल नहीं हो सकते थे। जब वचन-भंग हुआ और तीन पौंड का कर

लड़ाई के उद्देशों में शामिल करने की नोटिस दी गई, तब मुझे भी यह पता न था उन लोगों में से कौन-कौन युद्ध में शामिल होंगे।

वचन-भंग वाली बात मैंने गोखलेजी को लिख भेजी। उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्हें मैंने लिख दिया कि आप निर्भय रहें। हम लोग आमरण जूझेंगे और कर को रद्द कराएँगे। हाँ, एक साल के अन्दर मेरे भारत जाने की बात अनिश्चित समय के लिए आगे बढ़ गई। गोखलेजी तो अंकगणित के शास्त्री थे न। उन्होंने मुझ से ज्यादा से ज्यादा और कम से कम लड़ने वालों की संख्याओं के अंक मांगे। मुझे इस समय जहाँ तक स्मरण होता है, मैंने उनको ज्यादा से ज्यादा ६५–६६ और कम से कम १६ लड़ने वालों के नाम लिख भेजे। मैंने उन्हें यह भी लिख दिया था कि इतनी छोटी संख्या के लिए मैं भारत से आर्थिक सहायता की अपेक्षा नहीं रखता। हमारे विषय मे निश्चिन्त रहने और अपने शरीर को अधिक कष्ट न देने के लिए भी मैंने उनसे प्रार्थना की थी। दक्षिण अफ्रिका से बम्बई लौटने पर उन पर कमजोरी के कितने ही आरोप मढ़े गये थे। उनकी खबर भी मुझे समाचार पत्रों द्वारा तथा अन्य रीति से मिल चुकी थी। इसलिए मैं चाहता था कि हमें आर्थिक सहायता भेजने के लिए वह भारत में किसी प्रकार का आन्दोलन न करें। पर मुझे उनका कड़ा उत्तर मिला। "जिस तरह तुम लोग दक्षिण अफ्रिका मे अपना धर्म समझते हो, उसी प्रकार हम भी यहाँ कुछ-कुछ अपना धर्म अवश्य ही समझते होंगे। हमें यहाँ पर क्या करना चाहिए यह आपको बतलाने की आवश्यकता नहीं है। मैं तो केवल वहाँ की परिस्थिति मात्र जानना चाहता था। हमें अपनी तरफ से क्या करना चाहिए। इस विषय में हमने आपसे कोई सलाह नहीं माँगी थी।" इन शब्दों के भेद को मैं समझ गया। उस दिन से मैंने उन्हें इस विषय में

ने तो एक शब्द कहा और न लिखा ही। इसी पत्र मे उन्होंने मुझे आश्वासन और चेतावनी भी दी थी। जब वचन-भंग हुआ तो उन्हें ख्याल हुआ कि अब लड़ाई का अन्त जल्दी न होगा। उन्हें इस बात में भी सन्देह था कि ये मुट्ठीभर लोग सरकार का सामना कैसे और कहाँ तक कर सकेंगे। इधर हमने तैयारियाँ शुरू कर दीं। हम जान गये थे कि अब उसके बाद जो युद्ध छिड़ने को था उसमे हम शांति से तो बैठ ही नहीं सकते थे। हम सब यह भी समझ चुके थे कि अब की बार लम्बी-लम्बी सजायें भोगना होंगी। टॉलस्टॉय फार्म बंद करने का निश्चय हुआ। कितने ही कुटुम्ब अपने पुरुष-वर्ग के छूटते ही अपने अपने घर चले गये। बाकी रहने वालों मे मुख्यत फिनिक्स के ही थे। अत: तय हुआ कि इसके बाद सत्याग्रहियों का अड्डा फिनिक्स ही रहे। फिर यदि तीन पौंड वाली लड़ाई मे गिरमिटिया भी भाग ले तो नेताल मे रह कर उनसे मिलने-जुलने मे अधिक सुविधा होगी। इस खयाल से भी फिनिक्स को सत्याग्रहियों का केन्द्र बनाना तय हुआ।

अभी लड़ाई शुरू करने की तैयारियाँ चल ही रही थीं कि एक नवीन विघ्न आ उपस्थित हुआ, जिसके कारण स्त्रियों को भी युद्ध मे शामिल होने का अवसर मिल गया। कितनी ही बहादुर स्त्रियों ने तो इससे पहले भी युद्ध मे भाग लेने की आज्ञा माँगी थी। उदाहरणार्थ, जब परवाने बिना दिखाये फेरी करके जेल मे जाना तय हुआ, तब कितनी ही फेरी करने वाली स्त्रियों ने भी जेल जाने की इच्छा जाहिर की थी। पर उस समय विदेश मे स्त्रियों को जेल भेजना हम सबको अनुचित मालूम हुआ। जेल मे भेजने लायक वैसा कोई कारण भी नहीं दिखाई दिया। अलावा इसके उस समय उन्हें जेलों में भेजने की मुझे तो हिम्मत भी नहीं हुई। बल्कि उस समय तो मुझे यही मालूम हुआ कि जो कानून पुरुषों

पर अमल करता था उसके लिए स्त्रियों का बलिदान देना पुरुषों के लिए लज्जास्पद होगा। पर अब तो एक ऐसी घटना हुई जिससे स्त्रियों का विशेष अपमान होता था। इसलिए अब यही जान पड़ा कि उस अपमान को दूर करने के लिए स्त्रियों का बलिदान भी दिया जाय तो अनुचित न होगा।

: १५ :

विवाह गैर कानूनी

अब एक ऐसी घटना हुई कि जिसको देखते हुए यह मालूम होने लगा, मानो परमात्मा स्वयं अदृश्य रहते हुए भारतीयों की जीत के लिए कोई सामग्री तैयार कर रहे हों, और मानों दक्षिण अफ्रिका के गोरों के अन्यायों को अधिक स्पष्ट रीति से बता देना चाहते हों। हिन्दुस्तान से कितने ही विवाहित लोग दक्षिण अफ्रिका गये थे। कितनों ही की शादी वहीं हुई थी। भारतवर्ष में यह कानून तो नहीं कि सामान्य विवाहों को भी रजिस्टर किया जाय। धार्मिक क्रिया काफी होती है। यही प्रथा दक्षिण अफ्रिका में भी होनी चाहिए थी, और चालीस वर्ष से इसी तरह भारतीय वहाँ रह भी रहे थे। भारत के भिन्न-भिन्न धर्मों के नियमानुसार जो विवाह होते चले जा रहे थे उनमे से अभीतक एक भी रद नहीं समझा गया था। पर इस समय एक ऐसा मामला अदालत में आया जिसमे न्यायाधीश ने यह फैसला सुनाया कि दक्षिण अफ्रीका के कानून मे, उसी विवाह के लिए स्थान है जो ईसाई धर्म के अनुसार होता है,—अर्थात जो विवाह-अधिकारी के रजिस्टर मे दर्ज कर लिया जाता है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के विवाह के लिए उसमें स्थान नहीं है। इसका परिणाम

यह हुआ कि इस भयकर फैसले के अनुसार सभी विवाह रद क़रार कर दिये गये, और फलतः उस कानून की मन्शा के अनुसार दक्षिण अफ्रिका मे परिणीत कितनी ही भारतीय स्त्रियों का दरजा धर्मपत्नी का न रहा। वे सरासर दाश्तायें गिनी जाने लगीं। और आगे चलकर उनसे उत्पन्न होने वाली प्रजा भी पिता की वारिस नहीं रही। इस स्थिति को न तो स्त्रियाँ सह सकती थीं, और न पुरुष। दक्षिण अफ्रिका मे रहनेवाले भारतीयों में इससे भारी खलबली मच गई। अपने स्वभाव के अनुसार मैंने सरकार से पूछा कि क्या वह न्यायाधीश के फैसले को क़बूल करती है, या उसके बताये कानून के अर्थ को, यद्यपि वह ठीक है, अनर्थ कर समझ कर एक नये कानून द्वारा हिन्दू, मुसलमान, इत्यादि के धार्मिक विवाहों को कानून न मानेगी? पर इस समय सरकार क्यों इन बातों की परवा करने चली? उत्तर नकारात्मक मिला। फिर इस बात का विचार करने के लिए सत्याग्रह-मंडल बैठा कि उस फैसले पर अपील की जाय या नहीं? अंत मे सभी सभ्य इसी निश्चय पर पहुँचे कि ऐसे मामलों मे अपील हो ही नहीं सकती। यदि अपील करना अनिवार्य हो तो सरकार को करनी चाहिए। अथवा यदि सरकार चाहे तो खुले तौर पर भारतीयों का पक्ष ग्रहण करे, तभी भारतीय कुछ कर सकते हैं। इसके बिना अपील करने के मानी तो गोया यह मान लेना है कि फलां तौर पर हिन्दू मुसलमानों का विवाह रद हो जाता है। फिर ऐसी अपील करने पर भी यदि हमारी हार हुई तो सिवा सत्याग्रह के दूसरा चारा ही न रहे। इसलिए ऐसे अपमान पर हम तो अपील कर ही नहीं सकते।

अब तो ऐसा समय उपस्थित हो गया कि शुभ चौघड़िया या शुभ तिथि की राह देखना असंभव था। स्त्रियों का अपमान हो जाने पर कैसे धीरज धारण किया जा सकता था? यह निश्चय किया

कि जितने लोग मिल जावें उन्हींको लेकर सत्याग्रह शुरू कर दिया जाय। अब स्त्रियों को सत्याग्रह में शामिल होने से हम नहीं रोक सकते थे, बल्कि यह निश्चय किया कि युद्ध मे शामिल होने के लिए उन्हें निमन्त्रित भी किया जाय। सबसे पहले तो टॉलस्टॉय फार्म पर रहने वाली बहनों को ही निमन्त्रित किया गया। वे तो स्वयं ही सत्याग्रह मे शामिल होने के लिए तड़प रही थीं। युद्ध मे होने वाली तमाम कठिनाइयों और जोखिमों का चित्र पहले पहल मैंने उनके सामने रक्खा। खान-पान, पोशाक, सोना, बैठना आदि सब बातों मे उन्हें परतंत्रता रहेगी आदि समझाया। जेल मे सख्त मजदूरी करनी होगी, कपड़े धुलाये जावेंगे, अधिकारी लोग अपमान करेंगे, इत्यादि बातों से भी उन्हें सावधान कर दिया। पर वे बहनें तो एक भी बात से नहीं डरीं। सभी बहादुर थीं। उनमें से एक तो गर्भवती थी। कई बहनों की गोद मे नन्हे-नन्हे बच्चे थे। पर उन्होंने भी शामिल होने के लिए आग्रह किया। मैं तो उनमें से एक को भी नहीं रोक सका। सभी बहनें शामिल थीं। उनके नाम नीचे लिखे हैं:—

श्रीमती थम्बी नायडू; २ श्रीमती एन० पिल्ले; ३ श्रीमती के० मुरगेसा पिल्ले; ४ श्रीमती ए० पी० नायडू, ५ श्रीमती पी० के० नायडू; ६ श्रीमती चिन्न स्वामी पिल्ले, ७ श्रीमती एन० एस० पिल्ले; ८ श्रीमती आर० ए० मुदलिंगम्; ९ श्रीमती भवानी दयाल; १० श्रीमती एम० पिल्ले; ११ श्रीमती एम० बी० पिल्ले।

इनमे से छ: बहिनों की गोद मे बालक थे। कोई अपराध करके कैद होना आसान है। पर निर्दोष रहते हुए गिरफ्तार होना कठिन है। अपराधी गिरफ्तार नहीं होना चाहता। इसलिए पुलिस उसके पीछे लगी रहती है। और उसे गिरफ्तार करती है। पर स्वेच्छा-पूर्वक निर्दोष रहते हुए जेल जाने की इच्छा रखने वाले को पुलिस

तब पकड़ती है जब वह मजबूर होजाती है। इन बहनों का पहला प्रयत्न निष्फल हुआ। उन्होंने बिना परवाने की फेरी की, पर पुलिस ने उनको पकड़ने से इनकार किया। उन्होंने फ्रीनियन से ऑरेंजिया की सरहद में बिला इजाजत प्रवेश किया। पर इन्हें कोई गिरफ्तार ही नहीं करता था। अब इनके लिए यह सवाल खड़ा हो गया कि गिरफ्तार किस तरह होवें? ऐसे मर्द भी ज्यादा नहीं थे जो गिरफ्तार होने के लिए तैयार हों, और जो तैयार थे उनके लिए गिरफ्तार होना कठिन था।

अंत में उसी मार्ग का अवलम्बन करने का निश्चय किया जिसका अंत में अवलम्बन करने के लिए सोच रक्खा था। वह तेजस्वी भी साबित हुआ। मैंने सोच रक्खा था कि मेरे साथ फिनिक्स में रहने वालों को सबके बाद, अंत में, जेल भेजना चाहिए। यह मेरे लिए अंतिम त्याग था। फिनिक्स में रहने वाले निकट के साथी और सगे-सम्बन्धी थे। यह सोच रक्खा था कि समाचार-पत्र चलाने के लिए आवश्यक आदमियों को तथा १६ साल से कम उम्र के बालकों को छोड़कर शेष सब को जेल-यात्रा के लिए भेज दिया जाय। इससे अधिक त्याग करने के साधन मेरे पास नहीं थे। गोखले को लिखते समय जिन सोलह आदमियों का जिक्र किया था वे इन्हींमें से थे। मैंने यह निश्चय किया था कि इन लोगों को सरहद नांघ कर ट्रान्सवाल में "बिना परवाने के ले जाकर ट्रान्सवाल में प्रवेश करने" के गुनाह के अनुसार गिरफ्तार करवा दूँ। हमें यह भी डर था कि यदि इन लोगों का नाम-ठाम पहले से ही जाहिर कर दिया जायगा, तो शायद सरकार इन्हें गिरफ्तार भी नहीं करेगी।

इसलिए दो-चार मित्रों को छोड़कर मैंने और किसीसे इस बात का जिक्र तक नहीं किया था। सरहद नांघते समय पुलिस

के अधिकारी अक्सर नाम-ठाम पूछते हैं। हमने यह भी सोचा रक्खा था कि उस समय नाम वगैरा नहीं बताया जाय। अधिकारी को नाम वगैरा न बताना भी एक पृथक अपराध समझा जाता था। यदि नाम वगैरा बता देते तो पुलिस को यह मालूम हो जाता कि वे मेरे सगे-सम्बन्धी हैं, और इसलिए हमें डर था कि शायद वह उन्हें छोड़ भी देती। इसलिए हमने पहले ही से यह निश्चय किया था कि नाम वगैरा न बताया जाय। और इस विधि के अनुसार ट्रान्सवाल की जिन-जिन बहनों को गिरफ्तार होने की इच्छा थी उन्हें नैटाल में हाजिर हो जाना जरूरी था। जिस प्रकार नैटाल से बिना परवाने के ट्रान्सवाल जाना गुनाह समझा जाता था, ठीक उसी तरह ट्रान्सवाल से नैटाल आने वाले का भी वही हाल होता था। इसलिए ट्रान्सवाल से आने वाली बहनें यदि पकड़ी जातीं तो नैटाल में ही पकड़ी जातीं। यदि उन्हें पकड़ा न गया तो यह तय हुआ था कि नैटाल की कोयले की खानों में, जिनका केन्द्र न्यूकेसल था, वे चली जावें और वहाँ के मजदूरों को खानें छोड़ने के लिए समझावें। इन बहिनों की मातृ-भाषा तामिल थी। उन्हें कुछ कुछ हिंदुस्तानी भी याद थी। मजदूर लोग भी प्राय. मदरास इलाके के—तामिल तेलुगु ही थे। दूसरे प्रांत के भी बहुत से थे। यदि मजदूर इन बहनों की बात मान कर मजदूरी छोड़ दें तो मजदूरों के साथ-साथ इन बहनों को भी सरकार गिरफ्तार किये बिना कैसे रह सकती थी? अतएव मजदूर में भी खूब उत्साह फैलने की पूरी सम्भावना थी। इस तरह सभी बातें ट्रान्सवाल की बहनों को समझा दी गई थीं।

इसके बाद मैं फिनिक्स पहुँचा। वहाँ सबके साथ बैठ कर बात-चीत की। पहले-पहल तो फिनिक्स में रहने वाली बहनों से इस विषय में बात-चीत कर लेना था। मैं जानता था कि बहनों

को जेल में भेजना एक भयंकर बात है। फिनिक्स में रहने वाली अधिकांश बहनें गुजराती थीं। इसलिए उन्हें उन ट्रांसवाल वाली बहनों के समान मुस्तैद और अनुभवी नहीं कह सकते थे। फिर उनमें से कितनी ही तो मेरी रिश्तेदार ही थीं। इसलिए केवल मेरे लिहाज से शायद वे जेल जाना मंजूर कर लें और यदि ऐन वक्त पर घबड़ा कर अथवा जेल में जाने बाद कष्टों से अकुला कर माफी वगैरा माँग लें तो मुझे कितना आघात पहुँचेगा? लड़ाई एक-दम शिथिल हो जायगी; इत्यादि सभी बातों पर विचार कर लेना जरूरी था। यह तो मैंने निश्चय ही कर लिया था कि अपनी पत्नी को तो मैं कभी नहीं ललचाऊँगा। एक तो वह लल-चाने पर ना कही नहीं सकती थी। और यदि हाँ भर भी लेती तो मुझे यह निश्चय नहीं था कि उस 'हाँ' को कितना महत्व दिया जाय। ऐसे जोखिम के समय स्त्री अपने-आप जो काम करे उसी को मंजूर कर लेना श्रेयस्कर है। यदि वह कुछ न करे तो पति को बुरा भी नहीं मानना चाहिए। यह सब मैं जानता था। इसलिए मैंने यह निश्चय कर लिया था कि अपनी पत्नी के साथ इस विषय में कोई बात तक न करूँ। अन्य बहनों के साथ मैंने बात-चीत की। उन्होंने ट्रांसवाल की बहन की तरह फौरन बीड़ा उठा लिया और सब जेल-यात्रा करने को तैयार होगईं। उन्होंने मुझे यह भी विश्वास दिलाया कि हर प्रकार के कष्ट झेल करके भी वे जेल-यात्रा पूरी करेंगी। इन सब बातों का सार मेरी पत्नी भी जान गई और उसने मुझ से कहा—"मुझे दुःख होता है कि आप मुझ से इस विषय में कोई बात-चीत क्यों नहीं करते? मुझ में ऐसी कौन खामी है, जो मैं जेल न जा सकूंगी? मुझे भी वही मार्ग लेना है जिसके लिए आप इन बहनों को सलाह दे रहे हैं।" मैंने कहा "तेरे चित्त को दुःखी तो मैं कैसे

कर सकता हूँ ? न इसमे अविश्वास की ही कोई बात है। मैं तो तेरे उत्तर से भी खुश हूँ। पर मुझे इस बात का आभास तक पसंद नहीं कि मेरे कहने पर तू जेल गई है। ऐसे काम सब को अपनी अपनी हिम्मत पर ही करना चाहिए। मैं यदि तुम से कहूँ, और यदि तू मेरी आज्ञा का पालन करने के लिए स्वभावतः जेल चली भी जाय, किंतु अदालत में खड़ी रहते समय तेरे हाथ-पाँव काँपें, तू हार जाय, या जेल के कष्टों को तू बरदाश्त न कर सके तो इस मे मैं तुमको दोष तो न दूंगा, पर मेरी हालत क्या होगी ? मैं फिर तुझे किस तरह अपने पास रक्खूं, और संसार में किस तरह मैं ऊँचा सिर करके खड़ा रह सकूंगा ? इसी भयसे मैंने तुझे अब तक कुछ नहीं कहा था।" मुझे उत्तर मिला:—"यदि मैं हार कर छूट जाऊँ तो आप मेरा स्वीकार न कीजिएगा। आप यह कल्पना भी किस तरह कर सकते हैं कि मेरे बच्चे उन कष्टों को सह सकते हैं, आप सब उन्हें बरदाश्त कर सकते हैं और अकेली मे ही उन्हें नहीं सह सकूंगी ? मुझे तो आपको इस युद्ध में शामिल करना ही होगा।" मैंने उत्तर दिया "तब तो हमें तुझे शामिल करना ही पड़ेगा। मेरी शर्तें तो तू जानती ही है। मेरा स्वभाव भी जानती है। अब भी विचार करना हो तो करले। यदि पूरी तरह विचार कर लेने पर तुझे मालूम हो कि युद्ध मे शामिल नहीं होना चाहिए, तो तुझे छुट्टी है। पहले ही से निश्चय बदलने मे कोई शर्म की बात नहीं है।" उत्तर मिला "मुझे कुछ भी सोचना-बिचारना नहीं है। मैं अपने निश्चय पर दृढ़ हूँ।" फिनिक्स में अन्य निवासी भी थे, उन्हें भी मैंने इस प्रश्न पर स्वतंत्र रीति से विचार करने केलिए कहा। युद्धका अंत शीघ्र हो या देरी से, फिनिक्स बना रहे या उसका नाम भी मिट जाय, जाने वाले भले चंगे रहें या बीमार हो जावें, पर किसी को पीछे न हटना

चाहिए"। इत्यादि शर्तें मैंने सबको वार वार ठोक-पीटकर समझा दीं। सब तैयार हो गये। फिनिक्स के वाहर वालों में केवल रुस्तमजी जीवनजी घोरखोदु थे। उनसे मैं ये सब बातें छिपा नहीं सकता था, और न वे पीछे रह सकते थे। जेल तो उन्हें जाना ही था, पर वे चाहते थे कि वाद में जावें। इस टुकड़ी के नाम नीचे लिखे हैं —

(१) सौ० कस्तूर मोहनदास गांधी, (२) सौ० जयाकुंवर मणिलाल डाक्टर; (३) सौ० काशी छगनलाल गांधी; (४) सौ० संतोक मगनलाल गांधी; (५) श्री० पारसी रुस्तमजी जीवणजी घोरखोदु, (६) छगनलाल खुशालचन्द गांधी, (७) श्री० रावजी भाई मणिलाल पटेल; (८) श्री० मगनभाई हरिभाई पटेल; (९) श्री० सोलोमन रॉयन; (१०) भाई रामदास मोहनदास गांधी; (११) भाई राजू गोविन्दु; (१२) भाई शिवपूजन बद्री, (१३) भाई गोविन्द राजुलु; (१४) श्री कुप्पु स्वामी मुदालियार, (१५) भाई गोकल दास हंसराज, (१६) भाई रेवाशंकर रतनशी सोढ़ा।

आगेके हाल सोलहवें अध्याय में।

: १६ :

स्त्रियां क़ैद में

यह टुकडी सरहद को लांघकर बिना परवाने के ट्रान्सवाल में प्रवेश करने के अपराध मे जेल की सैर करने वाली थी। पिछले अध्याय के अंत मे दिये हुए नामोंको पढने पर पाठक देखेंगे कि इस में से कितने ही नाम ऐसे हैं जिनके मालूम होजाने पर यह आशंका थी कि पुलिस शायद उन्हें न भी पकडती। मेरे विषय मे यही हुआ था। दो-एक बार पकड़ लेने पर फिर सरहद लांघते समय पुलिस ने मुझे पकडना ही छोड दिया। इस टुकड़ी के निकलने की खबर किसी को नहीं भेजी गई थी, फिर समाचारपत्रों को तो कहां से मालूम हो ? उन्हें यह भी समझा दिया गया था कि वे पुलिस को अपना नाम-ठाम भी नहीं बतावें। कह दें कि नाम अदालत में बतला दिये जावेंगे।

ऐसे कई मामले पुलिस के पास आते थे। गिरफ्तारी के आदी हो जाने पर भारतीय तो कई बार पुलिस को केवल मधुरता पूर्वक सताने के लिए नाम वगैरा बताने से इनकार कर दिया करते थे। इसलिये इस समय भी पुलिस को कोई विचित्रता नहीं मालूम हुई। इस टुकडी को पुलिस ने पकड़ लिया। अदालत में मामला पेश हुआ और सबको तीन-तीन महीने की सख्त क़ैद की सजा मिली।

जो बहनें ट्रान्सवाल में गिरफ्तार न हो सकीं, वे निराश हो कर अब नैटाल में आईं। बिना परवाने के प्रवेश करने के अपराध में पुलिस ने उन्हें गिरफ्तार नहीं किया। यह तो पहले ही निश्चित हो चुका था कि यदि पुलिस उन्हें गिरफ्तार न करे, तो उन्हें सीधे न्यू कॅसल चले जाना चाहिए, और वहा की कोयले की खानों में काम करने वाले मजदूरों से अपना काम छोडने के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। न्यू कॅसल नैटाल की कोयलों की खानों का केन्द्र है। इन खानों में खासकर भारतीय मजदूर ही थे। बहनों ने अपना काम शुरू कर दिया। इसका परिणाम बिजली का सा हुआ। तीन पौंड के कर की बात कहकर उन पर असर डाला गया। मजदूरों ने अपना काम छोड दिया। मुझे इसका तार मिला। मैं खुश हुआ, पर साथ ही उतना ही घबड़ाया भी। सवाल यह था कि मुझे क्या करना चाहिए? मैं इस अद्भुत जागृति के लिए तैयार न था। मेरे पास पैसे नहीं थे, और न थे इतने आदमी कि जो इतने बड़े काम को अच्छी तरह संभाल लें। तथापि मैं अपने कर्तव्य को जानता था। सोचा, मुझे पहले न्यू कॅसल जाना चाहिए और वहाँ जो कुछ भी बन पड़े वही करना चाहिए। मैं निकला।

उन बहादुर बहनों को भला अब सरकार कैसे छोड सकती थी? वे गिरफ्तार कर ली गईं, और पहली टुकड़ी में जाकर शामिल होगईं। उन्हें भी वही सजा दी गई, और उन्हीं के साथ साथ रक्खा गया। अब तो दक्षिण अफ्रिका के तमाम भारतीयों की नींद टूटी, और वे खडबड़ा कर जाग उठे, मानो उनमें नवीन चैतन्य ने प्रवेश किया। परन्तु स्त्रियों के बलिदान ने तो भारत को भी जगा दिया। सर फिरोजशाह मेहता आज तक तटस्थ थे। सन् १९०१ में उन्होंने मुझे उलहना देकर समझाया था कि मुझे दक्षिण आफ्रिका नहीं जाना चाहिए। उनका अभिप्राय मैं पहले ही

लिख चुका हूँ। सत्याग्रह के युद्ध का भी उन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा था। पर स्त्रियों की क़ैद का तो उनपर भी जादू का-सा प्रभाव पड़ा। स्वयं उन्होंने अपने टाऊनहाल वाले भाषण में कहा था कि "स्त्रियों की कैद ने उनकी शांति को भंग कर दिया"। अब भारतवर्ष चुप-चाप नहीं बैठा रह सकता था।

स्त्रियों की बहादुरी का वर्णन कहाँ तक किया जाय! सबको नैटाल की राजधानी मॉरिट्मबर्ग में ही रक्खा गया। यहाँ उन्हें कष्ट भी खूब दिया गया। उनके खान-पान की जरा भी चिंता नहीं की जाती थी। मजदूरी के स्थानपर उनको धोबी का काम दिया गया। बाहर से खाना मँगाने की सख्त मनाई थी, जो आख़िर तक कायम रही। एक बहन का व्रत था कि वह एक ख़ास तरह का भोजन ही कर सकती थी। बड़ी मुश्किल से उसे वही खुराक देने का प्रस्ताव मंजूर किया गया। पर चीज ऐसी मिलती कि उसे खाया ही नहीं जा सकता था। ओलिव ऑइल की विशेष आवश्यकता थी। पर पहले तो वह दिया ही नहीं गया। और जब मिला तो पुराना और खराब। जब क़ैदियों ने प्रार्थना की कि हमारे ख़र्च से ही खाना मँगवा दिया जाय, तो उस पर उत्तर मिला "यह होटल नहीं है जो मिलेगा वही खाना पड़ेगा"। वह बहन जब जेल से बाहर निकली तब उसके शरीर में केवल हड्डियाँ रह गई थीं। बड़ी मुश्किल से वह कहीं बची।

एक दूसरी बहन भयंकर बुखार लेकर बाहर निकली, जिसने थोड़े ही दिन बाद उसे परमात्मा के घर पहुँचा दिया। उसे मैं कैसे भूल सकता हूँ? वालियामा अट्ठारह वर्ष की बालिका थी। मैं उसके पास गया तब वह बिस्तर से उठ भी नहीं सकती थी। क़द ऊँचा था। उसका लकड़ी के जैसा शरीर डरावना मालूम होता था।

मैंने पूछा—"वालियामा, जेल जाने पर पश्चात्ताप तो नहीं है?"

"पश्चात्ताप क्यों हो! अगर मुझे फिर गिरफ्तार करें तो मैं पुनः इसी क्षण जेल जाने को तैयार हूँ।"

"पर इस में यदि मौत आ जाय तो?"

"भले ही आवे न! देश के लिए मरना किसे न अच्छा लगेगा?" इस बात चीत के कुछ दिन बाद वालियामा की मृत्यु हो गई। देह चला गया, पर वह बाला तो अपना नाम अमर कर गई। इसकी मृत्यु पर शोक प्रकट करने के लिए स्थान-स्थान पर शोक सभायें हुई, और कौम ने इस पवित्र देवी का स्मारक बनाने के लिए एक 'वालियामा हॉल' नामक भवन बनवाने का निश्चय किया। पर कौम ने इस हॉल को बनवा कर अपने धर्म का पालन अभी तक नहीं किया! उसमें कई विघ्न उपस्थित हो गये। कौम में फूट हो गई। मुख्य कार्य-कर्ता एक के बाद एक वहाँ से चले गये। पर वह ईंट-पत्थर का स्मारक बने, या न भी बने, वालियामा की सेवा का नाश नहीं हो सकता। इस सेवा का हॉल तो उसने स्वयं अपने हाथों से बना रक्खा है। आज भी उसकी वह मूर्ति कितने ही हृदयों में विराज रही है। जहाँ तक भारतवर्ष का नाम रहेगा वहाँ तक दक्षिण अफ्रिका के इतिहास मे वालियामा का नाम भी अमर रहेगा।

इन बहनों का बलिदान विशुद्ध था। वे बेचारी कानून की बारीकियों को नहीं जानती थीं। उनमे से कितनी ही को देश का खयाल तक नहीं था। उनका देश-प्रेम तो केवल श्रद्धा ही पर निर्भर था। उनमे से कितनी ही निरक्षर थीं। अर्थात समाचार-पत्र तक नहीं पढ़ सकती थीं। पर वे जानती थीं कि कौम के मान-वस्त्र का हरण हो रहा है। उनका जेल जाना उनका आर्त्तनाद था, शुद्ध यज्ञ था। ऐसी शुद्ध हार्दिक प्रार्थना ही को प्रभु सुनते हैं। यज्ञ की शुद्धि ही मे उसकी सफलता है। प्रभु तो भावना के

भूखे हैं। भक्ति पूर्वक अर्थात निस्वार्थ बुद्धि से अर्पित की हुई फूल-पत्ती या पानी भी परमात्मा को प्रिय है। उसका सप्रेम स्वीकार कर वे उससे करोड़ों गुना फल देते हैं। सुदामा के मुट्ठी भर चावल के बदले में उनकी वर्षों की भूक भाग गई। अनेकों के जेल जाने से कोई फल न निकले, पर एक शुद्ध आत्मा का भक्ति-पूर्वक समर्पण किसी समय निष्फल नहीं हो सकता। कौन कह सकता है कि दक्षिण अफ्रिका में किसका-किसका यज्ञ सफल हुआ? पर इतना तो हम जरूर जानते हैं कि वालियामा का बलिदान तो अवश्य ही सफल हुआ? बहनों का यज्ञ तो जरूर ही सफल हुआ।

स्वदेश-यज्ञ में, जगत्-यज्ञ में असंख्य आत्माओं का बलिदान दिया गया है, दिया जारहा है और दिया जायगा। यही ठीक भी है। क्योंकि कोई नहीं जानता कि पूर्णरूपेण शुद्ध कौन है। पर सत्याग्रही इतना तो जरूर जानते हैं कि उनमें से यदि एक भी शुद्ध होगा तो उस का यज्ञ फलोत्पत्ति के लिए काफी है। पृथ्वी सत्य के बल पर टिकी हुई है। 'असत्'—'असत्य' के मानी हैं 'नहीं'-'सत्'-'सत्य' अर्थात "है" जहाँ असत् अर्थात् अस्तित्व ही नहीं है, उसकी सफलता कैसे हो सकती है? और जो सत्-अर्थात् 'है' उसका नाश कौन कर सकता है। बस इसी में सत्याग्रह का समस्त शास्त्र समाविष्ट है।

: १७ :

मज़दूरों की धारा

बहनों के इस त्याग का मजदूरों पर बड़ा अद्भुत प्रभाव पड़ा। न्यू कॅसल के नजदीक की खानों के मजदूरों ने अपने हथियार फेंक दिये। उनका प्रवाह शुरू हुआ। समाचार मिलते ही फिनिक्स छोड़ कर मैं न्यू कॅसल पहुंचा।

ऐसे मजदूरों का अपना घर नहीं होता। मालिक ही उनके लिए घर बनाते हैं, मालिक ही उनके मार्गों को दीया-बत्ती से प्रकाशित रखते हैं, वे ही उन्हें पानी भी देते हैं। अर्थात् मजदूर हर तरह से पराधीन रहते हैं। और तुलसीदासजी ने तो कही दिया है कि

'पराधीन सपने हुँ सुख नाहीं'

ये हड़ताल वाले मजदूर मेरे पास कई प्रकार की शिकायतें ले कर आने लगे। कोई कहता 'खानों के मालिकों ने रास्ते पर की बत्तियों को उठा लिया है'। कोई कहता, उन्होंने पानी बन्द कर दिया है। कई कहते, 'वे हड़ताल वालों का असबाब कमरों में से बाहर फेंक रहे हैं।' एक पठान ने मुझे अपनी पीठ दिखाते हुए कहा, "यह देखिए, मुझे कैसे मारा है, सिर्फ आपके खातिर मैंने उस बदमाश को छोड़ दिया है, क्योंकि यही आपका हुक्म है। नहीं तो मैं पठान हूँ, और पठान कभी मार नहीं खाता, स्वयं

मारता है।" मैंने उत्तर दिया, "भाई तुमने बहुत अच्छा काम किया, इसको मैं सच्ची बहादुरी कहता हूँ; तुम जैसे लोगों के बल पर ही हम जीतेंगे।"

मैंने इस तरह उसे मुबारिकबादी तो दी, पर दिल मे सोचा, यदि यही हाल अनेक का हुआ तो हड़ताल कैसे चलेगी ? मार की बात छोड़ दी जाय, तो फरियाद फिर और किस बात की करें ? खानों के मालिक यदि हड़ताल करने वालों के लिए पानी, बत्ती इत्यादि सुविधायें न भी रहने दें, तो इसमे फरियाद के लिए कहाँ स्थान रह जाता है ? जो हो, आखिर लोग इस स्थिति मे कब तक रह सकते हैं ? मुझे अवश्य ही कोई-न-कोई उपाय सोच लेना चाहिए। क्योंकि लोग लाचार होकर फिर अपने अपने काम पर लौट जावें इस की बनिस्बत तो ठीक यही होगा कि वे अभी से अपनी हार कुबूल कर लें और काम पर लौट जावें। पर लोग मेरे मुंह से यह सलाह कभी नहीं सुनेंगे। मार्ग केवल एक ही बचा। उन्हें मालिकों के दिये हुए कमरे छोड़ देना चाहिए। अर्थात 'हिजरत' कर देनी चाहिए।

मजदूर पांच-पचीस नहीं, सैकड़ों थे। सैकड़ों से हजारों होने मे भी देर नहीं थी। इनके लिए मैं मकान कहां से लाऊँ? उनके खाने-पीने का क्या प्रबंध करूं ? भारतवर्ष से तो पैसे माँगना ही नहीं था। वहाँ होने वाली पैसों की वर्षा को अभी जरा देर थी। इधर दक्षिण अफ्रीका के भारतीय व्यापारी इतने डर गये थे कि जाहिरा तौर पर वे मेरी कोई सहायता करने के लिए तैयार नहीं थे। उनका व्यापार तो खान के मालिकों और दूसरे गोरों के साथ भी था इसलिए खुल्लम खुल्ला वे मुझसे कैसे मिल सकते थे ? मैं जब-कभी न्यूकैसल जाता तब उन्हीं के वहा ठहरता था। पर इस बार दूसरी जगह पर उतरनेका निश्चय करके स्वयं मैंने हो उनका मार्ग सरलकर दि...

पहले मैं यह बतला चुका हूँ कि ट्रान्सवालसे जो बहनें आई थीं, वे द्राविड प्रान्त की थीं। वे एक द्राविड कुटुम्ब के यहाँ ठहरी थीं जो ईसाई था। यह कुटुम्ब मंझोले दर्जे का था। उसके एक छोटासा जमीन का टुकडा और दो तीन कमरे वाला एक छोटा-सा मकान था। इन्हीं के यहाँ ठहरने का मैंने भी निश्चय किया। मालिक मकान का नाम लॅझरस था। गरीब को किसका डर हो सकता है? ये सब मूलत. गिरमिटिया माता-पिता की प्रजा थे, इसलिए उनको और उनके सम्बन्धियों को भी तीन पौंड वाला कर देना पडता था। गिरमिटियाओं के दुःखों से तो वे पूरी तरह परिचित थे। इसलिए उनके साथ उनकी सहानुभूति होना भी स्वाभाविक ही था। इस कुटुम्ब ने मेरा सहर्ष स्वागत किया। मेरा स्वागत करना मित्रों के लिए आसान काम तो कभी रहा ही नहीं है; परन्तु इस बार तो वह और भी मुश्किल था। मेरा स्वागत करना मानों प्रत्यक्ष दरिद्रता, निर्धनता का स्वागत करना और शायद जेलको भी निमन्त्रण देना था। इस स्थिति में शायद ही कोई धनिक व्यापारी अपने को इस खतरे में डालने के लिए तैयार होता, और अपनी तथा उनकी परिस्थिति को इस तरह समझ लेने पर भी उन्हें ऐसी विकट परिस्थिति में डालना मेरे लिए सर्वथा अनुचित था। बेचारे लॅझरस को थोड़ासा वेतन ही खोने का डर था, और वह उसे बरदाश्त भी कर सकता था। उसे कोई कैद करना चाहे तो भले ही करे, पर अपने से भी गरीब गिरमिटियाओं के दुःखों को कैसे चुपचाप सह सकता था? उसने अपने यहां इन गिरमिटियाओं की सहायता के लिए आई हुई बहनों को अपनी आँखों जेल में जाते देखा था। उसे मालूम हुआ कि उनके प्रति उसका भी कुछ कर्तव्य है, इसीलिए उसने मेरा भी स्वीकार किया है। स्वीकार किया पर अपना सर्वस्व भी अर्पित कर दिया। क्योंकि उसके यहां

मेरे जाने के बाद उसका घर एक धर्मशाला बन गया। सैकड़ों आदमी और हर तरह के आदमी आते जाते थे। उसके मकान के आस-पास की जमीन आदमियों से खचाखच भर गई। चौबीसों घंटे उसके मकान पर रसोई होती रहती थी, जिसमे उसकी धर्मपत्नी ने तनतोड़ मिहनत की। और इतने पर भी जब कभी देखिए, तब वे दोनों हँसमुख ही नजर आते थे। उनकी मुखाकृति में मैंने अप्रसन्नता नहीं देखी।

पर लॅफरस भला कहीं सैकड़ों मजदूरों को खिला सकता था? मजदूरों को मैंने समझा दिया कि उन्हे इस हड़ताल को हमेशा टिकने वाली हड़ताल समझ कर अपने अपने मालिक के झोपड़ों को भी हमेशा के लिए छोड़ देना चाहिए। उनके पास जो चीजें बेचने लायक हों उन्हें बेच दिया जाय। बाकी असबाब को वे अपनी खोलियों मे भर कर रख दें। मालिक उसे हाथ नहीं लगावेगा। शायद अधिक दुश्मनी ठानने के लिए यदि वह उसे फेंक भी दे तो उन्हें यह बरदाश्त कर लेना चाहिए। मेरे पास वे अपने पहनने के कपड़ों और ओढ़ने के कम्बलों के सिवा और कुछ नहीं लायें। जहा तक हड़ताल टिकेगी और जबतक वे जेल से बाहर रहेंगे तब तक उन्हीं के साथ रहने और उन्हीं के साथ साथ खाने पीने का अपना निश्चय भी मैंने उन्हे सुना दिया। इन शर्तों पर यदि वे खानों से बाहर निकलते हों, तभी और केवल तभी, वे टिक सकेंगे और उनकी जीत भी हो सकेगी। ऐसा करने की जिसे मैं हिम्मत न हो वह भले ही अपनी नौकरी पर लौट जाय। और इस तरह जो लौट जावे, उसका कोई तिरस्कार भी न करे, और न कोई उसे सतावे! मुझे ऐसा एक भी उदाहरण याद नहीं जिसमें इन बातों का किसीने इनकार किया हो। मैंने उन्हें यह कहा उसी दिन से हिजरत करने वाले घर-त्यागियों की कतारें आने लगीं।

सभी अपने अपने बीबी-बच्चों को लेकर अपने सिर पर गठड़ियां रख कर आने लगे। मेरे सामने तो केवल ठहरने भर के लिये जमीन थी। सौभाग्यवश इन दिनों न तो कोई जाड़ा था और न बारिश ही थी।

मेरा विश्वास था कि खाने-पीने की व्यवस्था के विषय में व्यापारी वर्ग पीछे क़दम नहीं हटावेगा। न्यू कॅसल के व्यापारियों ने दाल और चावल के बोरिये और खाना पकाने के लिए बर्तन भी भेज दिए। अन्य गावों से भी दाल, चावल सब्जी, मसाले वगैरा की वर्षा होने लगी। मैं सोचता था उससे कहीं अधिक ये चीजें मेरे पास आने लग गई। जेल जाने के लिए भले ही सब तैयार नहों पर सहानुभूति तो सभी रख सकते थे? सभी अपनी अपनी शक्ति के अनुसार सहायता देने के लिए तैयार थे। जिन की हालत कुछ देने दिलाने लायक नहीं थी उन्होंने शारीरिक मिह-नत द्वारा कौम के इस यज्ञ मे सहायता की। इन अपढ़-अजान मनुष्यों को संभालने के लिए समझदार-होशियार स्वयंसेवकों की आवश्यकता थी। वे भी मिलते गये, और उन्होंने अमूल्य सहायता की। उनमें से अधिकाश तो गिरफ्तार भी कर लिए गये। इस तरह सभी ने यथाशक्ति सहायता की, जिससे हमारा मार्ग सरल होगया।

मनुष्यों की संख्या बढ़ने लगी। इतने बड़े और प्रति क्षण बढ़ने वाले जनसमुदाय को एक ही स्थान पर बिना किसी उद्योग के रख छोड़ना यद्यपि अशक्य नहीं तो भयानक तो जरूर ही था। मलोत्सर्ग वगैरा की उनकी आदतें तो अच्छी होती ही नहीं। इस समुदाय में कितने ही ऐसे थे जो जुर्म करके जेल हो आये थे। कई तो खून के अपराधी भी थे। कई चोरी करने के अप-राध में जेलयात्रा करके छूट कर आये हुए थे। हड़ताल करने वाले

मज़दूरों का मैं नीति के अनुसार विभाग तो हरगिज़ नहीं कर सकता था। भेद करना भी चाहूँ तो सभी मुझे अपना भेद थोड़े ही बताने वाले थे। स्वयं मैं ही काज़ी बन बैठूं तो मुझे तो विवेक-हीन बनना पड़े। मेरा कार्य तो केवल हड़ताल का संचालन करना मात्र था। इसमें अन्य सुधारों को शामिल करने के लिए कोई अव-काश नहीं था। हाँ, छावनी में नीति की रक्षा करना ज़रूर मेरा काम था। वहाँ आने वाले लोग पहले कैसे थे, इसकी तलाश करना मेरा काम नहीं था। इतना बड़ा समुदाय एक ही जगह बैठा रहे तो ज़रूर ही कुछ-न-कुछ ख़ुराफ़ात खड़ी होती रहे। और वास्तव में चमत्कार तो यही था कि इतने दिन शांति से कैसे बीत गये? वे सब इस कदर शांतिपूर्वक रहे, मानो वे अपना आपद्धर्म समझ गये हों।

मुझे उपाय सूझा! इन को भी उन १६ मनुष्यों की तरह ट्रान्स-वाल ले जाकर जेल में बैठा दूं। पहले-पहल यह विचार हुआ कि इन की छोटी-छोटी टुकड़ियां बना लूं और फिर एक एक टुकड़ी को सरहद लाँघने के लिए भेजूँ। पर फौरन ही मैंने इस विचार को पलट लिया। इससे बहुतसा समय नष्ट होने की सम्भावना थी। दूसरे, एक सामुदायिक कार्य का जो असर होता है वह एक-एक टुकड़ी भेजने से नहीं हो सकता।

मेरे पास लगभग पांच हज़ार मनुष्य इकट्ठा हुए होंगे। उन सब को ट्रेन से नहीं ले जा सकता था। इतने रुपये भी मैं कहां से लाता? फिर इससे लोगों की परीक्षा भी नहीं हो सकती थी। न्यू कॅसल से ट्रान्सवाल की सरहद ३६ मील थी। नैटाल का सर-हदी गांव चार्लस् टाऊन था, और ट्रान्सवाल का वॉकसरेस्ट। अंत में पैदल ही सफ़र करने का निश्चय किया। मज़दूरों के साथ भी सलाह की। उनमें स्त्रियां, बच्चे, वगैरा भी थे। कितने ही टाल

मटूल कर गये। हृदय को कठोर करने के सिवा मेरे पास और कोई उपाय ही नहीं था। मैंने उन्हें कह दिया कि जो वापस खानों पर जाना चाहते हों वे जा सकते हैं। पर लौट जाने को कोई तैयार नहीं थे। जो पंगु थे उन्हें ट्रेन से भेजने का निश्चय हुआ। शेष सब चार्लस् टाऊन तक पैदल चलने को तैयार हो गये। रास्ता दो दिन में तय करना था। इससे तो सभी प्रसन्न हो गये। लोगों ने सोचा कि बेचारे लॅफ़रस कुटुम्ब को भी कुछ विश्रान्ति मिलेगी। इधर न्यू कॅसल के गोरों को हैजे का भय था। इसलिए वे जो कुछ इन्तज़ाम करने वाले थे उससे वह मुक्त हो गये, और हम भी तो उनके उस इन्तज़ाम के भय से मुक्त होगये।

कूच की तैयारी कर ही रहे थे कि खान के मालिकों का निमन्त्रण आया। मैं डरबन पहुँचा। पर अब यह किस्सा अगले प्रकरण में।

: १८ :

खानों के मालिकों से बात-चीत और उसके बाद

खानों के मालिकों के निमन्त्रण के अनुसार मैं उनके पास डरबन गया। मैंने समझा कि मालिकों पर कुछ प्रभाव पड़ रहा है। पर मुझे यह विश्वास नहीं था कि इस मुलाकात से कोई नतीजा निकलेगा। पर सत्याग्रही तो असीम नम्र होता है। समझौते का एक भी अवसर वह अपने हाथों से नहीं खोता। इससे यदि कोई उसे भीरु भी कहे तो वह उसकी परवा नहीं करता। जिसके हृदय में विश्वास है, और विश्वास से पैदा होने वाला बल है, वह दूसरों द्वारा की गई अपनी अवगणना पर अफसोस नहीं करता। वह तो अपने आंतरिक बल पर ही निर्भर रहता है। इस तरह सबके साथ नम्रता पूर्वक रह कर वह तो संसार की सहानुभूति प्राप्त कर लेता है और उसे अपने काम की तरफ आकर्षित कर लेता है।

इसलिए मालिकों का निमन्त्रण मुझे स्वागत करने योग्य मालूम हुआ। मैं उनके पास पहुँचा। मैंने देखा कि वायुमण्डल सक्षुब्ध है। मामले को मुझसे समझ लेने के बदले उनके प्रतिनिधि ने उलटे मुझी को जांचना शुरू किया। उसके प्रश्नों के मैंने यथोचित उत्तर दिये। और उनसे कहा "यह हड़ताल बंद करना आपके हाथों में है।"

"हम कहीं अधिकारी तो हैं नहीं" उनकी तरफ से कहा गया।

मैं–"आप अधिकारी न होते हुए भी बहुत कुछ कर सकते हैं। आप मजदूरों का पक्ष लेकर झगड़ सकते हैं। मैं इस बातको नहीं मानता कि यदि आप सरकार से तीन पौंड के कर को रद करने के लिए कहें तो वह आप की बात को स्वीकार नहीं करेगी। आप दूसरों को अपने अनुकूल बना सकते हैं।"

"पर सरकार द्वारा मंजूर किये गये कर के साथ हड़ताल का क्या सम्बन्ध है? मालिक यदि मजदूरों को कष्ट दे रहे हों तो आप क़ानून के अनुसार उनसे दरख्वास्त करें।"

सिवा हड़ताल के मुझे और कोई ऐसा उपाय नहीं दिखाई देता, तीन पौंडवाला कर भी तो मालिकों की खातिर ही मजदूरों पर लादा गया है। मालिक मजदूरों की मजदूरी तो चाहते हैं, पर उनकी स्वतन्त्रता नहीं चाहते। इसलिए इस कर को दूर करने के लिए मैंने यह जो हड़ताल रूपी शस्त्र उठाया है, इस में मुझे जरा भी अनीति अर्थात् मालिकों के प्रति अन्याय नहीं दिखाई देता।"

"तो फिर आप मजदूरों को काम पर लौट जाने के लिए नहीं कहेंगे?"

"मैं लाचार हूँ।"

"इसके परिणाम का भी आप को खयाल है?"

" सावधान हूँ। अपनी जिम्मेदारी का मुझे पूरा खयाल है।

"ठीक तो है, इसमें आपकी क्या हानि है? पर इन भोले-भाले मजदूरों की जो हानि होगी, क्या इसकी भरपाई आप कर देंगे।"

"मजदूरों ने समझ-बूझ कर और हानि-लाभ का पूरा हिसाब लगा लेने पर ही यह हड़ताल शुरू की है। आत्म-सम्मान की हानि से किसी हानिको मैं बड़ी नहीं समझ सकता, और मुझे संतोष है कि मजदूर भी इस बात को समझ गये हैं"

इस तरह की बात-चीत हुई। संभाषण की प्रत्येक बात इस

समय तक मुझे याद नहीं रह सकती। जो खास-खास बातें मुझे याद रहगईं, वे मैंने संक्षेप में ऊपर कह दी हैं। यह तो मुझे मालूम होगया कि मालिकों को अपना केस कमजोर मालूम होने लग गया, क्योंकि सरकार के साथ तो उनकी बात-चीत चल ही रही थी।

जाते और लौटते समय मैंने देखा कि ट्रेन के गार्ड वगैरा पर इस हड़ताल का और जनता की शान्ति का बड़ा ही अच्छा प्रभाव पड़ा था। मैं तो तीसरे दर्जे में ही सफर करता था। पर वहाँ भी गार्ड वगैरा अधिकारी लोग मुझे घेर कर चिंता के साथ सब हकीकत पूछ लेते और विजय की इच्छा जाहिर करते। अनेक प्रकार की छोटी-मोटी सुविधायें मेरे लिए कर देते, पर मैं उनके साथ अपने सम्बन्ध को हमेशा निर्मल रखता। एक भी सुविधा के लिए मैं उन्हें किसी प्रकार का प्रलोभन नहीं दिखाता। अपनी इच्छा से वे जो विनय दिखाते वही मुझे पसंद था। विनयको खरीदने का प्रयत्न तो मैंने कभी किया ही नहीं। गरीब, अपढ़, अज्ञानी मजदूरों को इस तरह शांत रहते हुए देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य मालूम हुआ। और यह ठीक भी था। दृढ़ता और बहादुरी ऐसे गुण हैं कि जिन का प्रभाव विरोधियों पर भी बिना पड़े नहीं रहता।

मैं पुनः न्यू कॅसल पहुँचा। लोगों का प्रभाव तो उसी तरह बढ़ा जा रहा था। सब बातें उन्हें खोल खोल कर समझा दी गईं। यह भी पुनः कह दिया कि यदि वे लौट जाना चाहते हों तो लौट सकते हैं। मालिकों की धौंस की बात भी कही। भावी विपत्तियों का भी चित्र खींच कर बता दिया और चेता दिया कि लड़ाई कब समाप्त होगी इसका कोई ठिकाना नहीं। जेल के दुःख समझाये, सब कुछ समझाया, पर वे अपने निश्चय से नहीं हटे। "आप जब तक लड़ने के लिए तैयार हैं, तब तक हम भी अपना कदम पीछे नहीं

हटावेंगे, हमें कष्टों का पूरा ख़याल है, हमारी चिंता न कीजिएगा" इस तरह का निर्भय उत्तर मुझे मिला।

अब तो सिर्फ आगे कूच करना रहा। एक दिन सुबह जल्दी उठ कर कूच करने के लिए मैंने उन्हें कह दिया। राह पर चलते हुए जिन नियमों को पालन करना चाहिए वे भी समझा दिये। पाचः छ हजार के समुदाय को समझा कर रखना कोई मामूली बात नहीं थी। उनकी गिनती तो मेरे पास थी ही नहीं, और न थे नाम-ठाम। जो रहे सो रहे, और गये सो गये। यही हिसाब-किताब था। प्रत्येक आदमी को २॥ पाव रोटी और २॥ रुपये भर शक्कर के सिवा अधिक खुराक देने की गुंजाइश भी नहीं थी। इस के अतिरिक्त यह कह रक्खा था कि यदि राह में भारतीय व्यापारी कुछ देंगे तो ले लूँगा, पर उन्हें रोटी और शक्कर पर ही संतुष्ट रहना चाहिए। बोअर-युद्ध और उसके बाद हबशियों के युद्ध में मुझे जो अनुभव प्राप्त हुआ था उसने इस समय खूब काम दिया। आवश्यकता से अधिक कपड़े न रक्खे जायँ यह तो शर्त ही थी। रास्ते में किसी की चीज़ को हाथ न लगाया जाय। अधिकारी लोग या अंगरेज रास्ते में मिलें, गालियाँ दें, और पीटें भी तो सब बरदाश्त कर लिया जाय। यदि क़ैद करें तो चुपचाप अपने आप को सौंप दिया जाय। यदि मैं पकड़ा जाऊं तो भी लोग उसी तरह कूच करते हुए चले जाएँ, रास्ते में कहीं न रुकें, इत्यादि सब बातें समझा दी गई थीं। यह भी समझा दिया गया था कि मेरी अनुपस्थिति में क्रमशः कौन-कौन मेरा स्थान ले, और काम शुरू रक्खे।

लोग समझ गये। समुदाय सहीसलामत चार्लसटाऊन जा पहुँचा। चार्लस-टाऊन में व्यापारियों ने खूब सहायता की। अपने मकान ठहरने के लिए खोल दिये। मस्जिद के अहाते में रसोई

पकाने के लिए सुविधा कर दी। कूच के लिए जो खुराक दी जाती थी उनका उपयोग स्थायी मुकाम पर तो हो ही नहीं सकता था। इसलिए खाना पकाने के लिए बरतनों की भी आवश्यकता हुई। यह सब उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक दिया। चावल वगैरा तो मेरे पास पहले ही से बहुत इकट्ठा हो गये थे। पर फिर भी व्यापारियों ने अपनी तरफ से और दे दिये।

चार्ल्सटाऊन एक छोटासा गाव था। इस समय उसकी जन-संख्या मुश्किल से चार पांच हजार होगी। उसमें इतने मनुष्यों का समावेश होना कठिन था। बच्चों और स्त्रियों को ही मकानों के अंदर रक्खा। कितनों ही को तो मैदान में भी ठहरा दिया गया था।

यहां की कितनी ही स्मृतियां तो मधुर हैं, और कितनी ही कड़वी भी। मधुर स्मरण सब से पहले चार्लसटाऊन के आरोग्य-विभाग और उसके अधिकारियों से सम्बन्ध रखते हैं। जन-संख्या को इतनी बढ़ी हुई देख कर वे घबड़ा गये। पर उन्होंने पहले ही से कड़क उपायों का अवलम्बन नहीं किया। सब से पहले वे मुझ से आकर मिले, स्वच्छता तथा आरोग्य विषयक कितनी ही सूचनायें करके उन्होंने मुझे सहायता करने का अभिवचन भी दिया। यूरोप के लोग तीन बातों में जितने साव-धान रहते हैं, उतने हम नहीं रहते। उन्होंने कहा कि स्वच्छता, तथा रास्ते और पाखनों की स्वछता, का मुझे विशेष खयाल रखना चाहिए। जहां तहां लोग पानी नहीं डालने पावें पेशाब का भी एक निश्चित स्थान हो। कूड़ा-कचरा भी लोग हर-कहीं न डालने पावें, उसका भी एक निश्चित स्थान हो। जहां वे बतावें, वहीं मैं लोगों को रक्खूं और वहां की स्वच्छता के लिए मैं जिम्मेदार रहूँ। यह सब मैंने उनके प्रति अपनी एहसानमन्दी जाहिर करते हुए कबूल कर

लिया, और मुझे पूरी शांति हुई।

हमारे मनुष्यों के द्वारा इन नियमों का पालन कराना महा कठिन है। पर उन लोगों ने और मेरे साथियों ने मेरे लिए इस काम को आसान कर दिया। मेरा यह हमेशा का अनुभव है कि सेवक हुक्म न करे' बल्कि सेवा ही करे तो बहुत कुछ काम हो सकता है। सेवक यदि अपने शरीर को जरा भी कष्ट देगा तो दूसरे लोग भी ऐसा ही करने लग जावेंगे। इस बात का पूरा अनुभव मुझे उस छावनी में प्राप्त हुआ। मैं और मेरे साथी झाड़ना-बुहारना, मैला उठाकर फेंकना आदि काम करते हुए जरा भी नहीं हिचकते थे। इसलिए दूसरे लोग उसी काम को खुशी खुशी करने लग जाते थे। यदि हम ऐसा न करते तो आखिर हुकूमत किस पर करते? सभी सरदार बन कर दूसरों पर हुकूमत करने लगते तो कुछ भी काम न होता। पर जब स्वयं सरदार ही सेवक बन जाता है तब तो दूसरे लोग सरदारी का दावा किस तरह कर सकते हैं?

साथियों में से कैलनबेक आ पहुंचे थे। मिस श्लेशीन भी हाजिर हो गई थीं। इस महिला की मिहनत, चिंता-शीलता और प्रामाणिकता की जितनी तारीफ की जाय थोड़ी ही है। भारतीयों में तो सिर्फ स्वर्गीय पी. के. नायडू और क्रिस्टॉफर के नाम ही इस समय याद आरहे हैं। और भाई भी थे, जिन्होंने खूब मिहनत कर के सहायता की थी।

भोजन में भात और दाल दी जाती थी। सब्जी भी खू मिल जाती थी। पर उसे अलग पकाने के लिए एक तो बर्तन नहं थे, दूसरे उतना समय भी तो चाहिए। चौबीसों घंटे खाना पकत रहता। क्योंकि भूखे-प्यासे आदमी आते ही रहते थे। न्यू कॅसल में किसी के ठहरने की जरूरत ही नहीं थी। रास्ता सभी क

मालूम था। इस लिए हरेक आदमी खान से निकलते ही सीधा चार्ल्सटाउन आ पहुंचता।

जब मैं मनुष्य के धीरज और सहनशीलता पर विचार करता हूं, तब मेरे सामने परमात्मा की महिमा खड़ी हो जाती है। खाना पकाने वालों में मुखिया मैं था। कभी दाल में पानी ज्यादह हो जाता, तो कभी वह गलती ही नहीं थी। कभी साग कच्ची रहती तो कभी भात बिगड़ जाता। मैंने संसार में ऐसे बहुत लोग नहीं देखे जो हंसते-हंसते ऐसा भोजन कर लेते हैं। इसके विपरीत दक्षिण अफ्रीका की जेल में मैंने यह अनुभव भी प्राप्त कर लिया है कि जरा ही थोड़ा, देर से, या कच्चा खाना मिलने पर अच्छे अच्छे शिक्षित समझे जाने वालों का भी मिजाज बिगड़ जाता था।

खाना पकाने के बनिस्बत परोसने का काम अधिक कठिन था। वह तो मेरे अधीन ही रह सकता था। कच्चे पक्के भोजन का हिसाब तो मुझ को ही देना पड़ता। कभी-कभी आदमी बढ़ जाते तब स्वभावतः सामग्री कम हो जाती। तो ऐसे मौकों पर भोजन थोड़ा थोड़ा बांटकर मुझी को लोगों को समझाना पडता था। कम भोजन मिलने पर बहनें मेरी ओर उलहने की नजर से देखने लगतीं, और मेरा हेतु समझते ही हंसती हुई चल देतीं। वह दृश्य मैं अपने जीवन में कभी नहीं भूल सकता। मैं कह देता "मैं तो लाचार हूं। मेरे पास पकाया हुआ अन्न तो थोड़ा है, और लेने वाले बढ़ गये। इस लिए अब मुझे इसी तरह देना चाहिए, जिस से थोड़ा-थोड़ा सभी को पहुंच जाय" यह सुनते ही वे 'संतोषम्' कह कर रवाना हो जातीं।

ये तो सब हुए मधुर संस्मरण। कुछ कडवी स्मृतियां भी थीं। आदमी जरा भी निकम्मा रहा कि झगड़े-बखेड़े, और इससे भी खराब—व्यभिचार—के उद्योग करने लग जाता है। स्त्री-पुरुषों को

तो एक साथ ही रखना पड़ता। समुदाय भी थोड़ा न था। व्यभिचारी को लज्जा कहां से हो? पर ऐसे उदाहरणों में मैं जल्दी जा पहुंचता और वे शर्मिंदा हो जाते। फिर ऐसे लोगों को अलग भी रखता। पर उन उदाहरणों की कौन गिनती लगा सकता है जो मेरी अनजान में गुजर चुके होंगे। किन्तु इस वस्तु का अधिक वर्णन करना व्यर्थ है। मैंने तो केवल यह बतलाने के लिए इन बातों का जिक्र किया है कि यह सब काम इतना आसान नहीं था। साथ ही इस से यह भी जाहिर होता है कि इतना करने पर भी कोई उद्धतता पूर्वक मुझ से पेश नहीं आता था। नीति-अनीति का भेद न जानने वाले निरे जंगली जैसे लोग भी अच्छे वायुमण्डल में आते ही कितनी अच्छी तरह बरतने लग जाते हैं यह मैंने ऐसे कई मौकों पर देखा है। और यही जान लेना अधिक आवश्यक और फायदेमन्द है।

: १६ :

ट्रान्सवाल में प्रवेश

इस समय हम १६१३ के नवम्बर महीने के आरम्भ मे हैं। कूच करने से पहले की दो घटनाओं का उल्लेख कर देना जरूरी है। न्यू कॅसल मे द्राविड बहनों को जेल जाते देख कर बाई फ़ातमा महेताव से न रहा गया। वह भी अपनी मा और सात वर्ष के बच्चे को लेकर जेल जाने के लिए निकल पड़ी। मा-बेटी तो गिरफ्तार हो गईं, पर सरकार ने बच्चे को अंदर लेने से साफ इन्कार कर दिया। पुलिस ने बाई फ़ातमा की उगलियों की छाप लेने की खूब कोशिश की। पर वे निडर रहीं। और आखीर तक उन्होंने पुलिस को अपनी उंगलियों की छाप नहीं दी।

इस समय हड़ताल पूरे जोर मे थी। पुरुषों की तरह उसमें स्त्रियां भी शामिल होती जा रही थीं। उनमे दो मातायें अपने बच्चों को साथ मे लिये हुए थीं। एक बच्चे को कूच मे जाड़ा हो गया और वह मृत्यु की गोद में जा सोया। दूसरी का बालक एक नाला पार करते हुए गोद मे से पानी में गिर कर डूब गया। पर माता निराश नहीं हुई। दोनों ने अपनी कूच को उसी प्रकार शुरू रक्खा। एक ने कहा:—"हम मरे हुओं का शोक करके क्या करेंगी? इससे वे कहीं लौट कर थोडे ही आ सकते हैं। हमारा धर्म

तो है जीवितों की सेवा करना।" उस शांत वीरता के, ऐसी असीम आस्तिकता के, और अगाध ज्ञान के कई उदाहरण मैंने उन गरीबों मे देखे।

इसी दृढता पूर्वक चार्ल्सटाउन मे स्त्री-पुरुष अपने कठिन धर्म का पालन कर रहे थे। पर हम चार्ल्सटाउन मे कहीं शांति के लिए नहीं आये थे। जिसे शांति की जरूरत हो, भीतर से प्राप्त कर ले; बाहर तो जहाँ देखिए—यदि देखना याद हो—तहाँ बड़े-बड़े अक्षरों मे यही लिखा हुआ नजर आता है कि "यहाँ शांति नहीं मिल सकती। पर इसी अशांति के बीच मीराबाई जैसी भक्त अपने मुंह को विष का प्याला लगाते हुए हँसती है। इसी अशांति के बीच अपनी अंधेरी खोली मे बैठकर सुकरात हाथ में हलाहल का कटोरा लेकर अपने मित्र को गूढ़ ज्ञान का उपदेश करता है, और कहता है जिसे शांति की आवश्यकता हो वह अपने हृदय मे उसे ढूंढ ले।

उस अलौकिक शांति के बीच सत्याग्रहियों का वह मस्ताना दल पड़ाव डालकर पड़ा हुआ था। इस बात की उसे कोई चिंता तक नहीं थी कि कल सुबह क्या होगा। मैंने तो सरकार को लिख दिया था कि हम ट्रान्सवाल में निवास करने के हेतु से प्रवेश करना नहीं चाहते। हमारा प्रवेश तो वह सक्रिय पुकार है जो हम सरकार के वचन-भंग के उत्तर मे उठाना चाहते हैं। हमारा प्रवेश तो उस दुःख का शुद्ध चिन्ह है, जो हमारे आत्म-सम्मान की हानि से हमारे हृदय में होरहा है। यदि आप हमें यहीं चार्ल्सटाउन में ही गिरफ्तार कर लेंगे तो हम निश्चिन्त हो जावेंगे। यदि ऐसा आप न करेंगे और हम मे से कोई चुपचाप शांति पूर्वक ट्रान्सवाल में प्रवेश करलेंगे तो इसके लिए हम जवाबदेह नहीं हैं। हमारे युद्ध में छिपाने योग्य कुछ नहीं है। इसमे किसी का व्यक्तिगत स्वार्थ भी

नहीं है। यदि कोई दब छिप कर भी प्रवेश करेगा तो हमें वह प्रिय न होगा पर जहाँ हज़ारों आदमियों से काम लेना है, जहाँ प्रेम के सिवा अन्य कोई बंधन नहीं है, वहां हम किसी के कार्य के लिए ज़िम्मेदार नहीं हो सकते। साथ ही आप इतना भी जान लें कि यदि तीन पौंड वाला कर आप उठालेंगे तो तमाम गिरमिटिया पुनः अपने काम पर लौट आवेंगे और हड़ताल समाप्त हो जायगी भारतीयों के अन्य दुःखों को दूर करने के लिए हम उन्हें अपने सत्याग्रह में शामिल नहीं करेंगे।

इस पत्र के कारण भी स्थिति बड़ी अनिश्चित हो गई थी। इसका कोई ठिकाना न था कि सरकार हमे कब गिरफ्तार कर लेगी। पर ऐसी हालत में सरकार के उत्तर की प्रतीक्षा दिनों तक नहीं की जा सकती थी। एक या दो डाक की राह देखी जा सकती थी। इसलिए हमने निश्चय कर लिया कि यदि सरकार यहीं हमें गिरफ्तार न करे तो फौरन ट्रान्सवाल मे प्रवेश कर दिया जाय। यदि रास्ते मे भी वह हमें कहीं न पकडे तो समुदाय आठ दिन तक प्रति दिन २० से लेकर २४ मील तक का सफर करता रहे। आठ दिन में टॉल्सटॉय फार्म पर पहुंचने की योजना थी। यह भी विचार लिया था कि बाद मे युद्ध की समाप्ति तक वहीं पर सब रहें और काम करके अपनी आजीवका पैदा करें। मि० कैलनबेक ने सभी व्यवस्था कर रक्खी थी। इन्हीं लोगों के द्वारा वहां मिट्टी के मकान बनवा लेने का निश्चय कर लिया गया था। तब तक छोटे छोटे-डेरे लगा कर दुबले-पतले आदमियों को उन में रखने का विचार था। हट्टे-कट्टे स्त्री-पुरुष तो बाहर भी पड़े रह सकते थे। कठिनाई सिर्फ यही थी कि बारिश का मौसम शुरू होने को था, इस लिए वर्षा ऋतु मे तो सब को आसरा होना जरूरी ही था। पर मि० कैलनबैक को विश्वास था कि तब यह

सब हो जायगा ।

समुदाय की कूच की अन्य तैयारियां भी करली गईं । चार्ल्सटाउन के डाक्टर सज्जन पुरुष थे । उन्होंने ऐसी दवाओं की एक छोटीसी संदूक मुझे दे दी थी, जो रास्ते मे उपयोगी हो सकती थी । अपने कई शस्त्र भी दे दिये थे जिनसे मेरे जैसा आदमी भी काम ले सके । यह सन्दूक स्वय हमीं उठाकर ले जाते थे । क्योंकि दल के साथ कोई सवारी वगैरा तो रखनी ही नहीं थी । इससे पाठक जान सकते हैं कि उसमें दवाइया कितनी कम थीं । इतनी भी नहीं थीं कि वे एक साथ सौ आदमियों को काम दे दें । इस का कारण तो यही था कि प्रति दिन शाम को हमें किसी छोटे गाव के नजदीक अपना पड़ाव डालना पड़ता था । इसलिए कोई औषधि समाप्त होते ही फौरन नयी ले ली जा सकती थी । दूसरे, हम अपने साथ में एक भी मरीज या पंगु आदमी को नहीं रखते थे । उसे तो राह मे ही छोड़ते चले जाते थे ।

खाने के लिए सिवा रोटी और शक्कर के और क्या मिल सकता था । पर उस रोटी को भी तो आठ दिन तक हम कैसे रख सकते थे । मिले उसे तो प्रति दिन लोगों को बांटना पड़ता था । इसका उपाय तो केवल यही हो सकता था कि हर मंज़िल पर हमे कोई रोटियां भेज दिया करें । पर यह करे कौन ? भारतीय बबर्ची तो थे ही नहीं । फिर प्रत्येक गाव मे इस तरह के डबल रोटी बनाने वाले भी नहीं होते । देहात मे शहरों से रोटिया जाती हैं । यदि बबर्ची रोटी बराबर तैयार कर दिया करे और रेल वाले ठीक समय उसे पहुंचा दिया करें तभी तो यह मिल सकती थी । चार्ल्सटाउन की अपेक्षा वाकसरेस्ट (ट्रान्सवाल का सरहदी गांव, जो चार्ल्सटाउन से नजदीक था) एक बड़ा गांव था । वहां बेकर की एक बड़ी दूकान थी । उसने प्रसन्नता पूर्वक हमें रोटियाँ पहुँचा

ने का काम अपने जिम्मे ले लिया। हमारी कठिनाई को देखकर बाजार भाव से अधिक पैसे लेने की कोशिश भी उसने नहीं की। रोटियां भी अच्छे आटे की देता रहा। रेलवे पर वह समय पर रोटी भेज देता और रेलवाले भी—ये भी तो गोरे ही थे—प्रामाणिकता पूर्वक हमारे पास पहुंचा देते। इतना ही नहीं बल्कि इस काम मे वे विशेष सतर्क भी रहते थे। उन्होंने हमारे लिए कितनी ही सुविधायें भी कर दीं। वे जानते थे कि किसी से हमारी दुश्मनी नहीं थी, और न किसी को कोई हानि पहुचाने का हमारा उद्देश्य था। हमें तो दुःख सहकर भी अपने अन्याय की पुकार उठानी थी। इसलिए हमारे आसपास का वायुमण्डल भी इसी तरह शुद्ध हो गया और हो रहा था। मनुष्य-जाति का प्रेम-भाव प्रगट हुआ। सब ने यही अनुभव किया कि हम सब ईसाई, पारसी, मुसलमान, हिन्दू, यहूदी इत्यादि भाई-भाई ही हैं।

इस तरह कूच की तैयारी होते ही मैंने फिर समझौते की कोशिश की। पत्र, तार वगैरा तो भेज ही चुका था। यह तो मैं जानता था कि मेरा अपमान तो वे करें हीगे, पर मैंने यही निश्चय किया कि अपमान करें भो तो भले ही करते रहें, मुझे एक बार कम-से कम टेलीफोन से तो बातचीत कर ही लेनी चाहिए। चार्ल्सटाउन और प्रिटोरिया के बीच टेलीफोन था। जनरल स्मट्स को मैंने टेलिफोन किया। उनके सेक्रेटरी से कहा, जनरल स्मटस से कहिए कि "कूच करने की तमाम तैयारियां मैंने कर ली हैं। वॉक्सरेस्ट के लोग उत्तेजित हो गये हैं। संभव है, वे हमारी जान को भी हानि पहुंचायें। कम-से-कम ऐसा करने की धमकी तो उन्होंने हमें अवश्य ही दी है। शायद यह तो जनरल स्मट्स भी नहीं चाहते होंगे। यदि वे तीन पौंड का कर उठा लेने का वचन दे सकते हों तो मैं कूच नहीं करूंगा। महज कानून का भंग करने

ही पर हम तुले हुए नहीं हैं। मैं इस समय लाचार हूँ। क्या इस समय वे मेरी इतनी-सी बात को नहीं सुनेंगे ?" आधी मिनिट में उत्तर मिला "जनरल स्मटस आपके साथ कोई सम्बन्ध रखना नहीं चाहते।" आप का जी चाहे सो करिए।" टेलिफोन बन्द।

पर यह अकल्पित बात नहीं थी। हां, मैंने इस रूखेपन का आशा जरूर नहीं की थी। क्योंकि सत्याग्रह के बाद मेरा उनका कोई छः वर्ष का राजनैतिक सम्बन्ध हो गया था। इस लिए मैं शिष्टता-पूर्ण उत्तरकी उम्मीद कर रहा था। पर उनकी शिष्टता से मैं फूलके कुप्पा तो नहीं हो जाता। उसी प्रकार न इस अशिष्टता से मैं जरा भी शिथिल हुआ। मेरे कर्तव्य की सरल रेखा मेरी आखों के सामने स्पष्टतया दीख पडती थी। दूसरे दिन निश्चित समय पर हमने प्रार्थना की और परमात्मा के नाम पर कूच भी कर दी। उस वक्त मेरे साथ २०२७ पुरुष, १२७ स्त्रियाँ और ५७ बच्चे थे।

:२०:

ट्रान्सवाल में प्रवेश (चालू)

इस प्रकार वह यात्रियों का समुदाय, काफिला या संघ, जो चाहे कहिए, निश्चित समय पर चल पड़ा। चार्ल्सटाउन से एक मील की दूरी पर वाक्सरेस्ट का नुगदा था। इसको पार करते ही मनुष्य वॉकसरेस्ट अथवा ट्रान्सवाल मे पहुंच जाता है। इस नुगदे के उस पार घुड़सवार पुलिस खड़ी थी। सब से पहले मैं उसके पास गया। लोगों को समझा दिया गया था कि जब मैं उधर से इशारा करूं तो वे फौरन नुगदे को पार कर जायं। पर अभी मैं पुलिस से बातचीत कर ही रहा था, लोग तो आगे घुस कर नुगदे को पार कर चले आये। घुड़सवार उनके सामने हो गये। पर वह समुदाय इस तरह रुकने वाला नहीं था। पुलिस हमें पकड़ना तो चाहती ही नहीं थी। मैंने लोगों को शांत किया, और उन्हें समझाया कि वे एक क़तार में हो कर चलें। पांच, सात मिनिट मे सभी शांत हो गये और अब ट्रान्सवाल मे कूच करना आरम्भ किया।

वॉक्सरेस्ट के लोगों ने दो दिन पहले ही सभा की थी, उस में अनेक प्रकार का डर बताया गया था। कितनों ही ने तो यह कहा था कि यदि भारतीय ट्रान्सवाल मे प्रवेश करेंगे तो हम उन पर

गोलियाँ चला देंगे। इस सभा मे मि० कैलनबेक गोरों को समझाने के लिए गये थे। पर उनकी बात कोई सुनना ही नहीं चाहता था। कई तो उन्हे मारने के लिए उठ खड़े हो गये। मि० कैलनबेक स्वयं कसरती जवान हैं। सैंडो से उन्होंने कसरत सीखी थी। उनको यों डराना मुश्किल था। एक गोरे ने उन्हे द्वंद्व युद्ध के लिए आह्वान किया। कैलनबेक ने कहा "मैंने शांति धर्म को स्वीकार किया है। इसलिए आपकी इच्छा की पूर्ति करने में मैं असमर्थ हूँ। पर मुझ पर जिसे प्रहार करना हो, वह सुखपूर्वक करे, मैं तो इस सभा मे बोलता ही रहूँगा। आपने इसमे सभी गोरों को निमन्त्रित किया है। मैं आपको यह सुनाने के लिए आया हू कि आपकी तरह सभी गोरे निर्दोष मनुष्यों को मारने के लिए तैयार नहीं है। एक ऐसा गोरा है, जो आपसे कह देना चाहता है कि आप भारतीयों पर जिन बातों का आरोप करते हैं, वे असत्य है। आप जो सोच रहे हैं वह भारतीय नहीं चाहते। उन्हे न तो आपके राज्य की आवश्यकता है और न वे आप के साथ लड़ना चाहते हैं। वे तो शुद्ध न्याय के लिए पुकार उठा रहे हैं। ट्रान्सवाल में हमेशा रहने के हेतु से वे प्रवेश नहीं कर रहे हैं, बल्कि उन पर जो अन्यायपूर्ण कर लादा गया है उसके खिलाफ सक्रिय पुकार उठाने के उद्देश से वे यह कर रहे हैं। वे बहादुर हैं, हुल्लड़बाज नहीं। वे आपके साथ लड़ेंगे नहीं, पर यदि आप उनपर गोलियां चलावेंगे तो उनको सहकर भी वे इसी तरह आगे बढते जावेंगे आपकी बंदूकों या बल्लम के डर से वे पीछे पैर नहीं हटावेंगे। वे तो स्वयं दु:ख सह कर आपके हृदय को पिघला देने वाले लोग हैं बस यही कहने के लिए मैं यहाँ आया हूँ। यह कह कर मैंने तो आपकी सेवा ही की है। आप सावधान हो जाइए और अन्याय से बचिए" इतना कह कर मि० कैलनबेक शांत हो गये। गोरे कुछ

शरमा गये। वह द्वंद्व युद्ध करने वाला कसरती जवान तो अब उनका मित्र हो गया।

पर उपर्युक्त सभा की खबर हमें मिल चुकी थी। इसलिए ऐसे मौके के लिए भी हम तैयार थे। इतनी पुलिस को बुलाकर खड़ी कर रखने से चाहे यह मतलब भी हो सकता था कि गोरों को उपद्रव करने से रोका जाय। जो हो, हमारा जुलूस तो शांति पूर्वक जा रहा था। मुझे तो याद है कि किसी गोरे ने जरासी खुरापात तक नहीं की। सभी इस नवीन आश्चर्य को देखने के लिए बाहर निकल पड़े थे। उनमें से कितनों ही की आँखों मे मित्रता झलकती थी।

हमारा पहले दिन का मुकाम ऐसे एक स्टेशन पर था जो वहां से आठ मील के फासले पर था। शाम के छः-सात बजे हम वहाँ पहुँच गये। रोटी और शक्कर खा कर सभी लोग खुली हवा मे लेटे हुए थे। कोई भजन गा रहा था, तो कोई बातचीत कर रहा था। राह मे कितनी ही स्त्रियाँ थक गई थीं। अपने बच्चों को गोद मे ले कर चलने की हिम्मत तो उन्होंने की थी, पर अब आगे चलना उनकी शक्ति से बाहर की बात थी। इसलिए अपनी चेतावनी के अनुसार मैंने उन्हें एक भारतीय सज्जन की दूकान पर छोड़ दिया, और उन्हें कह दिया कि यदि हम टॉल्स्टॉय फार्म पर पहुँच जांय तो वे उन्हें वहाँ भेज दें और गिरफ्तार हो जायँ, तो उनके अपने घरपर वापिस भेज दें। उन भारतीय व्यापारी सज्जन ने इस प्रार्थना को मान लिया।

जैसे जैसे रात होती गई वैसे वैसे शान्ति बढ़ती गई। मैं भी सोने की तैयारी कर रहा था कि इतने मे कहीं से खड़खड़ाहट सुनाई दी। लालटेन हाथ में लिए हुए गोरों को आते हुए मैंने देखा। मैं चेता। मुझे कोई तैयारी तो करना ही नहीं थी। पुलिस अधिकारी ने कहा:—

"मेरे पास आपके नाम का वारण्ट है। आपको मुझे क़ैद करना है।"

मैंने पूछा—"कब ?"

उत्तर मिला—"अभी।"

"मुझे कहाँ ले जाइयेगा ?"

"अभी तो इस नज़दीक वाले स्टेशन पर, और गाड़ी मिलते ही वॉकसरेस्ट।"

मैंने कहा "तब तो मैं किसी को बिना जगाये ही आपके साथ हो लेता हूँ" पर मेरे साथी को कुछ समझा बुझा दूँ ?

"शौक से।"

पास ही सोये हुए पी० के० नायडू को मैंने जगाया। उन्हें मेरी गिरफ्तारी की बात कही, और समझा दिया कि वे लोगों को सुबह होने से पहले न जगावें। प्रातःकाल होते ही नियमानुसार सूर्योदय के पहले कूच कर दें। जहाँ विश्रान्ति लेने और रोटी बांटने का समय हो वहीं वे मेरी गिरफ्तारी की खबर उन्हें सुना दे, दरमियान जो जो पूछें उनसे कहते जावें। यदि सरकार दल को गिरफ्तार करना चाहे तो वह गिरफ्तार हो जावे। यदि नहीं पकड़े तो नियमित रूप से कूच करता हुआ चला जाय। नायडू को किसी प्रकार का भय तो था नहीं, उन्हें यह भी समझा दिया था कि यदि वे स्वयं गिरफ्तार हो जावें तो उन्हें क्या करना चाहिए।

वॉक्सरेस्ट में मि० कैलनबेक भी तो थे।

मैं पुलिस के साथ साथ हो लिया। प्रातःकाल हुआ। वॉक्सरेस्ट की ट्रेन में बैठे। वॉक्सरेस्ट में मामला चला। मामला मुल्तवी रखने की माँग पब्लिक प्रासिक्यूटर ने ही पेश की, क्योंकि उनके पास कोई सबूत ही तैयार नहीं था। मामला मुलतवी रहा। मैंने जामीन पर छूटने के लिए दरख्वास्त पेश की। कारण यह

लिखा "मेरे साथ २००० पुरुषों और १२७ औरतें और बच्चों का दल है। मामले की अगली तारीख तक मैं उनको निश्चित-स्थान पर पहुँचा कर फिर हाजिर हो सकता हूँ" वगैरा। सरकारी वकील ने जामीन का विरोध किया। पर मजिस्ट्रेट बेचारे लाचार थे। मुझ पर जो आरोप रक्खा गया था, वह तो ऐसा नहीं था जिसमें जामीन पर छोड़ना भी मजिस्ट्रेट की इच्छा पर छोड़ा गया हो। इसलिए ५० पौंड का मुचलका ले कर मुझे छोड़ दिया गया। मि० कैलनबेक ने मेरे लिए मोटर तो तैयार ही रक्खी थी। उसमें सवार होते ही फौरन उन्होंने मुझे अपने लोगों में लाकर छोड़ दिया। ट्रान्सवाल के समाचार-पत्र का एक प्रतिनिधि भी हमारे साथ साथ आना चाहता था उसे भी बैठा लिया। इस मोटर की सफर का, मामले का, और लोगों के साथ पुनः सम्मीलन का सुन्दर वर्णन उसने प्रकाशित किया था। लोगों ने मेरा बड़ा स्वागत किया। उनका उत्साह खूब बढ़ गया। मि० कैलनबेक वैसे ही वॉक्सरेस्ट लौट गए। चार्ल्स टाउन में पिछड़े हुए लोगों को तथा नवीन था आने वालों को संभालने का काम उनके जिम्मे।

हम पुनः आगे बढ़े पर मुझे छोड़कर सरकार कैसे चैन पा सकती थी? इसलिए दूसरे दिन फिर दूसरी बार उसने स्टेण्डरटन में मुझे पकड़ा। वैसे तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो यह गाँव जरा बड़ा है। बड़ी विचित्र रीति से मुझे यहाँ पकड़ा गया। मैं लोगों को रोटी बांट रहा था। यहां के दूकान-दारों ने हमें मुरब्बे के डिब्बे भेंट में दिये थे। इसलिए उसके बांटने के काम में ज्यादह समय लग रहा था। मजिस्ट्रेट मेरे पास आ कर खड़ा हो गया। बांटने का काम पूरा होते ही उसने मुझे एक तरफ बुलाया। मैं उसे जानता था, इसलिए सोचा कि शायद वह कोई बात कहना चाहता होगा। किन्तु उसने तो हँस कर मुझ से कहा—

"आप मेरे कैदी हैं"।

मैंने कहा "तब तो मेरा दरजा बढ़ गया। पुलिस के बदले अब स्वयं मजिस्ट्रेट का गिरफ्तार करने के लिए आना पड़ा। पर मुझ पर मामला तो अभी चलाइएगा न?"

उसने कहा "मेरे साथ ही चलिये। अदालत चल रहा है" लोगों से मुसाफरी शुरू रखने का कह कर मैं रवाना हुआ। कोर्ट में पहुँचा तो वहाँ मैंने अपने साथियों को भी गिरफ्तार पाया। पी० के० नायडू, बिहारीलाल महाराज, रामनारायणसिंह, रघुनारसु और रहीमखाँ ऐसे पाँच आदमी थे।

फौरन मुझे कोर्ट में खड़ा किया गया। मैंने अपने छूटने के लिए उन्हीं कारणों को पेश किया जो वाकसरेस्ट में पेश किये थे। यहाँ भी सरकारी वकील ने विरोध किया। और यहाँ भी मजिस्ट्रेट ने छोड़ना मंजूर किया। व्यापारी लोगों ने मेरे लिए इक्का तैयार ही रक्खा था। हमारा दल तीन मील भी नहीं जा पाया था कि फिर मैं उनमें जा मिला। इस बार तो उन्होंने और मैंने भी सोचा था कि अब तो फिर टाल्स्टॉय फार्म पर ही पुनः भेंट होगी। पर यह धारणा गलत साबित हुई। लोग मेरी गिरफ्तारी के आदी हो गये। और यह बात बड़ी महत्वपूर्ण थी। मेरे साथी तो जेल में ही रहे।

: २१ :

सभी कैद

अब हम जोहान्सबर्ग के काफी नजदीक आ गये थे। पाठकों को स्मरण रहे कि पूरा मार्ग सात दिन मे तय करने का निश्चय किया था। अब तक हम अपने निश्चयानुसार प्रतिदिन मार्ग तय करते हुए आ रहे थे। अब पूरी चार मंजिले और रह गई थीं। किन्तु ज्यों ज्यों हमारा उत्साह बढ़ता जाता था त्यों त्यों सरकार की आपत्ति भी तो बढ़नी ही चाहिए न? हमे अपनी मंजिल तय करने पर वह यदि पकड़ती तो उससे उसकी कमजोरी और अरसिकता न जाहिर होती? इसलिए उसने शायद सोचा कि यदि पकड़ना ही है तो मंजिल तय करने से पहले ही क्यों न पकड़ लिया जाय।

सरकार ने देखा कि मेरे गिरफ्तार हो जाने पर लोग न तो निराश हुए, न डरे, और न कोई उपद्रव ही उन्होंने मचाया, यदि वे उपद्रव कर बैठते तो सरकार को अपनी तोपों और बन्दूकों का उपयोग करने का अवसर मिल जाता। जनरल स्मट्स के लिए हमारी शाँति और उसके साथ साथ दृढ़ता एक बड़ी दुःखदायी बात हो गई। उन्होंने तो यहाँ तक कह डाला "शांत मनुष्य को कोई कहाँ तक सता सकता है"? मरे को मारने से क्या

लाभ ? जो मरने पर तुला हुआ है, उसे मारने में कोई आनन्द नहीं आता। इसलिए शत्रु को जिन्दा पकड़ना बहादुरी समझी जाती है। अगर चूहा बिल्ली को देख कर भागना छोड़ दे तो अवश्य ही उसे कोई दूसरी शिकार ढूंढ़ना पड़े। सभी भेड़ें सिंह की गुफा में जाकर बैठ जायँ तो सिंह को भेड़ें खाना ही छोड़ देना पड़े। अगर सिंह सामना नहीं करे तो क्या पुरुष-सिंह सिंह का शिकार करेंगे ?

हमारी शांति और हमारे निश्चय मे ही हमारी जीत छिपी हुई थी।

गोखले की इच्छा थी कि पोलक भारतवर्ष जाकर उनकी कुछ सहायता करें। मि० पोलक का स्वभाव ही ऐसा है कि वे जहाँ कहीं रहें मनुष्य के लिए उपयोगी हो जाते हैं। जिस काम को वे उठाते हैं उसी में तन्मय हो जाते हैं। इसलिए उनको भारतवर्ष भेजने की तैयारियाँ चल रहीं थीं। मैंने तो लिख दिया था कि वे चले आवें। पर बिना मुझे मिले, सभी सूचनायें प्रत्यक्ष मेरे मुंह से सुने बिना ही वे जाना नहीं चाहते थे। इसलिए उन्होंने इस सफ़र में ही मुझ से मिल लेने की इजाजत मांगी। मैंने उन्हें तार से उत्तर दिया कि 'गिरफ्तार हो जाने की जोखिम उठाना चाहें तो चले आवें"। सिपाही सभी आवश्यक जोखिमों का स्वागत कर लेते हैं। यह युद्ध तो ऐसा था कि सरकार यदि सब को पकड़ना चाहती तो सभी को गिरफ्तार हो जाना चाहिए था। जब तक सरकार गिरफ्तार नहीं करती है, तब तक गिरफ्तार होने के लिए सरल और नीतियुक्त कोशिशें करते जाना धर्म्म था। इसलिए मि० पोलक अपनी गिरफ्तारी की जोखिम उठा कर भी आ पहुँचे।

हम लोग हेडलबर्ग के करीब पहुँच चुके थे। नजदीक वाले

स्टेशन से उतर कर वे हमें वहीं मिले। हमारी बात-चीत हो रही थी। अभी वह पूरी भी नहीं हो पाई थी। दोपहर के तीन बजे होंगे। हम दोनों दल के मुहाने पर थे। दूसरे साथी भी हमारी बातें सुन रहे थे। शाम को मि० पोलक को डरबन जाने वाली ट्रेन पकड़ना थी। किन्तु रामचन्द्रजी जैसे महापुरुष तक को राजतिलक के समय वनवास मिला। फिर पोलक कौन होते थे? हमारी बात-चीत हो ही रही थी कि एक घोड़ा गाड़ी सामने आ कर ठहर गई। उसमें एशियाई विभाग के उच्च अधिकारी मि० चमनी और एक पुलिस अधिकारी भी थे। दोनों नीचे उतरे। मुझे जरा दूर ले जा कर कहा "मैं आपको गिरफ्तार करता हूँ। इस तरह चार दिन में मैं तीन बार पकड़ा गया। मैंने पूछा इस दल को?"

"यह सब होता रहेगा"।

मैं कुछ न बोला, केवल अपने गिरफ्तार होने की खबर देने का समय ही मुझे दिया गया। मैंने पोलक से कह दिया कि वे दल के साथ जावें। लोगों से शांति रखने के लिए कहना शुरू किया कि वह अधिकारी बोला—

"अब आप कैदी हैं। भाषण नहीं दे सकते।"

मैं अपनी मर्यादा को समझ गया। समझने की जरूरत तो नहीं थी, क्योंकि मुझे बोलते हुए रोकते ही उस अधिकारी ने तो गाड़ी हाकने वाले को गाड़ी तेज चलाने के लिए हुक्म दे दिया था। एक क्षण में दल आंखों से ओझल हो गया।

अधिकारी जानता था कि उस समय एक घड़ी भर के लिए तो मेरा ही राज्य था। क्योंकि हम पर विश्वास रखकर ही तो वह इस निर्जन प्रदेश मे दो हजार आदमी के समुदाय के सामने आया हुआ था। वह जानता था कि यदि मुझे एक चिट्ठी भेजकर भी कैद की खबर सुनाता तो मैं बराबर हाजिर हो जाता। इस

हालत में उसका मुझे यह याद दिलाना कि मैं कैदी हूँ, अनावश्यक ही था। मैं लोगों से जो कुछ कहता वह बात सत्ताधारियों के भी काम की ही थी। पर उन्हें भी तो अपना रूप दिखाना चाहिए न? इसके साथ ही मुझे यह भी कह देना जरूरी है कि कितने ही अधिकारी इस बात को जानते थे कि कैद इसके लिए कोई दुखदायी वस्तु नहीं, बल्कि मुक्ति का द्वार है। इसलिए वे सब प्रकार की रिआयतें हमारे साथ करते। इतना ही नहीं, बल्कि कैद करना अपनी सुविधा से काम करना, तथा समय बचाना इत्यादि बातों में वे हमारी सहायता मांगते और उसके मिल जाने पर अपनी एहसानमन्दी तक प्रकट करते। दोनों प्रकार के उदाहरण पाठकों को इन प्रकरणों में मिल जावेंगे। मुझे तो यहां वहां घुमा कर आखिर हेडलबर्ग के थाने में उतार दिया। रात वहीं कटी

दल को ले कर पोलक आगे बढ़े, और हेडलबर्ग पहुंचे। वहां भारतीय व्यापारियों का अच्छा जमघट था। रास्ते में सेठ आमद महमद काछलिया और आमद भायात मिले। उन्हें इसकी खबर लग गई थी कि आगे क्या होने वाला है। दल को भी मेरे ही साथ साथ गिरफ्तार करने की व्यवस्था की गई थी। इसलिए पोलक चाहते थे कि एक दिन देर से सही, पर दल को मुकाम पर पहुंच जाने के बाद डरबन जा कर भारत के जहाज पर चढ़ंगा। पर परमात्मा की योजना तो कुछ और ही थी।

इन लोगों को गिरफ्तार करके ले जाने के लिए हेडलबर्ग में दो ट्रेनें खड़ी थीं। लोग जरा हठ पर चढ़ गये। "गांधी को बुलाओ वे कहेंगे तब हम गिरफ्तार होंगे, और ट्रेन में बैठेंगे।" यह हठ तो खराब ही था। अगर वे इसे न छोड़ते तो बाजी बिगड़ने को थी। सत्याग्रही का तेज घट जाता। जेल तो जाना ही था, फिर

उसमें गांधी की जरूरत क्यों आन पड़ी ? सिपाही भी भला कहीं अफसरों का चुनाव करता है अथवा कभी यह हठ पकड़ता है कि हम तो सिर्फ एक ही आदमी का हुक्म मानेंगे ? मि० चमनी ने मि० पोलक और काछलिया की सहायता से बड़ी मुश्किल से उन लोगों को समझाया। इन दोनों ने कहा "यात्रा का उद्देश तो आखिर जेल जाना ही था। जब स्वयं सरदार ही गिरफ्तार होने के लिए तैयार हो, तब तो जनता को उसकी अनुपस्थिति से घबड़ाना नहीं, बल्कि उसका स्वागत करना चाहिए। इसीमे हमारी भलाई और युद्ध की जीत है। गांधी की भी दूसरी इच्छा हो ही नहीं सकती। यही सबको ख्याल करना चाहिए"। बात लोगों के ख्याल मे जम गई और वे ट्रेन में बैठे।

इधर मुझे कोर्ट में खड़ा किया गया। मुझे उस समय उपयुक्त घटनाओं की कोई खबर नहीं थी। मैंने कोर्ट से फिर छूटने के लिए दरख्वास्त की; उन्हें यह भी कहा कि दो कोर्टों ने मुझे इस तरह पहले छोड़ दिया था, और प्रार्थना की कि या तो सरकार उन लोगों को भी गिरफ्तार करे या उन्हें मुकाम पर पहुंचा देने के लिए मुझे इजाजत और छुट्टी दे। कोर्ट ने मेरी दरख्वास्त को तो नामंजूर किया, पर मेरी मनशा सरकार से फौरन जाहिर कर देने का वचन दिया। इस बार ये लोग मुझे डंडी लेजाने वाले थे। क्योंकि मामला वहीं चलने वाला था। अतः उसी दिन ट्रेन में बैठा कर मुझे डंडी लिवा ले गये।

इधर मि० पोलक को हेडलबर्ग मे तो गिरफ्तार नहीं किया। इतना ही नहीं, बल्कि उनकी सहायता के लिए उनके प्रति एहसान मन्दी तक जाहिर की गई। मि० चमनी ने तो यहा तक कहा था कि सरकार उन्हें पकड़ना ही नहीं चाहती। पर यह तो मि० चमनी का, और जहां तक उन्हें मालूम था, सरकार का

विचार था। किन्तु सरकार के विचार तो घड़ी घड़ी पर बदलते रहते थे। आखिर सरकार इसी नतीजे पर पहुंची कि मि० पोलक को भारतवर्ष नहीं जाने देना चाहिए। अतः उसने निश्चय किया कि उन्हें और कैलनबेक को भी, जो कि इस समय खूब काम कर रहे थे, गिरफ्तार कर लेना चाहिए। इस लिए मि० पोलक को चार्ल्सटाउन मे गिरफ्तार कर लिया। मि० कलनबेक भी पकड़ लिये गये। दोनों वाक्सरेस्ट की जेल मे ठूंस दिये गये।

मुझ पर डंडी मे मामला चलाया गया। नौ महीने की कैद की सजा मुझे सुनाई गई। अभी वाक्सरेस्ट मे मुझ पर मामला चलना बाकी था। अतः मुझे वाक्सरेस्ट ले गये। वहा मैंने मि० पोलक और मि० कैलनबेक को भी देखा। इस तरह हम तीनों वाक्सरेस्ट को जेल में एकत्र हो गये। हमें असीम हर्ष हुआ। मुझ पर जो मामला चलाया गया उसमें अपने खिलाफ मुझको सबूत देना था। पुलिस भी सबूत इकट्ठा कर सकती थी, पर बड़ी कठिनाई से। इसलिए उन्होंने मेरी ही सहायता ली। उस देश की अदालतो मे अपने गुनाह को कबूल कर लेने के बाद कैदी को सजा नहीं दी जाती।

मेरे खिलाफ तो ठीक, पर मि० कैलनबेक और मि० पोलक के खिलाफ कौन सबूत पेश कर सकता था। यदि सबूत न मिलता तो उन्हें सजा देना अदालत के लिए असम्भव था। उनके खिलाफ शीघ्र सबूत इकट्ठा करना भी कोई आसान काम नहीं था। मि० कैलनबेक तो अपना अपराध स्वीकार ही करने वाले थे। क्योंकि उन्हें समुदाय के साथ ही रहना था। पर मि० पोलक तो भारतवर्ष जाना चाहते थे। उन्हें इस बार जेल जाने की वैसी कोई उत्सुकता नहीं थी। अतः हम तीनों ने आखिर यही तय किया कि जब मि० पोलक को पूछा जाय कि तुमने फलॉ फलॉ अपराध

किया है या नहीं, तब वे उसके उत्तर मे न तो हाँ, कहें और न ना ही कहें।

इन दोनों के विपक्ष मे साक्षी बन कर मैं खड़ा हुआ। हमें मामले को लम्बाना तो था ही नहीं। इसलिए हमने इस बात के लिए अदालत की पूरी सहायता की कि तीनों के मामले एक ही दिन मे समाप्त हो जायं। आखिर ऐसा ही हुआ। व.न तीन महिने की कैद हम तीनों को हुई। अब हमे यह मालूम हुआ कि कम से कम तीन महीने तो तीनों एक ही जगह रहेंगे। पर सरकार यह कैसे बरदाश्त कर सकती थी?

तथापि कुछ दिन तो वाक्सरेस्ट की जेल मे हमने सुख पूर्वक बिताये। यहाँ हमेशा नये कैदी आते रहते थे, इसलिए नित्य नई खबरें भी मिलती रहती थीं। इन सत्याग्रही कैदियों मे हरबत-सिंह नाम का एक बूढा था। उसकी अवस्था ७५ वर्ष से भी अधिक होगी। वह कहीं खानों मे नौकरी नहीं करता था। उसने तो बरसों पहले अपना गिरमिट पूरा कर दिया था। इसलिए वह हड़तालिया नहीं था। मेरे गिरफ्तार हो जाने पर लोगों मे जोश खूब बढ़ गया था। और वे नाताल से ट्रान्सवाल में प्रवेश कर अपने को गिरफ्तार करा दिया करते थे। हरबतसिंह ने भी इनके साथ साथ ट्रान्सवाल जाने का निश्चय किया।

एक दिन हरबतसिंह से मैंने पूछा "आप क्यों जेल मे आये? आप जैसे बूढ़ों को मैंने जेल मे आने का निमन्त्रण नहीं दिया है,

हरबतसिंह ने उत्तर दिया "मैं कैसे रह सकता था, जब आप आपकी धर्मपत्नी और आपके लड़के तक हम लोगों के लिए जेल चले गये?

लेकिन आप जेल के दुःखों को बरदाश्त नहीं कर सकेंगे।

आप जेल छोड कर चले जावें। क्या मैं आपके छूटने के लिए कोशिश करूं ?

मैं जेल हरगिज नहीं छोड़ूंगा। मुझे एक दिन मरना तो हई है। फिर ऐसा दिन कहाँ, जो मेरी मौत यहीं हो जाय !"

इस दृढ़ता को मैं कैसे विचलित कर सकता था ? वह तो इतनी विकट थी कि विचलित करने पर भी डिग नहीं सकती थी। हरबतसिंह की जो भावना थी, ठीक वही हुआ। उसने जेल ही में अपने को मृत्यु के हाथों मे सौंप दिया। उसका शव वॉक्सरेस्ट से डरबन मगवाया गया था। सम्मान पूर्वक सैकड़ों भारतीयों की उपस्थिति मे हरबतसिंह का अग्नि-संस्कार किया गया। पर इस युद्ध मे ऐसा एक नहीं अनेकों हरबतसिंह थे। हाँ, जेल मे मरने का सौभाग्य जरूर अकेले हरबतसिंह को ही प्राप्त हुआ। और इसीलिए दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के इतिहास में उसका नाम उल्लेखनीय भी हो गया।

पर इस तरह जेल से आकृष्ट होकर मनुष्यों का आना सरकार को कदापि प्रिय नहीं हो सकता था। फिर जेल से छूटने वाले भी तो मेरा सन्देश लेकर जाते थे। इसको वह कैसे बरदाश्त कर सकती थी ? इसलिए उसने हम तीनों को अलग अलग रखने का निश्चय किया। जो हो, वॉक्सरेस्ट मे तो एक को भी न रहने दिया जाय। हाँ, और खास कर मुझे तो उसने ऐसी जगह पर रखने का निश्चय किया जहाँ एक भी भारतीय नहीं पहुँच पावे। आखिर ऑरेंजिया की राजधानी ब्लूम फनटीन की, जेल मेरे लिए चुनी गई। आरेंजिया के देश भर मे सब मिल कर ५० से अधिक भारतीय नहीं होंगे। और वे सभी होटलों मे नौकर। ऐसे प्रदेश की जेल मे भारतीय कैदी मिल नहीं सकता था। जेल भर में भारतीय के नाम से अकेला मैं ही था। शेष सब गोरे या हबसी

थे। इसका मुझे कोई दुःख नहीं था। इसे तो मैंने सुख माना। वहाँ न तो मेरे लिए कुछ देखने को था और न सुनने के लिए। यह भी एक प्रसन्नता की बात थी कि यहाँ मुझे खूब नवीन अनुभव मिला। फिर अध्ययन के लिए तो मुझे बरसों से, अर्थात् १८९३ के बाद से अवसर ही नहीं मिला था। इसलिए यह सोच कर मुझे हर्ष ही हुआ कि अब मुझे अध्ययन के लिए पूरा एक साल मिल जायगा।

मैं व्लूमफनटीन पहुँचा। एकान्त तो खूब मिला। असुविधायें भी बहुत सी थीं पर वे असाधारण नहीं थीं, सब सहने योग्य थीं। उनका वर्णन करके पाठकों का समय नहीं लूंगा। हाँ, इतना कह देना आवश्यक है कि वहाँ के डाक्टर मेरे मित्र बन गये। जेलर तो केवल अपने अधिकारों का ही ख्याल रखता था। और डॉक्टर कैदियों के अधिकारों की रक्षा करता था। इन दिनों मैं केवल फलाहार करता था। न दूध लेता था न घी। अनाज तो बन्द ही था। मैं केले, टामाटा, कची मुंफली, नीम्बू, और जैतून का तेल मात्र खाता था। इनमें से एक भी वस्तु यदि सड़ी मिलती तो भूखों मरना पड़ता। इसलिए डॉक्टर साहब विशेष सावधान रहते। उन्होंने मेरे भोजन मे अखरोट बादाम और ब्रॉझिलनट भी शामिल कर दिया। वे स्वयं सब फलों को जांच लिया करते। मेरा कमरा बड़ा तंग था। हवा बहुत कम मिलती थी। डॉक्टर ने खूब कोशिश की कि उसका दरवाजा खुला रक्खा रहे। पर उसकी एक भी न चली। जेलर ने तो कहा कि यदि कहीं दरवाजा खुला हुआ देखलूंगा तो मैं अपना इस्तीफा ही पेश कर दूंगा। वैसे जेलर कोई खराब आदमी नहीं था, पर उसका स्वभाव मानों एक सांचे का ढला हुआ था। भला वह उसे कैसे बदल सकता था? उसे हमेशा तो बदमाश कैदियों से काम पड़वा रहता।

इसलिए उसे डर था कि यदि वह मेरे जैसे एक भले आदमी को देखकर अपने बर्ताव मे कोई फर्क कर दे तो दूसरे कैदी उसके नाकों दम कर डालते। मैं जेलर की कठिनाई को ठीक तौर से समझ गया था और जब कभी डॉक्टर और जेलर के बीच मेरे प्रति बर्ताव के विषय मे झगड़ा होता। तब मेरी सहानुभूति बराबर जेलर ही के पक्ष मे रहती। जेलर अनुभवी आदमी था, एक मार्गी था। पर अपने कर्त्तव्य को भली भांति जानता था। मि० कैलनबेक को प्रिटोरिया की जेल में भेजा गया। और मि० पोलक को जमिस्टन की जेल मे।

पर सरकार की ये तमाम व्यवस्थायें निरर्थक थीं। अब तो आकाश ही फटने लगा इसे आदमी कहाँ कहाँ पैवन्द लगा सकता था? नाताल के भारतीय गिरमिटिया पूरी तरह जाग उठे थे। अब उन्हें कोई सत्ता रोक नहीं सकती थी।

: २२ :

कसौटी

सोने की परीक्षा करने वाला हमेशा उसे कसौटी पर घीसता है। इससे अधिक परीक्षा करनी होती है तो वह उसे भट्टी मे डालता है। उसे पीटता है, यदि कहीं अशुद्धि होती है तो उसे निकाल डालता है फिर उसका कुन्दन बनाता है। बस इसी प्रकार भारतीयों की भी परीक्षा हुई, वे पीटे गये भट्टी मे तपाये गये, और जब वे परीक्षा मे उत्तीर्ण हुए तब जाकर उनकी कहीं सच्ची कीमत हुई।

यात्रियों को ट्रेन में बैठाकर कहीं उनकी पूजा करने के लिए नहीं, बल्कि ऐरण पर पीटने के लिए ले चले। उनके खाने का कोइ इन्तजाम नहीं था। नाताल में पहुंचते ही फौरन उनपर मामला चलाया गया और सब को जेल भेज दिया गया। पर यह तो हमने पहले ही सोच रख खा था। बल्कि हमतो यह चाहते भी थे। पर इस तरह हजारो को जेल मे रखने से तो भारतीयों की बन आती। उनका क्या बिगड़ता ? सरकार को खर्च बढ़ता, और साथ ही वे कोयले की खाने भी बन्द पड़ी रहतीं। यही स्थिति अधिक समय तक टिकी रहती तो सरकार को मजबूर न कर उठाना पड़ता। इसलिए युनियन सरकार ने एक नवीन युक्ति ढूंढी। उसने एक ऐसी

धारा बनाई कि जिसके अनुसार जहां जहां से सत्याग्रही गिरमिटिया भाग आये थे, उसी स्थान को जेल बनाया गया। और उन खानों के नौकरों को बना दिया गया जेल के दारोगा। इस तरह जिस बात का मजदूरों ने त्याग किया था वही बात सरकार ने बलात्कार पूर्वक उनसे करवाई और इसतरह खानें शुरू कर दी गईं। गुलामी और नौकरी मे फर्क सिर्फ इतना ही है कि यदि नौकर नौकरी छोड़कर चला जाता है तो उस पर दीवानी अदालत में दावा पेश किया जा सकता है। किन्तु यदि गुलाम नौकरी छोड़ कर चला जाता है तो उसे जबरदस्ती से पुनः काम पर लगाया जा सकता है। अर्थात् अब वे मजूर पूरे गुलाम हो गये।

पर यही काफी नहीं था। मजदूर तो बहादुर थे। उन्होंने खानों में काम करने से साफ इन्कार कर दिया। नतीजा यह हुआ कि कोड़ों की मार सहनी पड़ी। जो उद्धत आदमी क्षणभर में इस धारा के अनुसार अधिकारी बना दिये गये थे। उनकी बन आई। वे लगे इन मजदूरों को लातोंसे मारने और गालियों की बौछार करने। और भी अनेक प्रकार के अत्याचार वे करने लगे। पर इन गरीब मजदूरों ने वह सब शांति के साथ सह लिया। इन अत्याचारों के तार भारतवर्ष पहुंचे। तार से सभी खबरें गोखलेजी को भेजी जाती थीं। एक दिन भी पूरा ब्यौरेवार तार न मिलता तो वे डांट कर पूछते। वे अपने बिस्तर पर पड़े पड़े ही इन तारों का प्रचार किया करते थे। क्योंकि उन दिनों वे बहुत बीमार थे। किन्तु दक्षिण आफ्रिका के काम को स्वयं देखने का आग्रह उन्होंने नहीं छोड़ा। और इसमे न उन्होंने रात की परवा की न दिन की। फल यह हुआ कि देश भर मे वह आग फैल गई। उन दिनों भारतवर्ष में दक्षिण अफ्रिका का सवाल एक मुख्य सवाल बन गया।

इसी समय लार्ड हार्डिंज ने अपना वह विख्यात भाषण दिया था जिस के कारण दक्षिण आफ्रिका और इंग्लैण्ड में भी जहां तहां खलबली मचगई। वाइसराय दूसरे संस्थानों की टीका नहीं कर सकते थे। पर लार्ड हार्डिंज ने तो सख्त टीका कर डाली। इतना ही नहीं, बल्कि उन्होंने तो सत्याग्रहियों का पूरा बचाव भी किया। यहां तक कि उनके सविनय भंग का भी समर्थन कर डाला। उनके इस साहस पर इंग्लैण्ड के अखबारों मे जरूर कुछ सख्त टीका-टिप्पणी की गई। तथापि लार्ड हार्डिंज ने अपने कार्य पर पश्चात्ताप नहीं जाहिर किया, बल्कि दृढ़ता के साथ उसका औचित्य बताया। इसका फल भी बड़ा सुंदर हुआ।

इन गिरफ्तार, दुःखी किन्तु बहादुर मजदूरों को छोड़ कर हम क्षण भर के लिए जरा खानों के बाहर नजर दौड़ा लें।

खानें नेटाल के उत्तर विभाग मे थीं। पर मजदूर तो सब से बड़ी संख्या में नैऋत्य और वायव्य कोन मे रहते थे। वायव्य कोन मे फिनिक्स, वेरूलम्, टोंगाट इत्यादि थे। नैऋत्य मे इसीपिंगो, अमझींटो इत्यादि थे। वायव्य के मजदूरों के साथ मेरा काफी परिचय हो गया था। उनमें से कई मेरे साथ बोअर युद्ध मे काम करचुके थे। इतना काम मुझे नैऋत्य कोन के मजदूरों से नहीं पड़ा था। उसी प्रकार इस दिशा मे मेरे साथी भी बहुत कम थे। तथापि जेल और हड़ताल की बात बिजली की तरह चारों दिशाओं में फैल गई। दोनों तरफ से अचानक हजारों मजदूर निकल पड़े। कितनों ही ने इस ख्याल से कि लड़ाई बहुत दिन तक चलेगी और शायद कोई खाने को नहीं देगा, अपना असबाब तक बेच डाला था। जेल जाते समय मैं तो अपने साथियों से कह गया था कि "अब अधिक हड़तालें न होने पावें"। मुझे विश्वास था कि अब अधिक बलिदान की जरूरत नहीं होगी।

खानों के मजदूरों की सहायता से ही लड़ाई समाप्त कर देंगे। यदि सभी अर्थात् ६०,००० मजदूर हड़ताल कर देते तो उनका पोषण करते करते मुश्किल हो जाती। इन सब की कूच कराने इतनी सामाग्री भी हमारे पास नहीं थी। न इतने मुखिया थे और न उतना पैसा। फिर इतने आदमियों के इकट्ठे होने पर उपद्रव न होने देना भी तो महा कठिन काम था न ?

किन्तु भला बाढ़ भी किसी से रुक सकती है ! सब जगह से अपने आप मजदूर निकल पड़े, स्वयं सेवक भी अपने आप चुन लिये गये, और काम शुरू कर दिया गया।

अब सरकार ने बन्दूक-नीति का आश्रय लिया। लोगों को हड़ताल करने से जबरदस्ती रोका गया। उन पर घोड़े दौड़ा कर उन्हें वापिस भेजा गया। जरा भी लोग कहीं उपद्रव मचाते तो उन पर गोलियाँ चल जातीं। पर लोगों ने लौट आने से इनकार कर दिया। किस किसी ने पत्थर भी फेंके, फैर किये गये। कई घायल होगये। दो चार मरे। पर लोगों का उत्साह नहीं घटा। स्वयंसेवकों ने यहा के लोगों को हड़ताल करते करते रोका। सब तो काम पर नहीं गये। कितने ही मारे डर के कहीं छिप गए, और फिर लौट कर भी नहीं गये।

एक प्रसंग उल्लेखनीय है। वेरूलम मे कई मजदूर निकल पड़े थे। वे किसी प्रकार लौटकर जाना नहीं चाहते थे। जनरल ल्यूकिन अपने सिपाहियों को लेकर वहाँ खड़ा था। लोगों पर गोली चलाने का हुक्म वह देने को ही था, कि स्वर्गीय पारसी रुस्तमजी का छोटा लड़का बहादुर सोराबजी-जिसकी उम्र उस समय शायद ही अठारह वर्ष की होगी-डरबन से यहाँ आ पहुँचा। जरनल के घोड़े की लगाम थाम कर उसने कहा "आप गोलियाँ चलने का हुक्म न दें, मैं अपने लोगों को शातिपूर्वक अपने अपने

काम पर लौटा देने की जिम्मेदारी लेता हूँ।" जरनल ल्यूकिन इस नौजवान की बहादुरी पर मुग्ध होगया। और उसने सोराबजी को अपना प्रेम-बल आजमा लेने की मुहलत दे दी। सोराबजी ने लोगों को समझाया। वे समझ गये, और अपने अपने काम पर चले गये। इस तरह एक नौजवान के प्रसगावधान, निर्भयता और प्रेम के कारण खून की नदी बहते बहते रुक गई।

पाठकों को यह जानना चाहिए कि यह गोलियाँ चलाना आदि काम गैर कानून नहीं था। खान के मजदूरों के साथ सरकार ने जो व्यवहार किया था, वह देखने मे तो कानूनन था। उन लोगों को हड़ताल करने के अपराध मे नहीं बल्कि ट्रान्सवाल की सरहद लांघने के अपराध मे गिरफ्तार किया गया था। नैऋत्य और वायव्य मे हड़ताल करना ही एक अपराध समझा गया। सो भी कानून के आधार पर नहीं, बल्कि सत्ता के अधार पर। और अंत में तो सत्ता ही कानून बन बैठती है न? अंगरेजी कानून मे एक कहावत भी है जिसका अर्थ है "राजा कभी गलती करता ही नहीं।" सत्ता के लिए जो बात अनुकूल होती है, वही अंत मे कानून बन जाती है। पर यह दोष सार्वभौम है। सच पूछा जाय तो इस तरह कानून को भूल जाना हमेशा दोष भी नहीं कहा जा सकता। कई बार कानून का अवलम्बन ही दोष बन जाता है। यदि सत्ता लोकसंग्रह कर रही हो, और उसको नियन्त्रित रखने वाले नियमों से उसके विनाश की सम्भावना हो, तो वहां उस नियम का नाश करना ही धर्म्य और विवेक पूर्ण है। पर ऐसा प्रसंग बहुत क्वचित उपस्थित होता है। जो सत्ता बार बार निरंकुश हो जाती है वह लोकोपकारी नहीं कही जा सकती। प्रस्तुत उदाहरण मे सत्ता के इस तरह निरंकुश होने के लिए कोई कारण ही नहीं था, हड़ताल करने का हक तो अनादि है। सरकार के पास

यह जानने के लिए भी काफी कारण थे कि हड़तालियों का उद्देश कोई उपद्रव करना नहीं था। हड़ताल का अन्तिम परिणाम तीन पौंड के कर का रद्द हो जाना था। सच पूछा जाय तो शांति-प्रिय लोगों को यदि वे गलती करें तो शांति युक्त उपायों से ही राह पर लाना चाहिए। फिर यहाँ सत्ता लोकोपकारी नहीं थी। उसका अस्तित्व तो केवल गोरों के उपकार के लिए ही था। वह साधारणतया भारतीयों की विरोधिनी थी। अर्थात् इस एक पक्षीय सत्ता की निरंकुशता कभी उचित और क्षम्य नहीं मानी जा सकती।

इसलिए मेरी मति के अनुसार तो यहाँ सत्ता का दुरुपयोग ही हुआ। जिस कार्य की सिद्धि के लिए इस तरह सत्ता का दुरुपयोग किया जाता है, वह कभी सिद्ध नहीं होता। क्षणिक सिद्धि जरूर मिलती हुई मालूम होती है, पर स्थायी सिद्धि तो कदापि नहीं मिल सकती। दक्षिण आफ्रिका में तो जिस कर की रक्षा के लिए यह अत्याचार किया गया, वही छ. माह के बाद उठ गया। इस तरह कई बार दु.ख सुख के लिए ही होता है। इस दुख की पुकार चारों तरफ मच गई। मैं तो यह मानता हूँ कि जिस तरह एक यन्त्र मे प्रत्येक वस्तु का अपना स्थान होता है, उसी प्रकार युद्ध मे भी प्रत्येक वस्तु का भी अपना एक निश्चित स्थान होता है। और जिस प्रकार गंज या गर्दा यंत्र की गति में बाधक होता है, उसी प्रकार कितनी ही वस्तुयें युद्ध की गति को भी रोक देती हैं। हम तो निमित्त मात्र होते हैं, इसलिए हम यह हमेशा नहीं जान सकते कि कौनसी चीजें तो हमारे लिए प्रतिकूल होती हैं, और कौनसी अनुकूल। इसलिए हम केवल साधन मात्र जानने के अधिकारी हैं। साधन यदि पवित्र हों तो हम परिणाम के विषय में निर्भय और निश्चिन्त रह सकते हैं।

इस युद्ध में एक यह बात भी देखी गई कि ज्यों ज्यों लड़ने-वालों का दुःख बढ़ता गया, त्यों त्यों उसका अन्त भी नजदीक आता गया। साथ ही ज्यों ज्यों दुःखी की निर्दोषिता अधिकाधिक प्रकट होती गई, त्यों त्यों भी लड़ाई का अन्त निकट आने लगा। मैंने इस युद्ध में यह भी देखा कि ऐसे निर्दोष, निःशस्त्र और अहिंसक युद्ध के लिए ऐन-वक्त पर जिन जिन साधनों की आवश्यकता होती है वे भी अनायास प्राप्त होते चले जाते हैं। कितने ही स्वयं-सेवकों ने, जिन्हें मैं आज तक भी नहीं जानता, अपने आप सहायता की। ऐसे सेवक अक्सर निःस्वार्थ होते हैं। अनिच्छा पूर्वक भी वे अदृश्य रूप से सेवा कर देते हैं। न तो कोई उनका हिसाब रखता और न कोई प्रमाण-पत्र ही उन्हें दे देता है। उनके वे अमूल्य कार्य परमात्मा की किताबों में जमा होते रहते हैं। पर कई सेवक तो यह भी नहीं जानते।

दक्षिण अफ्रिका के भारतीय अपनी परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये। उन्होंने अग्नि-प्रवेश किया और ज्यों के त्यों शुद्ध बाहर निकल आए। अब यह अगले प्रकरण में देखेंगे कि लड़ाई के अन्त का आरम्भ किस तरह हुआ।

: २३ :

अन्त का प्रारम्भ

पाठकों ने देखा ही होगा कि कौम ने अपनी शक्ति भर, और जितनी उमीद की जा सकती थी, उससे भी अधिक शांत बल का उपयोग किया। पाठकों ने यह भी देखा होगा इस बल का उपयोग करने वालों मे अधिकांश वे ही गरीब, और निचली श्रेणी के लोग थे, जिनसे ऐसी आशा भी नहीं की जा सकती थी। पाठकों को यह भी स्मरण होगा कि दो तीन को छोड़ कर फिनिक्स आश्रम के सभी जिम्मेदार काम करने वाले जेलमे थे। फिनिक्स के बाहर रहने वालों में स्वर्गीय सेठ अहमद महमद काछलिया थे। फिनिक्स पर अब वेस्ट मिस्ट वेस्ट और मगनलाल गांधी थे। काछलिया सेठ साधारण देख भाल करते थे। मिस श्लेजीन ट्रान्सवाल का तमाम हिसाब-किताब और मरहद लाघने वालों की देख भाल करती थी मि० वेस्ट के जिम्मे इण्डियन ओपीनियन के अगरेजी विभाग के सम्पादन का तथा गोखलेजी से तार व्यवहार करने का भार था इस समय, जब कि प्रतिक्षण नये नये मोर्चे बदले जाते थे, पत्र व्यवहार वगैरा का तो काम ही नहीं पड़ता था। तार ही पत्रों के इतने लम्बे चौड़े भेजना पड़ते थे। यह सूक्ष्म उत्तरदायित्व से परिपूर्ण काम मि० वेस्ट को करना पड़ता था।

अब न्यूकॅसल की तरह फिनिक्स भी शायद्य कोण के हडता-लियों का केन्द्र हो गया। सैकड़ों मजदूर वहां आने लगे और सलाह तथा आश्रय मांगने लगे। अवश्य ही इससे सरकार का ध्यान फिनिक्स की तरफ आकर्षित हुआ। आस पास रहने वाले गोरों की आंखें भी लाल होने लगीं। अब फिनिक्स पर रहना भयावह हो गया। तथापि लड़के बच्चे तक जोखिम भरे काम करते रहते। इतने में वेस्ट गिरफ्तार हुए। सच पूछा जाय तो वेस्ट को पकड़ने के लिए कोई कारण नहीं था। सोचा यह गया था कि मि० वेस्ट और मगनलाल गांधी को गिरफ्तार होनेके लिए कोई प्रयत्न नहीं करना चाहिए। इतना ही नहीं, बल्कि जहां तक हो सके, गिरफ्तारी के प्रसंगों से भी दूर रहना चाहिए। इसलिए वेस्ट ने अपनी ओर से अपने को गिरफ्तार करने के लिए सरकार को कोई कारण ही नहीं दिया था। पर सरकार कहीं सत्याग्रहियों की सुविधा असुविधा का थोड़े ही ख्याल करती है? अथवा उसे इन लोगों की गिरफ्तार करने के प्रसंगों को ढूंढना भी तो नहीं पड़ता था। सत्ताधीश जब किसी काम को करना चाहता है वही उसके लिए उस काम को करने का प्रसंग होता है। वेस्ट की गिरफ्तारी का तार गोखलेजी को पहुँचा कि फौरन उन्होंने भारत से होशियार आदमियों को भेजना शुरू कर दिया। सत्याग्रहियों की सहायता के लिए जब लाहौर में सभा हुई थी, तब ऐण्ड्रूज ने अपने पास के सभी पैसे दे डाले। तभी से गोखले की नजर में वे भर गये थे। इसलिए वेस्ट की गिरफ्तारी की खबर मिलते ही—फौरन उन्होंने मि० एण्ड्रूज को तार द्वारा पूछा कि "क्या आप इसी वक्त दक्षिण अफ्रिका जाने के लिए तैयार हैं?" एँण्ड्रूज ने उत्तर में लिख दिया "हाँ"। उसी क्षण उनके परम-प्रिय मित्र पियर्सन भी तैयार हो गये और दोनों पहली स्टीमर से दक्षिण

अफ्रिका जाने के लिए निकल पड़े।

पर अब तो युद्ध समाप्त होने को था। हजारों निर्दोष आदमियों को जेल में रखने की ताकत दक्षिण अफ्रिका की सरकार में नहीं थी। वाइसराय भी इसे सहन नहीं कर सकते थे। सारे संसार की नजर इस बात पर लगी हुई थी कि अब जनरल स्मट्स क्या करते हैं? इस समय जनरल स्मट्स ने भी वही किया जो ऐसी हालत में अन्य सरकारें करती है। यों जांच तो किसी बात की करना नहीं थी। जो कुछ भी अन्याय हो रहा था, वह तो प्रकट ही था। स्वयं जनरल स्मट्स इस बात को महसूस करते थे कि निःसन्देह अन्याय हो गया हैं और चाहते थे कि उसका दूर होना जरूरी है। पर इस समय "भई गति सांप छछूंदर केरी" वाला उनका हाल हो रहा था। वे इस समय इन्साफ तो करना चाहते थे, पर इस शक्ति को अपने हाथों से खो बैठे थे। क्योंकि दक्षिण आफ्रिका के गोरों को वे इस बात का आश्वासन दे चुके थे कि वे स्वयं उस तीन पौंड वाले कर को रद न करेंगे, और न कोई अन्य सुधार ही करेंगे। पर अब तो वे उस कर को उठाने तथा अन्य सुधार भी करने के लिए मजबूर हो रहे थे। ऐसी विचित्र स्थिति से निकलने के लिए लोकमत से डराने वाले राज्य हमेशा कमिशन की नियुक्त करते हैं। कमिशन नाम मात्र की जाच कर लेता है। क्योंकि उसका परिणाम तो पहले ही से सर्व-विदित सा होता है। इधर कमिशन ने सिफारिश की नहीं, कि उस पर अमल हुआ नहीं, यही सामान्य प्रथा है। अर्थात् साधारणतया सरकारें जिस न्याय को पहिले से देने में इन्कार करती हैं, वही कमिशन की सिफारिश के आधार पर फिर बाद में उनको देना पड़ता है। जनरल स्मट्स के कमिशन में तीन सभ्य नियुक्त किये गये। भारतीय जनता ने इस कमिशन के विषय में कुछ शर्तें पेश कीं, और यह प्रतिज्ञा ले ली

कि जब तक उन शर्तों का पालन न किया जायेगा, तब तक वह उसका बहिष्कार करेगी। उनमे नीचे लिखी दो शर्तें थीं।

(१) सब सत्याग्रहियों को छोड़ दिया जाय।

(२) कमिशन में कम से कम एक सभ्य तो जरूर भारतीयों का चुना हुआ हो।

पहली शर्त को कुछ अंशों में स्वयं कमिशन ने ही मान लिया था, और उसने सरकार से सिफारिश की थी कि कमिशन का काम सरल करने के लिए सरकार मि० कैलनबेक, मि० पोलक और मुझे बिना किसी शर्त के छोड़ दे। सरकार ने इस सिफारिश को मंजूर कर हम तीनों को एक साथ छोड़ दिया। मुश्किल से हम दो महीने जेल में रहे होंगे।

इधर वेस्ट को गिरफ्तार तो कर लिया पर सरकार के पास ऐसा कोई सबूत नहीं था जिसके बल पर उन पर वह काम चला सकती। इसलिए उन्हें भी उसे छोड़ना पड़ा। ये घटनायें एंड्रयूज और पियर्सन के दक्षिण अफ्रिका पहुंचने के पहले ही घट चुकी थीं। इसलिए दोनों मित्रों को स्टीमर से मैं ही लिवा लाया। दोनों को इस बात के कोई समाचार नहीं मिले थे, इसलिए उन्हें बड़ा ही आश्चर्य पर साथ ही आनन्द भी हुआ। दोनों के साथ मेरा यह प्रथम परिचय ही था।

छूटने पर हम तीनों को निराशा ही हुई। बाहर के कोई हाल हमे मालूम नहीं थें। कमिशन की खबर सुनकर हमें आश्चर्य तो जरूर हुआ, पर हमने देखा कि हम कमिशन की किसी प्रकार सहायता नहीं कर सकते थे। हमने इस बात को भी महसूस किया कि कमिशन में भारतीयों की तरफ का भी कोई आदमी होना जरूरी है। इस पर हम तीनों डरबन पहुंचे और वहां से जनरल स्मट्स को एक पत्र लिखा जिसका सार इस तरह थाः—

"हम कमिशन का स्वागत करते हैं। पर इसमे उन दो सभ्यों की जिस तरह नियुक्ति हुई है उसके लिए हमारी घोर आपत्ति है। उनके व्यक्तित्व से हमे किसी तरह का विरोध नहीं है। वे चतुर और प्रसिद्ध नागरिक हैं। पर उन दोनों ने कई बार भारतीयों के प्रति अपना विरोध जाहिर किया है। इसलिए अज्ञाततः उनसे अन्याय होने की संभावना है। मनुष्य अपने स्वभाव को एक एक नहीं बदल सकता। अतः यह मान लेना प्रकृति के नियमों के विपरीत होगा कि वे दोनों अपना स्वभाव पलट लेंगे। तथापि हम यह नहीं चाहते कि उनको कमिशन से अलग ही कर दिया जाय। हम तो केवल यही चाहते हैं, कि किसी तरह कुछ और तटस्थ पुरुष उसमे रख लिये जाय। इसी हेतु से हम सर जेम्स रोफइनिस और ऑन० डब्ल्यू० पी० श्राइनर के नाम सूचित करते हैं। ये दोनों प्रख्यात व्यक्तियां हैं। और अपनी न्याय-वृत्ति के लिए भी प्रसिद्ध हैं। हमारी दूसरी प्रार्थना यह है कि तमाम सत्याग्रही कैदियों को छोड़ दिया जाय। अगर ऐसा नहीं किया जायेगा तो हमारे लिए बाहर रहना मुश्किल हो जायेगा। अब उन्हें जेल मे रखने का कोई कारण भी नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि हमें कमिशन के सामने अपनी जबानी देना पड़े, तो हमे खानो मे, तथा जहा जहां गिरमिटिया काम करते हैं वहां जाने की इजाजत मिलनी चाहिए। यदि हमारी इस प्रार्थना पर विचार न हुआ तो हमें फिर जेल मे जाने के उपायों को ढूंढना होगा।"

जनरल साहब ने कमिशन के सभ्यों की संख्या बढाने से इनकार कर दिया और कहा कि कमिशन किसी पंच के लिए नियुक्त नहीं किया गया है। वह तो केवल सरकार के संतोष के लिए है। यह उत्तर मिलते ही हमारे पास तो एक ही उपाय बच रहा। हमने

पुनः जेल की तैयारी कर इस आशय के निवेदन पत्र प्रकाशित कर दिये कि सन् १९१४ के जनवरी की पहली तारीख से जेल जाने वाले डरबन से कूंच करेंगे। ता० १८ दिसम्बर १९१३ को हमें छोड़ गया था, २१ वी को हमने उपर्युक्त पत्र लिखा और २४ वीं को जनरल का यह उत्तर मिला था।

पर इस उत्तर में एक बात थी, जिस पर से मैंने उन्हें फिर एक पत्र लिखा। जनरल के जवाब में यह वाक्य था, 'कमिशन को निष्पक्ष और अदालती बनाया गया है और उसकी नियुक्ति करते समय यदि भारतीयों की सलाह नहीं ली गई, तो खानों के मालिकों के साथ तथा चीनी के कारखाने वालों के साथ भी कोई सलाह नहीं की गई'। इस पर से मैंने उन्हें एक खानगी पत्र लिखा जिस में उन्हें सूचित किया कि यदि सरकार न्याय ही चाहती हो तो मुझे जनरल स्मट्स से मिलना है। और उन्हें कुछ बातें कह देना है। इसके उत्तर में उन्होंने मेरी प्रार्थना को स्वीकृत किया। इसलिए कुछ दिन के लिए तो कूच मुल्तवी की गई।

इधर जब गोखलेजी ने सुना कि पुनः कूच की तैयारी हो रही है, तो उन्होंने एक लम्बा चौड़ा तार भेजा। उसमें लिखा था कि मेरे इस कार्य से लार्ड हार्डिंज की और स्वयं उनकी स्थिति भी बड़ी विचित्र हो जायगी। इसलिए कूच को स्थगित करने तथा कमिशन के सामने अपना सबूत पेश करने के लिए उन्होंने बड़ी जोरों की सलाह दी।

अब तो हम धर्म-संकट में फंस गये। कौम तो इस बात की प्रतिज्ञा कर चुकी थी कि यदि उनकी मन्शा के अनुसार कमिशन के सभ्य नहीं बढ़ाये गये तो वह उसका बहिष्कार करेगी। लार्ड हार्डिंज अप्रसन्न हो जायें और स्वयं गोखले को भी दु:ख हो तो प्रतिज्ञा-भंग कैसे हो सकता था। मि० एँड्रूज ने सुझाया कि

गोखलेजी की सहानुभूति, उनकी नाजुक हालत तथा हमारे निश्चय से उनको जो आघात पहुंचने की संभावना थी उस पर भी पूरा विचार कर लेने की जरूरत है। मैं तो जानता ही था। मुखियाओं की सलाह हुई, और अन्त में सब इसी निर्णय पर पहुचे कि कमिशन में यदि अधिक सभ्य नहीं लिये गये तो उसका बहिष्कार तो अवश्य ही करना चाहिए। फिर इसका परिणाम चाहे जो हो। इसलिए फिर लगभग सौ पौंड खर्च करके एक लम्बा तार गोखलेजी को तार भेजा गया। इससे एंड्र्यूज भी सहमत हो गये। इस तार का आशय नीचे लिखे अनुसार था:—

"आपके दुःख को हम समझ सकते हैं। मेरी हमेशा यह इच्छा रहेगी कि सब वालों को छोड़ कर आपकी सलाह का ही सम्मान करूं। लार्ड हार्डिंज ने भी हमारी अमूल्य सहायता की है। मैं यह भी चाहता हूँ कि इसी प्रकार अंत तक हमे उनकी सहायता मिलती रहे। पर साथ ही प्रार्थना करता हूँ कि आप हमारी स्थिति को भी समझ लें। इसमें हजारों मनुष्यों की प्रतिज्ञा का प्रश्न है। प्रतिज्ञा शुद्ध है। सारे युद्ध की रचना प्रतिज्ञाओं पर की गई है। यदि यह बन्धन न होता तो आज हममें से कितने ही फिसल गये होते। हजारों मनुष्यों की प्रतिज्ञा यदि इस तरह पानी में डुबो दी जाय तो फिर संसार में नैतिक बंधन जैसी कोई वस्तु ही नहीं रहेगी। प्रतिज्ञा करते समय लोगों ने पूरा विचार कर लिया था उसमें किसी प्रकार की अनीति तो हुई नहीं। बहिष्कार की प्रतिज्ञा लेने का भी कौम को अधिकार है। मैं चाहता हूँ कि आप भी यही सलाह देंगे कि इस तरह गम्भीरता पूर्वक की गई प्रतिज्ञा किसी के लिए भी न तोड़ी जाय। उसका पालन तो होना ही चाहिए, फिर चाहे सो हो जाय। यह तार लार्ड हार्डिंजको भी बताइएगा। मैं चाहता हूँ कि आपकी स्थिति विचित्र न हो। हमने परमात्मा को साक्षी रख कर और

उसी की सहायता के बल पर युद्ध छेड़ा है। हम बड़े-बूढ़ों की, गुरु-जनों की सहायता भी मांगते हैं। उसके मिल जाने पर हमें हर्ष होता है। पर मेरी तो यही नम्र राय है कि वह चाहे मिले या न मिले। हमारी प्रतिज्ञा नहीं टूटनी चाहिए। अंत में उस के पालन में आपका समर्थन और आशीर्वाद मैं मागता हूँ।"

यह तार गोखले जी को भेजा गया। उसका असर उनके स्वास्थ्य पर तो हुआ पर सहायता पर नहीं हो पाया। यदि हुआ हो तो भी इस तरह कि वह और भी बढ़ गई। उन्होंने लार्ड हार्डिंज को तार भेज दिया। किन्तु हमारा त्याग नहीं किया। बल्कि हमारी दृष्टि का समर्थन ही किया। लार्ड हार्डिंज भी दृढ़ रहे।

ऍण्ड्रयूज को लेकर मैं प्रिटोरिया गया। इसी समय यूनियन रेलवे के गोरे कार्य-कर्ताओं ने बड़ी भारी हड़ताल करदी। इस हड़ताल से सरकार की स्थिति बड़ी नाजुक हो गई। मुझे भी कहलाया गया कि फिर भारतीयों की कूच बोल दी जाय। मैंने तो जाहिर कर दिया कि मुझ से इस तरह रेलवे हड़तालियों की सहायता नहीं हो सकती। सरकार को महज सताना हमारा उद्देश नहीं है। हमारी लड़ाई और उसका तरीका भी भिन्न है। यदि हमें कूच करना ही होगा तो वह हम तभी करेंगे जब यह रेलवे की हड़ताल शान्त हो जायेगी। इस निश्चय का बड़ा गंभीर प्रभाव पड़ा। रूटर ने इसके तार इंग्लैंण्ड भेजे। वहां से लार्ड अम्पट्हिल ने धन्यवाद सूचक तार भेजा। दक्षिणी अफ्रिका के अंगरेज मित्रों ने भी धन्यवाद दिये। जरनल स्मट्स के मंत्री ने विनोद में कहा "मुझे तो आपके लोग जरा भी अच्छे नहीं लगते। मैं तिल-भर भी उनकी सहायता नहीं करना चाहता। पर हम करें क्या? आप लोग तो आपत्काल में भी हमारी सहायता करते हैं। आपको कैसे मारा जा सकता है? मैं तो कई बार चाहता हूँ कि आपभी

कहीं इन अंगरेज हडतालियों की तरह उपद्रव करदें तो एक घडी में आपको सीधा करदें। पर आप तो दुश्मन को भी सताना नहीं चाहते। केवल स्वयं दु.ख सहकर जीतना चाहते हैं। विवेक और मर्यादाका जरा भी त्याग नहीं करते। फिर हम क्या कर सकते हैं ?"

इसी प्रकार के उद्गार जरनल स्मट्सके मुंह से भी निकले थे।

पाठकों को इस बात का बराबर ख्याल होगा कि सत्याग्रही के विवेक और विनय का यह पहला ही उदाहरण नहीं था। वायव्य कोण में जब हड़ताल हुई तब कितनी ही जगह गन्ना कटा हुआ मैदान मे ही पड़ा था। वह यदि उचित स्थान पर नहीं पहुंचा दिया जाता तो मालिकों की बड़ी हानि होती। इसलिए १५०० आदमी फिर उस काम को पूरा करने के लिए लौट गए, और माल को उचित तथा सुरक्षित स्थान पर पहुंचा कर फिर हड़ताल मे शामिल हो गये। डरबन की म्युनिसीपालिटी के गिरमिटियाओं ने जब हडताल की तब उसमे भी जो मेहतर और शफाखाने का काम करते थे, उन्हें वापिस भेज दिया गया। और वे खुशी से लौट भी गये। यदि मेहतर और शफाखानों मे काम करने वाले काम छोड़ दें तो सारे शहर मे बीमारी फैल जाय, तथा अस्पताल में रोगियों की शुश्रूषा भी बंद हो जाय। और सत्याग्रही तो कभी न चाहेगा कि उसके कार्य का ऐसा परिणाम हो। इसलिए ऐसे कार्यकर्ताओं को हड़ताल से मुक्त रक्खा गया। प्रत्येक काम करते हुए सत्याग्रही को यह जरूर सोच लेना चाहिए कि उसके इस कार्य का परिणाम विरोधी पर कैसा होगा।

इस तरह के अनेकों विवेक पूर्ण कार्यों का अदृश्य प्रभाव चारों ओर मुझे दिखाई देता था। इसीसे भारतीयों की प्रतिष्ठा दिन व दिन बढ़ती जा रही थी और समझौते के लिए अनुकूल वायुमण्डल तैयार होता जा रहा था।

: २४ :

प्राथमिक समझौता

इस तरह दिन बदिन समझौते के लिए अनुकूल वायुमण्डल होता जा रहा था। एण्ड्यूज़ और मैं प्रिटोरिया पहुंचे, उसी समय सर बेंजमिन रॉबर्टसन भी, जिन्हें कि लॉर्ड हार्डिंज ने एक स्पेशल स्टीमर में भेजा था, वहां पहुंचने वाले थे। पर जनरल स्मट्स ने मुलाकात के लिए जो दिन मुकर्रर किया था उसी दिन हमें वहां पहुंच जाना जरूरी था। इसलिए सर बेंजमिन की बिना ही राह देखे हम चल पड़े थे। राह देखने की कोई आवश्यकता भी नहीं थी। युद्ध का अंत तो हमारी शक्ति के अनुसार ही होने वाला था।

हम दोनों प्रिटोरिया तो पहुँचे। पर जनरल स्मट्स से अकेले मुझी को मुलाकात करनी थी। वे रेलवे के गोरे कर्मचारियों की हड़ताल के काम में मग्न थे। यह हड़ताल भी ऐसी भयंकर थी कि यूनियन सरकार को फौजी कानून जारी करना पड़ा था इन कर्मचारियों का उद्देश केवल अपनी मजदूरी बढ़ाना ही नहीं था। वे तो सत्ता को भी अपने हाथों में ले लेना चाहते थे। मेरी पहिली भेंट बहुत छोटी थी। पर मैंने देखा कि कूच करने से पहिले जनरल स्मट्स की जो स्थिति थी, वह आज नहीं थी। पाठकों को स्मरण होगा कि उस समय तो उन्होंने बातचीत करने से भी

इन्कार कर दिया था। सत्याग्रह की धमकी तो जिस प्रकार उस समय थी, ठीक वैसी ही अब भी कायम थी। पर फिर भी इन्होंने वसीठी करने देने से इन्कार कर दिया था। इस बार तो वे सलाह लेने तक को तैयार थे।

भारतीयों की मांग तो यह थी कि इनकी तरफ से भी कमिशन में किसी की नियुक्ति होनी चाहिए। पर इस बात पर जनरल स्मट्स मजबूत थे। उन्होंने कहा "यह तो हो ही नहीं सकता। उससे सरकार की प्रतिष्ठा कम हो जायेगी, और दूसरे, मैं जो सुधार करना चाहता हूँ वह मैं नहीं कर सकूंगा। आप जानते हैं कि मि० एसलन हमारे आदमी हैं। सुधार करने के विषय में वे सरकार के प्रतिकूल मत नहीं दे सकते बल्कि अनुकूल ही हो जावेंगे। कर्नल वायली नेटाल के प्रतिष्ठित मनुष्य हैं इसके अलावा वे आप लोगों के विरोधी माने जाते हैं। इसलिये यदि वे हमारा भी तीन पौंडका कर उठा लेने के पक्ष में अपना मत दे देंगे तो काम बड़ा सरल हो जायगा। इस समय हम ऐसी कठिनाइयों में फंसे हैं कि दम मारने तक की फुरसत नहीं है। इसलिये स्वयं हम ही चाहते हैं कि आपके मामले का एक बारगी अंतिम फैसला हो जाय। आप जो चाहते हैं वही देने का प्रस्ताव हमने स्वीकृत कर लिया है। पर बिना कमिशन की सम्मति के वह दिया नहीं जा सकता। आप की स्थिति को भी मैं समझ सकता हूँ। आप तो यह प्रतिज्ञा किये बैठे हैं कि जब तक हम आपके पक्ष के किसी आदमी को कमिशन में शामिल नहीं कर लेंगे, तब तक आप कोई सबूत नहीं देंगे। भले ही आप न दें। पर जो देना चाहें उनको रोकने के लिये कोई आन्दोलन न कीजियेगा। तब तक तो सत्याग्रह को भी स्थगित करना होगा। मेरा तो ख्याल है कि आप ऐसा करेंगे तो आपका लाभ ही होगा और हमें भी शांति मिलेगी।

आपका कहना है कि हड़तालियों पर जुल्म हुआ है। पर आप इस बात को सिद्ध नहीं कर सकेंगे। क्योंकि आप तो कोई सबूत ही देना नहीं चाहते। इसलिये इस बात का भी आपको पूरा विचार कर लेना चाहिये।"

इस तरह की बात चीत जनरल स्मट्स ने की। मुझे तो यह सब अनुकूल ही मालूम हुआ। एक धर्म-संकट जरूर था। हमने सिपाहियों और दारोगाओं के जुल्म की जो शिकायतें की थीं उनको सिद्ध करने का सुयोग बहिष्कार की प्रतिज्ञा के कारण हमें नहीं मिल सकता था। पर इस विषय मे हमारे बीच मतभेद भी था। एक पक्ष का कहना था कि सिपाहियों पर जिन बातों का आरोप किया गया है वे भारतीयों की तरफ से साबित हो जाना बहुत जरूरी है। इसलिए उनकी यह सूचना थी कि यदि कमिशन के सामने हम अपना सबूत पेश नहीं कर सकते तो हमें उन लोगों के खिलाफ इस रूप में फरियादें प्रकाशित करना चाहिये कि जिससे यदि वे (अभियुक्त) चाहें तो हम पर आबरू नुकसानी का दावा कर सकें। मैं इस पक्ष का विरोधी था। बहुत सम्भव है कमिशन अपना निर्णय सरकार के प्रतिकूल नहीं देगा फिर लाइबेल (आबरू नुकसानी की फरियाद) पेश करने मे जितनी बातें प्रकट करने मे कौम को बहुत भारी झंझटों मे पड़ना पड़ता फिर इसका परिणाम क्या होता? यही कि हमारी फरियाद सिद्ध होगई, इस बात का सन्तोष। फिर एक वकील होने के कारण मैं उन कठिनाइयों को भी जानता था जो लाइबेल सिद्ध करने में उपस्थित हो सकती थीं। पर सब से जबरदस्त दलील तो मेरे पास यह थी कि सत्याग्रही को तो दुःख ही सहना था। सत्याग्रह शुरू करने के पहिले हम इस बात को जानते थे कि उसमे हमें मरणांत दु:ख तक सहन करना होगा और इसके लिये हम तैयार भी

थे। फिर अब उन दु:खों को साबित कर देने मे कोई विशेषता नहीं रह जाती। बदला लेने की वृत्ति तो सत्याग्रही मे होनी ही नहीं चाहिये। इसलिए अपने दु खों को सिद्ध कर देने मे जहां असाधारण कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा हो वहा ठीक तो यही है कि वह शांत रहे। सत्याग्राही तो असल बात के लिये लड़ता है, और वह था कानून। जहाँ उसके रद होने अथवा उसमें आवश्यक परिवर्तन होजाने की भी सभावना है तो फिर सत्याग्रही दूसरे झंझटों मे पड़ेगा क्यों? दूसरे, कानून के विरोध में उसने जो युद्ध ठान दिया है उसमें सत्याग्रही का मौन भी तो अवश्य समझौते के समय मददगार होगा। इन दलीलों से विरोधी पक्ष के एक बड़े हिस्से को मैं समझा सका। आखिर यही निश्चय हुआ कि दु:खों की कानूनन फरियाद को साबित करने की बात को छोड़ दिया जाय।

: २५ :

पत्र व्यवहार

प्राथमिक समझौते के लिये जनरल स्मट्स और मेरे बीच पत्र व्यवहार शुरू हुआ। मेरे पत्र का आशय इस प्रकार था ?—

"आपकी सूचनानुसार हम अपनी प्रतिज्ञा के कारण कमिशन की सहायता नहीं कर सकेंगे। इस प्रतिज्ञा को आप समझ सकते हैं और उसकी कद्र भी करते हैं। आप भारतीयों के साथ सलाह मशविरा करने के तत्व को कबूल करते हैं। इसलिये मैं अपने देश भाइयों को यह सलाह अवश्य दे सकता हूं, कि वे कमिशन में सबूत पेश करने के अतिरिक्त अन्य प्रकार से उसकी सहायता कर सकते हैं। कम से कम वे उसके काम में रोड़े अटकाने से तो जरूर बाज आवें। मैं उन्हें यह सलाह भी दे सकूंगा कि जब तक कमिशन जारी है और नवीन कानूनों का विधान नहीं होजाता तब तक सरकार को आपत्ति में न डाला जाय इस ख्याल से वे सत्याग्रह को भी मुलतवी रक्खें। भारत के बड़े लाट महोदय के भेजे सर बेंजामिन रॉबर्टसन् की सहायता करनेके लिये भी उनसे मैं सिफारिश कर सकता हूं। मुझे कहना होगा कि हम अपनी प्रतिज्ञाके कारण उन दुःखों को कमिशन के सामने सबूत पेशकरके साबित नहीं कर सकेंगे जिन्हें हमने जेल में और हड़तालों के दिनों में झेला है। सत्याग्रही की हैसियत से हम से जहां तक होगा हम अपने

कष्टों की न तो शिकायत करेंगे, और न इनके बदले की ही इच्छा करेंगे। परहमारे इस समय के इस मौन का कहीं यह अर्थ न लगा लिया जाय कि उन्हें सिद्ध करने के लिए हमारे पास कोई सामग्री ही नहीं है। मैं चाहता हूं कि आप हमारी स्थिति को भी समझ लें। इसके अतिरिक्त चूंकि हम सत्याग्रह को मुलतवी करने के लिए तैयार हैं, उस अवस्था में इस युद्ध के कारण जो लोग आप की कैद में हैं वे भी छोड़ दिये जायँ। हम लोग जो जो बातें चाहते हैं उन्हें मैं संक्षेप मे नीचे लिख देना आवश्यक समझता हूँ।

(१) तीन पौंड का कर उठा लिया जाय।

(२) हिन्दू, इस्लाम इत्यादि धर्मों की विधि के अनुसार किये गये विवाह कानूनन समझे जायं।

(३) शिक्षित भारतीय इस देश मे प्रवेश पा सकें।

(४) ऑरेञ्जिया के विषय में जो इकरार हुए हैं उनमें सुधार किया जाय।

(५) यह विश्वास दिलाया जाय कि प्रचलित कानूनों पर इसी प्रकार अमल किया जायगा जिससे वर्तमान अधिकारों के हक मे कोई हानि न हो।

इन बातों का संतोषप्रद उत्तर मिलने पर मैं कौम को सत्याग्रह मुल्तवी रखने के लिए सलाह दे सकूंगा।"

यह पत्र १९१४ की जनवरी की २१ वीं तारीख को मैंने लिखा था। उसी दिन उनका उत्तर भी मिल गया। आशय यह था.—

"यह जानकर सरकार को दुःख हुआ कि आप कमिशन में बयानी नहीं दे सकेंगे। पर वह आपकी स्थिति को समझ सकती है। आप अपने कष्टों वगैरा विषयक बात छोड़ देना चाहते हैं इसके हेतु को भी सरकार समझे हुए है। पर जब आप उस

विषय में कोई सबूत ही देना नहीं चाहते तो सरकार के लिए भी तो इस विषय में कुछ करने योग्य नहीं रह जाता। सत्याग्रही कैदियों को छोड़ने का हुक्म तो आप का पत्र मिलने के पहिले ही सरकार दे चुकी है। कोमी दु:खों के विषय मे आपने जो उल्लेख किया है उस विषय में सरकार तब तक कुछ न कर सकेगी जब तक कि कमिशन अपनी रिपोर्ट पेश नहीं कर देता।"

इन दोनों पत्रों का लेनदेन होने के पहले हम दोनों जनरल स्मट्स को कई बार मिल चुके थे। पर इस बीच सर बेंजामिन रॉबर्ट्सन भी प्रिटोरिया जा पहुंचे थे। यद्यपि सर बेंजामिन लोकप्रिय माने जाते थे, और गोखलेजी की सिफारिश भी लाये थे, तथापि मैंने देखा कि वे एक मामूली अंगरेज अधिकारी की कमजोरियों से एक दम मुक्त नहीं थे। वहां पहुँचते ही उन्होंने कौम में भेद-नीति का विष बोना और सत्याग्रहियों को डराने का काम शुरू कर दिया। प्रिटोरिया की पहली मुलाकात में मुझ पर उनका अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। डराने के विषय में मुझे जो तार मिले थे उनका जिक्र भी मैंने उनसे किया था। मुझे तो सबके साथ एक ही रीति से, अर्थात् स्पष्टता तथा निस्पृहता पूर्वक काम लेना था। इसलिए हम मित्र हो गये! पर मैंने ये कई बार अनुभव किया कि डरने वाले को तो अधिकारी डराते ही रहते हैं। और सरल तथा निडर मनुष्य से सीधो तरह पेश आते हैं।

इस तरह प्राथमिक समझौता हो गया। और आखिरी बार सत्याग्रह मुल्तवी किया गया। कई अंगरेज मित्र खुश हो गये, और अन्तिम समझौते में सहायता करने का उन्होंने मुझे आश्वासन भी दिया। कौम से यह समझौता मंजूर करा लेना जरा मुश्किल था। सबको यही आशंका थी कि जागा हुआ उत्साह कहीं फिर न सो जाय। फिर जनरल स्मट्स पर अब लोग क्यों

विश्वास करने चले ? अनेकों ने १६०८ के समझौते की याद दिला दिला कर कहा "जो जनरल स्मट्स पहले एक बार कौम के साथ विश्वासघात कर चुके हैं, जो सत्याग्रह में नवीन शर्तें शामिल करने का आरोप आप पर मढ़ चुके हैं, जिन्होंने कौम पर विपत्ति के महान् महान् पर्वत ढाहे हैं, क्या आप उन्हें फिर भी अभी तक नहीं समझ सके ? कैसे दु:ख की बात है ? यह आदमी फिर आप के साथ विश्वासघात करेगा और फिर आप सत्याग्रह का राग आलापेंगे किन्तु तब आप पर कौन विश्वास करेगा ? यह कैसे हो सकता है कि लोग बार बार जेल जावें, और फिर बार बार धोखा खावें ? जनरल स्मट्स जैसे आदमी के साथ तो केवल एक ही समझौता हो सकता है। और वह यही की हम जो कुछ भी चाहते हैं वह दे दे। उससे वचन न लिये जायं। जो वचन दे कर फिर उन्हें तोड़ देता है उसे उधार भी कोई कैसे देगा" ? मैं जानता था कि इसी प्रकार की दलीलें कई जगह पेश की जावेंगी। इस लिए मुझे कोई आश्चर्य नहीं हुआ। सत्याग्रही के साथ चाहे कितनी ही बार विश्वासघात किया जाये वह तब तक बराबर वचनों पर विश्वास करता जायगा जब तक कि उसे इसके विपरीत कोई ऐसे ही बलवान कारण नहीं मिल जावेंगे। जिसने दु:ख को ही सुख समझ लिया है, वह केवल दु:ख के भय से ऐसी जगह अविश्वास न करेगा, जहां अविश्वास करने के लिए कोई कारण न हो। बल्कि वह तो अपनी शक्ति पर विश्वास रखकर इस बात की चिंता ही न करे कि कहीं विरोधी पक्ष फिर विश्वासघात न कर जाय। वह तो वचनों पर बराबर विश्वास करता हुआ आगे बढ़ता जायेगा, चाहे कितनी ही बार उसके साथ विश्वासघात क्यों न हो; और यह करते हुए वह यही ख्याल रक्खेगा कि इसी तरह सत्य का बल बढ़ता जायगा और विजय नजदीक आवेगी। इस

गए स्थान स्थान पर सभायें करके मैं लोगों के द्वारा उस समझौते को मंजूर करा सका। लोग भी सत्याग्रह का रहस्य विशेष रूप से समझने लग गये। इस बार के समझौते मे श्री एण्ड्रूज मध्यस्थ और साक्षी थे। उसी प्रकार वाईसराय के राजदूत की हैसियत से सर बेंजामिन रॉबर्टसन भी थे। अर्थात् यह समझौता मिथ्या होने की बहुत ही कम भीति थी। यदि मैं हठ पर चढ़ जाता और इस समय समझौता नहीं करता तो उलटा कौम का ही दोष समझा जाता, और जो विजय छः महीने बाद हमें मिली उसके मिलने में अनेक प्रकार के विघ्न खड़े हो जाते। 'क्षमा वीरस्य भूषणम्' वाला वाक्य इसी प्रकार के अनुभवों से लिखा गया है, जिनमें सत्याग्रही किसी को उंगली तक बताने का कारण नहीं देता। अविश्वास भी डर की निशानी है। सत्याग्रह में अवश्य ही निर्भयता है। निर्भय को डर कैसे हो सकता है? फिर जहां विरोधी के विरोधको जीतना है, विरोधीका नाश नहीं करना है तहा अविश्वास क्यों?

इसलिए कौम के समझौता मंजूर करने के बाद अब केवल यूनियन पार्लियामेन्ट की राह देखना बाकी रह गया। तब तक वह कमिशन तो जारी ही था। उसमे भारतीयों की तरफ से बहुत कम गवाह गये। यह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण था कि कौम पर सत्याग्रह का कितना प्रभाव था। सर बेंजामिन रॉबर्टसन ने कई भारतीयों को साक्षी देने के लिए समझाया। पर जो इने गिने सत्याग्रह के कट्टर विरोधी थे, उनको छोड़ कर शेष सब अटल रहे। इस बहिष्कार का प्रभाव जरा भी खराब नहीं हुआ। कमिशन का काम कम हो गया। और रिपोर्ट फौरन प्रकाशित हो गई। रिपोर्ट मे कमिशन के सभ्यों ने इस बात पर जरूर सख्त टीका की थी कि भारतीयों ने कमिशन की सहायता नहीं की। सिपाहियों के दुर्व्यवहार वाले आरोप को भी बिलकुल उड़ा दिया गया। पर उसने

उन सब बातो के देने की सिफारिश की, जिन्हे भारतीय चाहते थे। तीन पौंड वाला कर बिलकुल उठा लिया जाय, दूसरे विवाह के विषय में भी भारतीयों की बात को मान लेना चाहिए। इत्यादि अन्य भी कई छोटी छोटी बातें देने तथा यह सब बहुत शीघ्र कर डालने की सिफारिश उसने की। इस तरह जनरल स्मट्स के कथनानुसार कमिशन ने अपनी रिपोर्ट भारतीयों के अनुकूल ही दी। मि० एण्ड्र्यूज इंग्लैण्डके लिए रवाना हुए। उसी प्रकार सर बेंजामिन रॉबर्ट्सन भी चले गये। हमे भी यह विश्वास दिलाया गया कि कमिशन की रिपोर्ट के अनुसार ही कानून भी बनाया जायगा। अब हम यह अगले प्रकरण मे देखेंगे कि वह कानून कौनसा था और किस तरह बनाया गया था।

: २६ :

युद्ध का अन्त

कमिशन की रिपोर्ट के कुछ ही समय बाद उस कानून का मसविदा यूनियन गजट में प्रकाशित किया गया जिसके अनुसार सुलह होने को थी। इस मसविदे के प्रकाशित होते ही मुझे केप टाउन जाना पड़ा। यूनियन धारा-सभा की बैठकें वहीं होती थीं— अब भी वहीं होती हैं। इस बिल में नौ धारायें है। पूरा बिल 'नवजीवन' के दोनों स्तम्भों मे समा सकता है। उसका एक भाग भारतीयों के विवाह से सम्बन्ध रखता है। इसके अनुसार वे सब विवाह दक्षिण आफ्रिका में कानूनन करार दे दिये गये जो भारतवर्ष में कानूनन समझे जाते हैं। पर इसके अनुसार किसी की भी एक से अधिक पत्नियां एक ही समय कानूनन नहीं समझी जावेंगी। दूसरे भाग के द्वारा वह तीन पौंड वाला कर रद्द हो गया जो स्वतन्त्र भारतीय की हैसियत से वहां रहने वाले प्रत्येक गिरमिटिया को प्रतिवर्ष देना पड़ता था, तीसरे भाग मे दक्षिणी आफ्रिका में रहने वालों को दिये गये प्रमाण-पत्रों का महत्व बताया गया है। अर्थात् उसमें यह बताया गया है कि जिनके पास वह प्रमाण-पत्र हो उसको दक्षिणी आफ्रिका मे रहने का हक उस प्रमाण पत्र के द्वारा कहां तक सिद्ध होता है। इस विचार पर

यूनियन पार्लियामेन्ट में खूब और मीठी चर्चा हुई। अन्य बातें, जिनके लिए कानून की आवश्यकता नहीं थी, जनरल स्मट्स और मेरे बीच के पत्र-व्यवहार द्वारा, तय हो गईं। उनमें नीचे लिखी बातों का खुलासा था।

(१) केप कोलोनी में शिक्षित भारतीयों के प्रवेश और निवास के हक़ की रक्षा।

(२) दक्षिणी अफ्रिका में दाखिल होनेके लिए खास इजाजत किन्हें किन्हें दी जाय ?

(३) सन् १९१४ के पहले दक्षिणी अफ्रिका में प्रवेश पा चुकने वाले शिक्षित भारतीयों के विषय मे, और

(४) जिसने एक से अधिक स्त्रियों से शादी कर ली है उसे बराय मिहरबानी अपनी अन्य स्त्रियों को लाने की इजाजत दे दी जाय, इस विषय मे।

जनरल स्मट्स के पत्र में एक और बात भी है। "वर्तमान कानूनों के विषय में यूनियन सरकार ने हमेशा यही चाहा है और अब भी चाहती है कि उन पर न्याय पूर्वक और वर्तमान स्वत्वों की रक्षा करते हुए ही अमल किया जाय" यह पत्र जून सन्१९१४ की ३० वीं तारीख को लिखा गया था। उसी दिन मैंने जनरल स्मट्स को एक पत्र लिखा जिसका आशय इस प्रकार था।

"आपका आज ही का लिखा पत्र मुझे मिल गया। जनरल स्मट्स ने शांति और विनय पूर्वक मेरी बातों को सुन लिया। इस लिए मैं उनका एहसानमन्द हूँ। भारतीयों के साथ रिआयत करने वाला कानून और हमारा यह पत्र-व्यवहार सत्याग्रह-युद्ध को समाप्त करता है। यह युद्ध सन् १९०६ के सितम्बर में शुरू हुआ था। इसके कारण भारतीयों को अनेकों कष्ट और आर्थिक मुसी-

बतों का सामना करना पड़ा। सरकार को भी इसके कारण बड़ी चिंता मे पड़ना पड़ा। प्रधान मंत्री महाशय जानते हैं कि मेरे कितने ही भाई इससे कहीं अधिक बातें मांग रहे थे। भिन्न भिन्न प्रान्तों मे व्यापार करने के परवानों के विषय में कानून, मसलन ट्रान्सवाल का 'गोल्ड लॉ', 'ट्रान्सवाल टाऊन शिप्स एक्ट' तथा सन् १८८५ का ट्रान्सवाल का नं० ३ का कानून,—वगैरा में ऐसा कोई परिवर्तन नहीं किया गया जिसके कारण रहने वगैरा विषय के सम्पूर्ण हक़, व्यापारी स्वतन्त्रता, और जमीन की मालिकी का हक़ भी हमें मिल जावें, इसलिए वे असंतुष्ट हो गये हैं। कितने ही तो इसी बात पर असंतुष्ट हो गये है कि उन्हें एक प्रांत से दूसरे प्रात में आने की पूरी स्वाधीनता नहीं मिली है। कई इस-लिए नाराज़ हैं कि भारतीयो के साथ रिआयतें करने वाले विवाह विषयक कानून में विवाह के विषय में जो कुछ किया गया है इससे कुछ अधिक करने को जरूरत थी। और वे सब चाहते थे कि मैं इन बातों को सत्याग्रह के उद्देश के अन्दर शामिल करलूं पर मैंने उनकी बातों को मंजूर नहीं किया। इसलिए यद्यपि सत्या-ग्रह के उद्देशों मे इन बातों को सम्मिलित नहीं किया गया है, तथापि इस बात से तो कदापि इन्कार नहीं किया जा सकता कि किसी दिन सरकार को इन बातों पर भी विचार करके उनको न्याय देना चाहिए। जब तक यहां बसने वाले भारतीयों को नागरिकत्व के सम्पूर्ण हक नहीं दिये जावेंगे; तब तक पूरे संतोष की आशा ही नहीं की जा सकती। अपने भाइयों को मैंने कह दिया है कि आपको शांति रखनी चाहिए। और प्रत्येक उचित साधन के द्वारा लोकमत को इतना जागृत कर देना चाहिए कि भविष्य की सरकार उन बातो से भी आगे बढ़ जाय जिनका कि इस पत्र-व्यवहार मे उल्लेख किया गया है। मुझे आशा है

कि जब दक्षिणी अफ्रिका के गोरे इस बात को समझने लग जावेंगे कि अब तो भारतवर्ष से गिरमिटिया मजदूरों का आना बंद हो गया है, तथा दक्षिणी अफ्रिका मे नवीन आने वालों के संबध मे जो कानून स्वीकृत हो गया है उसके अनुसार स्वतंत्र भारतीयों का आना भी लगभग बंद सा ही होगया है, और साथ ही जब वे यह भी जान लेंगे कि भारतीय यहा के राज्य-कार्य में भी हस्तक्षेप करने की कोई महत्वाकांक्षा नहीं रखते, तब तो वे भी इस बात को महसूस करने लग जावेंगे कि उपर्युक्त स्वत्व उन्हें जरूर ही देना चाहिए, और उसी मे न्याय भी है। इस प्रश्न को हल करने मे पिछले कुछ महीनों से सरकार ने जिस उदार नीति का अवलम्बन किया है, वह यदि वर्तमान कानूनों पर अमल करते समय भी इसी प्रकार कायम रही, जैसा कि आपके पत्र में लिखा है, तो मुझे विश्वास है कि समस्त यूनियन भर में भारतीय जनता कुछ शांतिपूर्वक रह सकेगी, और वह सरकार की अशांति का भी कारण न होगी।

उपसंहार

इस तरह आठ वर्ष के बाद सत्याग्रह का यह महान् युद्ध समाप्त हुआ। और मालूम होने लगा कि समस्त दक्षिणी अफ्रिका मे बसने वाले भारतीयों को शान्ति मिली। दु:ख तथा हर्ष के साथ मैं इंग्लैण्ड मे गोखलेजी से मिल कर भारतवर्ष को लौटने के लिए दक्षिणी अफ्रिका से निकल पड़ा। जिस दक्षिणी आफ्रिका मे मैंने २१ वर्ष निवास किया और असख्य कड़ुवे तथा मीठे अनुभवों को प्राप्त किया, साथ ही जहां मैंने अपने जीवनोद्देश का दर्शन किया, उस देश को छोड़ते हुए मुझे बड़ा दु:ख हुआ और कुछ अनिच्छा भी मालूम हुई। हर्ष मुझे इस विचार से हुआ कि अब मुझे कई वर्षों मे भारतवर्ष लौट कर गोखले की छत्रच्छाया मे सेवा करने का सद्भाग्य प्राप्त होगा।

उस लड़ाई का इस तरह सुन्दर अन्त हुआ। किन्तु उसके साथ दक्षिणी अफ्रिका के भारतीयों की वर्तमान अवस्था की जब हम तुलना करते हैं तब क्षण भर के लिए दिल मे यही प्रश्न उठता है कि इतना दु:ख और कष्ट हमने क्यों उठाया होगा? अथवा सत्यग्राह जैसे शस्त्र की फिर कौन विशेषता रही? इस प्रश्न के उत्तर पर भी यहां विचार करलेना जरूरी है। सृष्टि का यह एक अटल नियम है कि जो वस्तु जिस साधन से प्राप्त होती है उसी साधन से उसकी रक्षा भी होती है। सत्य से संप्राप्त

वस्तु का संग्रह भी सत्य से ही हो सकता है। अर्थात् यदि दक्षिणी अफ्रिका के भारतीय आज ही सत्याग्रह का उपयोग कर सकें, तो आज ही वे सुरक्षित हो सकते हैं। यह विशेषता तो सत्याग्रह में भी नहीं है कि सत्य के द्वारा प्राप्त की गई वस्तु की रक्षा सत्य को छोड़ देने पर भी की जा सकती हो। किन्तु यदि यह सम्भव हो तो भी वह इष्ट नहीं माना जा सकता। इसलिये आज यदि दक्षिणी अफ्रीका के भारतीयों की अवस्था बिगड़ी हुई है तो इसका कारण हमे यही समझ लेना चाहिए कि वहां सत्याग्रहियों का अभाव है। यह कथन आजकल के भारतीयों के दोष को सूचित नहीं करता, बल्कि यह तो केवल वहां की वस्तु-स्थिति का दर्शकमात्र है। व्यक्ति अथवा समुदाय उस वस्तु को कहाँ से ला सकता है जो उसमें हुई नहीं ? सत्याग्रही सेवक तो एक के बाद एक चल दिये। सोराबजी, काछलिया, नायडू, पारसी रुस्तमजी आदि की मृत्यु के कारण अनुभवियों में से बहुत ही कम लोग रह गये हैं। जो बचे हैं वे अबतक भी जूझते ही हैं। और मुझे तो इसमें जरा भी संदेह नहीं है कि यदि उनमें सत्याग्रह होगा तो वे भी जरूर ही कौम को बचालेंगे।

अन्त में, इन प्रकरणों को पढ़ने वाले पाठक इस बात को तो जान गये होंगे कि यदि यह महान युद्ध नहीं छेड़ा जाता, यदि अनेकों भारतीय उन कष्टों और मुसीबतों को न उठाते, जिन्हें उन्होंने इस अप्रतिम युद्ध में उठाया, तो आज दक्षिणी अफ्रिका मे भारतीयों के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता। इतना ही नहीं, बल्कि दक्षिणी अफ्रिका की इस विजय के कारण अन्य उपनिवेशों में रहने वाले भारतीयों की भी न्यूनाधिक परिमाण में रक्षा ही हुई। यदि दूसरे उपनिवेश अपनी रक्षा न कर सके तो यह सत्याग्रह का दोष नहीं कहा जायगा। बल्कि कहना होगा कि उन उप-

निवेशों मे सत्याग्रह का अभाव है, और साथ ही यह भी सिद्ध होगा कि भारतवर्ष में भी उनकी रक्षा करने की शक्ति का अभाव है। सत्याग्रह एक अमूल्य शस्त्र है। उसमें निराशा अथवा पराजय के लिए तो स्थान ही नहीं है। यह बात यदि न्यूनाधिक अंश में भी इस इतिहास में सिद्ध हो गई हो तो मैं अपने को कृतार्थ समझूँगा।

समाप्त

महात्मा गांधी द्वारा लिखित पुस्तकें

१.	आत्मकथा		१), १।।)
२.	द० अ० का सत्याग्रह (दो भाग)		१।)
३.	अनीति की राह पर	..	।।=)
४.	ब्रह्मचर्य	...	।।)
५.	अनासक्ति योग	..	=), ≡), ।)
६.	गीता-बोध	..	—)
७.	मंगल प्रभात	...	—)
८.	हमारा कलंक	...	।।=)
९.	सर्वोदय	...	—)
१०.	हिन्द-स्वराज्य	...	≡)
११.	ग्राम-सेवा	...	=)
१२.	स्वदेशी : ग्रामोद्योग	...	।।)
१३.	सत्याग्रह क्यों, कब, कैसे ?	...	≡)
१४.	सत्यवीर सुकरात	...	—)

अन्य गांधी-साहित्य

१. गांधी-विचार-दोहन ॥)

(किशोरलाल मश्रुवाला)

२. बापू— ॥=), १।), २)

(घनश्यामदास बिड़ला)

३. गांधीवाद : समाजवाद ॥)

(सम्पादक : काका कालेलकर)

४. गांधी-अभिनन्दन ग्रन्थ १।), २)

(सम्पादक : सर राधाकृष्णन)

५. महात्मा गांधी ।=)

(रामनाथ 'सुमन')

६. इंग्लैंड में महात्माजी ॥)

(महादेव देसाई)